उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MASY-01
भारतीय सामाजिक विचारधारा

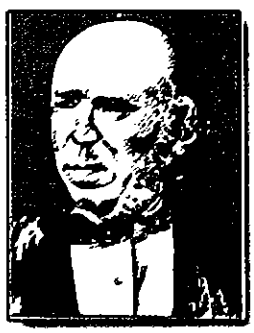

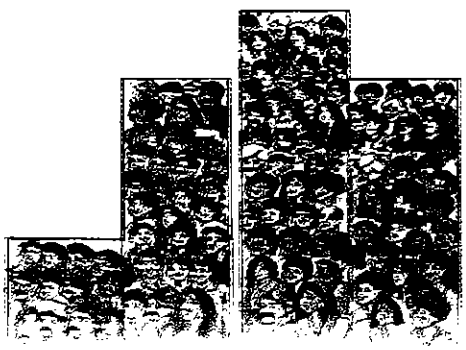
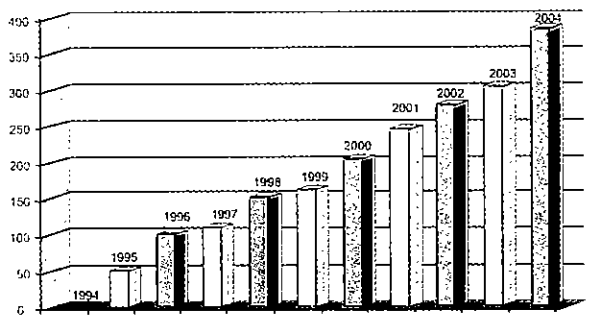

प्रथम खण्ड : भारत में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास
द्वितीय खण्ड : मनु और कौटिल्य
तृतीय खण्ड : श्री अरविन्द
चतुर्थ खण्ड : महात्मा गाँधी
पंचम खण्ड : जय प्रकाश नारायण व आचार्य नरेन्द्र देव

खण्ड

1

भारत में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास

इकाई 1

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई 2

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन की वैचारिक पृष्ठभूमि एवं विकास

इकाई 3

भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक

इकाई 4

भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम

इकाई 5

भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन के केन्द्रीय मुद्दे एवं क्षेत्रीय अध्ययन

इकाई 6

भारतीय समाजशास्त्र एवं नव समाजशास्त्रीय विमर्श

सन्दर्भ सूची

खण्ड परिचय : भारत में समाजशास्त्र का उदभव एवं विकास

वस्तुत: प्रत्येक विषय का उदय किसी विशेष परिवेश के स्वरूप और स्तर से जुड़ा होता है, और उसी परिवेश से उस विषय के मुख्य विचारों को आकार मिलता है। समाज व्यवस्था में परिवर्तन के साथ विषय को भी नए आयाम मिलते हैं। भारत में समाज पर नैतिक विचारों के प्रभाव की समृद्धशाली परम्परा रही है। भारत में एक विशिष्ट विषय के रूप में समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव के पूर्व, प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक, सामाजिक विचारों की दीर्घ परम्परा है। इन विचारों पर धर्म, दर्शन और आचारशास्त्र का प्रभाव है। सन 1920 ई0 के बाद भारत में समाजशास्त्रीय विचारों की परम्परा विकसित होती है। विभिन्न बौद्धिक धाराओं की पृष्ठभूमि में आधुनिक समाजशास्त्र का विकास हुआ, और उसकी विषयवस्तु का निर्धारण हो सका। इसे निश्चित बौद्धिक दिशा देने में विनय मोहन सरकार, पैट्रिक गिड्स, जी. एस. घुरिये, राधाकमल मुखर्जी और डी. पी. मुखर्जी, का महत्वपूर्ण योगदान है। मानव विज्ञान के आरम्भिक अध्ययनकर्ताओं में एस.सी.राय, बी. एन. दत्त, रिजले तथा हट्टन के नाम उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर समाजशास्त्र के पठन-पाठन का आरम्भ इसी बौद्धिक पृष्ठभूमि के बीच से हुआ। भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना के लगभग सात दशक बाद समाजशास्त्र का अध्यापन वि. वि. स्तर पर प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम 1914 ई0 में बम्बई वि.वि. में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य प्रारम्भ हुआ, भारतीय वि. वि. में समाजशास्त्र के प्रवर्तकों में पैट्रिक गिड्स और जी. एस. घुरिये (बंबई) राधाकमल मुखर्जी और डी. पी. मुखर्जी (लखनऊ) वाडिया (मैसूर) का नाम उल्लेखनीय है।

इस खण्ड की **इकाई** 1 में भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है।

इस इकाई में इस बात पर विचार किया गया है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारों में सामाजिक एवं समाजशास्त्रीय पुट कहाँ-कहाँ मिलता है। उपनिवेशवाद ने किस तरह सामाजिक सर्वेक्षणों के माध्यम से समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि पैदा की। सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों ने समाजशास्त्र के उदय के लिए किस तरह सकारात्मक भूमिका का निर्वाहन किया ।

काई 2 में भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि और विकास के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई में स्वतन्त्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय विचारधारा, परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व, तथा स्वतंत्रता पश्चात् की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। समाजशास्त्र का एक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विषय के रूप में विकास किस प्रकार हुआ है, इस पर भी ध्यान दिया गया है।

काई 3 में भारत में समाजशास्त्र के संस्थापकों तथा उनके योगदान के बारे में विश्लेषण किया गया है। अर्थात् प्रो. राधाकमल मुखर्जी, प्रो. डी. पी. मुखर्जी, प्रो. जी. एस. घुरिये के जीवनवृत्त और कृतित्व की चर्चा की गई है।

काई 4 में भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागमों के बारे में बताया गया है अर्थात् सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण के लिए माडल या पैराडाइम की आवश्यकता होती है, यहाँ पर उनकी व्याख्या की गई है।

काई 5 का शीर्षक 'भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन के केन्द्रीय मुद्दे एवं क्षेत्रीय अध्ययन' हैं।

इसमें सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में किये गये क्षेत्र अध्ययनों को संकलित किया गया है तथा उनके निष्कर्षों पर भी चर्चा की गई है।

इस खण्ड की **इकाई 6** में 'भारतीय समाजशास्त्र एवं नव समाजशास्त्रीय विमर्श' पर समाज शास्त्रीय विवेचन एवं व्याख्या की गई है।

उन सभी मुद्दों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है, जो भारतीय समाज तथा भारतीय समाजशास्त्र दोनों को उद्वेलित कर रहे हैं।

इस खण्ड के अध्ययन से आपको भारत में समाजशास्त्र के उदय एवं विकास की गहन जानकारी मिलेगी। साथ ही शेष खण्डों को समझने में भी मदद मिलेगी।

लेखक : अनूप कुमार सिंह
प्रवक्ता (समाजशास्त्र)
डी. ए. वी. कालेज, कानपुर

इकाई 1 : भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

.0 उद्देश्य

.1 प्रस्तावना

.2 प्राचीन सामाजिक विचार

1.2.1 वैदिक हिन्दू दर्शन के विचार

1.2.2 जैन और बौद्ध सामाजिक चिंतन

.3 मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम

.4 भारत में समाजशास्त्र का विकास एवं उपनिवेशवाद

1.4.1 औपनिवेशिक प्रशासन और सामाजिक अध्ययन

.5 सामाजिक - धार्मिक आन्दोलन

1.5.1 सुधारवादी आन्दोलन

1.5.2 पुनर्जागरण आन्दोलन

.6 भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष की सामाजिक पृष्ठभूमि

7 सारांश

8 बोध प्रश्न

9 बोध प्रश्नों के उत्तर

.0 उद्देश्य

माज के विविध पक्षों जैसे परिवार, विवाह, वर्ण, आश्रम, गोत्र, धर्म आचार तथा कर्म से सम्बन्धित ंतन की भारत में दीर्घकालीन परम्परा रही है। प्राचीन भारतीय चिंतन धर्म,दर्शन तथा अनुभवाश्रित न की परम्पराएं एक दूसरे से मिली-जुली हैं ।

रत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि प्राचीन दर्शन से गुजरती हुई भारत के स्वतंत्रता र्ष की तथा औपनिवेशिक शासन की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है।

इकाई के अध्ययन के बाद :

- भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि का वर्णन कर सकेंगे।
- मध्यकालीन चिंतन के आयामों का विवरण कर सकेंगे।
- उपनिवेशवाद और समाजशास्त्र के विकास के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारत में समाजशास्त्र का उदय एवं सामाजिक - धार्मिक आन्दोलन की व्याख्या कर सकेंगे।

.1 प्रस्तावना

रत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर इस इकाई में विचार किया गया है। तीय जनसमूह के मनन-चिंतन, रहन-सहन और तौर-तरीकों पर अंग्रेजों के प्रभाव का भी वर्णन या गया है। सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों ने समाज में फैली हुई कुरीतियों और कट्टरपंथी मूल्यों को करने का प्रयास किया। स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं का भी समाज और संस्कृति पर काफी ाव पड़ा।

भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष की सामाजिक पृष्ठभूमि भी, जिसमें सामाजिक न्याय, समानता तथा प्रजातीय विभेद महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय थे ने समाजशास्त्र के आविर्भाव के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

भारत में चिंतन के अन्तर्गत विविधता रही है। भारत में चिंतन की विविधता के मूल में यहाँ का भौगोलिक विस्तार, सभ्यता की प्राचीनता, विभिन्न नृजातीय परम्पराओं तथा विभिन्न धर्मों की विचारधारा का प्रभाव है। इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में इस देश के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म, दर्शन, आचार, साहित्य, समाज तथा राजनीति से सम्बन्धित चिंतन की अविरल परम्परा चलती रही। इस इकाई के **भाग 1.2** में प्राचीन सामाजिक विचार के अन्तर्गत वैदिक हिन्दू दर्शन के आधार तथा जैन और बौद्ध सामाजिक चिन्तन निहित है। **भाग 1.3** का शीर्षक 'मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम' हैं।

भाग 1.4 में भारत में समाजशास्त्र का विकास एवं उपनिवेशवाद के पारस्परिक सहसम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है।

भाग 1.5 में सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन की चर्चा की गयी है।

भाग 1.5.1 में सुधारवादी आन्दोलन एवं **भाग 1.5.2** में पुनर्जागरण आन्दोलन पर प्रकाश डाला गया है।

भाग 1.6 में स्वतंत्रता संघर्ष की सामाजिक पृष्ठभूमि एवं भारत में समाजशास्त्र के अविर्भाव पर प्रकाश डाला गया है।

1.2 प्राचीन सामाजिक विचार

भारतीय सामाजिक चिंतन पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि एक ओर तो विभिन्न क्षेत्रों, नृजातियों, भाषा-भाषियों और धर्मावलम्बियों की अपनी विशिष्टताएं हैं जो उनके चिंतन में दिखाई पड़ती हैं। दूसरी ओर सदियों के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक सम्पर्क, पारस्परिकता तथा अंत: क्रिया के बीच से विनिमय तथा समन्वय की प्रक्रिया भी प्रस्फुटित होती रही है। इसके फलस्वरूप भारत में समान सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक संस्थाएं विकसित हुईं। एक स्थान तथा समय विशेष में विकसित होने पर धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों का सम्पूर्ण देश में दीर्घकालीन प्रभाव पड़ता रहा। एक तरफ निजत्व व वैशिष्ट्य, दूसरी तरफ समन्वय व सम्पर्क दोनों तरह की चिन्तन परम्परा भारत में दिखाई देती है।

भारत में एक विशिष्ट विषय के रूप में समाजशास्त्र के प्रादुर्भाव के पूर्व, प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक, सामाजिक विचारों की लम्बी परम्परा है। 1920 के पश्चात् ही समाजशास्त्रीय परम्परा विकसित हुई, अन्यथा उसके पूर्व के विचारों को सामाजिक तो कह सकते हैं, समाजशास्त्रीय नहीं। कुछ लेखक ऐसे हैं जिनके विचारों को सामाजिक तथा समाजशास्त्रीय दोनों के अन्तरगत देख सकते हैं। जैसे विनय कुमार सरकार, भगवानदास, केवल मोटवानी, पी. एन. प्रभु, ब्रजेन्द्रनाथ शील, प्रो. राजाराम शास्त्री।

भारत के समाजशास्त्रीय चिंतन की परम्परा को कालक्रम से समझने में राधाकमल मुखर्जी, डी. एन. मजूमदार, डी. पी. मुखर्जी, एल. ड्यूमा, ए. के. सरन, एफ. जी. बेली, टी. बी. बाटोमोर, टी. के. उन्नीथान, रामकृष्ण मुखर्जी, योगेन्द्र सिंह, डी. एन. धनोग्रे, योगेश अटल, एस. पी. नागेन्द्र, की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। (धनागरे, 1993)।

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित भारत के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का आदि रूप वेदों में मिलता है। वेदों में आरम्भिक भारतीय जनों-दस्युओं तथा आर्यों के पारस्परिक संघर्ष और सम्पर्क, परिवार, विवाह, कर्मकाण्ड, वर्ण आश्रम आदि का वर्णन है। वैदिक काल में ही भारतीय सामाजिक संरचना के चार प्रमुख स्तरों—वर्ण व्यवस्था, ग्राम समुदाय, कृषि पर आधारित व्यवस्था, और संयुक्त परिवार प्रणाली की नींव

पड़ी।

प्राचीन भारत के सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था थी। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के एक मंत्र में वर्णों की उत्पत्ति का विवरण मिलता है। महाभारत में वर्णों से जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है तथा प्राचीन काल से ही परिवार को समाज की एक अति महत्वपूर्ण संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। 'इसकी महत्ता का अनुभव करते हुए वैदिक युग में शिक्षा समाप्त करने पर प्रत्येक स्नातक को आचार्य यह उपदेश देता था- प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी, (तैत्तरीय उपनिषद 1/11/1) अर्थात सन्तानरूपी तन्तु का विच्छेद मत करो।

भारत में जितनी भी सामाजिक संस्थाएं हैं उनमें हिन्दू-विवाह विशेष उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि उत्तरवैदिक युग से ही एक हिन्दू के जीवन में गृहस्थ आश्रम को बहुत महत्व दिया गया है। मनु ने स्वीकार किया कि जैसे सब वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ आश्रम से जीवन धारण करते हैं।(हुसैन, 1978:33)

1.2.1 वैदिक हिन्दू-दर्शन के विचार

वैदिक हिन्दू-दर्शन में सामाजिक चिन्तन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। वैदिक साहित्य के सूक्ष्म अवलोकन से पता चलता है कि उस समय समाज व्यवस्था काफी उन्नत थी और जीवन के आवश्यक मूल्यों पर चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था। साथ ही उस सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने वाले आवश्यक तत्वों पर भी गम्भीरता से विचार चल रहा था। उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को संचालित कर रही थी। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय का उत्तम उदाहरण है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पुरु षार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता था और अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाज -जीवन को उन्नत बनाने में योग देता था। कुछ विचारकों ने मोक्ष को, हिन्दू जीवन का अन्तिम लक्ष्य होने के कारण, पुरुषार्थ की श्रेणी में नहीं रखा है इसीलिए पुरु षार्थ के संदर्भ में 'त्रिवर्ग' की अवधारणा का विकास हुआ। उस समय व्यक्ति को इतना अधिक महत्व नहीं दिया गया कि वह समाज पर हावी हो जाये, लेकिन समाज को भी इतना अधिक महत्व नहीं दिया गया कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को वह निगल जाये। वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज में स्त्रियों की स्थिति उनके आत्मविकास, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति, आदि विषयों में प्राय: पुरु षों के समान थी। पत्नी के रूप में तो उनकी स्थिति बहुत ऊँची थी।

1.2.2 जैन और बौद्ध सामाजिक चिन्तन

वैदिक संस्कृति धर्म, वर्ण, आश्रम, कर्मकाण्ड, बलि तथा यज्ञ पर आधारित थी। ईसा पूर्व की छठी सदी में वर्ण पर आधारित सामाजिक असमानता, पुरोहितों द्वारा विकसित कर्मकाण्ड की पद्धति, बलि तथा हिंसा के विरूद्ध आवाज उठाई गयी। इनमें महावीर स्वामी एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का नाम महत्वपूर्ण है।

इस तरह जैन और बौद्ध धर्म की विचारधारा और चार्वाक् के भौतिकवादी दर्शन में वैदिक परम्परा से असहमति के स्पष्ट लक्षण उपलब्ध हैं। बौद्ध ग्रन्थों में पहला वर्ण ब्राह्मण नहीं बल्कि क्षत्रिय है जैन ग्रन्थों में वैश्यों को श्रेष्ठ तथा महाजन की संज्ञा दी गयी है। बौद्ध संघों तथा विहारों में वर्ण पर आधारित व्यवस्था या जातिगत असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में पिटक, जातक, पालि बौद्ध और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थ प्रमुख हैं। जातक ग्रन्थों में बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का विवेचन मिलता है। पालि बौद्ध और संस्कृत ग्रन्थों में अशोक महान के समय की समाज

व्यवस्था का, उस समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है।
(पी. एन. प्रभु; 1954)

1.3 मध्यकालीन सामाजिक चिंतन के आयाम

मध्यकाल को हम राजपूत काल एवं मुस्लिम काल दो भागों में बाँट सकते हैं। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक उत्तरी भारत में राजपूतों का शासन रहा। इस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य बने जो परस्पर लड़ते रहते थे। इस युग में धार्मिक कर्मकाण्डों की वृद्धि हुई। उच्च वर्ग का नैतिक पतन हुआ। वे विलासी जीवन जीने लगे। दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा का प्रचलन हुआ। बाल विवाह एवं जौहर का प्रचलन था। विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध एवं सती प्रथा का प्रचलन था। ग्यारवीं सदी में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज चौहान को हराकर मुस्लिम राज्य की नींव डाली।

मध्यकालीन धार्मिक-सामाजिक चिंतन की निम्नलिखित धाराएं मंध्यकालीन भारत में दिखाई पड़ती हैं। पहली धारा के अन्तरगत शास्त्रीय परम्परा से प्रभावित संत प्रचारक, सुधारक आदि हैं। इन लोगों ने स्थापित परम्पराओं को स्वीकार किया। स्थापित और स्वीकृत सामाजिक मर्यादा को शक्तिशाली करना इन संतों का प्रमुख उद्देश्य था।

दूसरी धारा के अन्तर्गत हिन्दू धर्म के उन धार्मिक आन्दोलनों को सम्मिलित किया जा सकता है, जिन्होंने जात-पात, छुआछूत, तथा पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती दी।

क़र्नाटक के वीर शैव और असम के नववैष्णव की परम्पराएं इसी के अन्तरगत आती हैं। बारहवीं सदी में उद्भूत वीर शैव सम्प्रदाय के अधिकतर महंत और पुरोहित गैर ब्राह्मण हैं।

मध्यकालीन चिंतन की तीसरी विचारधारा इस्लाम के शास्त्रीय पक्ष से सम्बन्धित है। मध्यकालीन चिंतन की चौथी धारा सशक्त असहमति और प्रतिरोध की है। इस विचारधारा के लोगों ने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों की धार्मिक कट्टरता, पुरोहितों की संकीर्णता पर प्रहार किया। इसके साथ ही इन लोगों ने दोनों धमों के मानवीय पक्ष निर्गुण एकेश्वरवाद तथा सामाजिक समानता को स्वीकार किया। मध्यकालीन चिंतन की पाँचवी धारा उन असंख्य भक्त एवं कवियों की है, जिन्होंने सारे देश में छुआछूत, जातिगत असमानता और धार्मिक कट्टरता का विरोध किया। इस काल की चिंतन की अंतिम धारा सूफी और फकीरों की थी। ये लोग इस्लाम की विचारधारा से प्रभावित थे।

1.4 भारत में समाजशास्त्र का विकास एवं उपनिवेशवाद

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया उपनिवेशवाद से प्रभावित रही है । सैद्धान्तिक स्तर पर यह प्रश्न अक्सर प्रस्तुत किया जाता है कि क्या समाजशास्त्र काल व देश, समाज व संस्कृति, अतीत व वर्तमान की विशिष्टताओं से प्रभावित होकर एक स्वरूप व चरित्र प्राप्त करता है या ज्ञान की शाखा के रूप में अमूर्तता के उस स्तर पर व्याख्या करता है जो कि सार्वभौमिक होते हैं। इस प्रश्न की व्याख्या इस रूप में करनी चाहिए कि क्या पश्चिमी देशों में एक विषय के रूप में प्रस्थापित समाजशास्त्र - उसके संबोध, सिद्धान्त, आयाम, पूर्व के देशों के लिए उपयुक्त हैं? संदर्भगत यथार्थ की व्याख्या की गहराई क्या उन आयातित सिद्धान्तों व उपागमों के उपयोग से सम्भव है? दूसरा प्रश्न यह है कि सामाजिक यथार्थ की अमूर्तता व मूर्तता के क्या कई स्तर हो सकते हैं? क्या सभी समाज व संस्कृतियां किसी स्तर पर विश्लेषण नहीं अपितु सामान्य ज्ञान के आधार पर भिन्न नहीं हैं? तीसरा प्रश्न इस बात से सम्बन्धित है कि सिद्धान्त व संबोधों के निर्माण में संचयी अनुभव, ज्ञान विरासत - जो कि ऐतिहासिक व शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर होता है क्या उसका उपयोग व समझ पश्चिम के उन विभिन्न उपागमों के निर्माण में रहें हैं कि नहीं?

था प्रश्न ज्ञान की राजनीति (Politics of Knowledge) से जुड़ा है। क्या इसके पीछे उपनिवेशवाद व म्राज्यवाद के निहित स्वार्थ नहीं हैं? भारतीय समाजशास्त्र का उपनिवेशवाद की पृष्ठभूमि में प्रादुर्भाव ना। इस पृष्ठभूमि के अन्तर्गत इसके स्वरूप व शिक्षण की संस्थागत प्रक्रिया स्थानीय न होकर आयातित । पश्चिम का प्रारूप, सिद्धान्त, संबोध व अन्य आयामों ने भारतीय समाजशास्त्र को प्रभावित किया। का प्रमुख प्रभाव यह रहा कि,

) भारतीय यथार्थ का ही सही प्रस्तुतिकरण नहीं हो सका।

) भारतीय ज्ञान की शास्त्रीय परम्परा की उपेक्षा की गई;

) देशज सिद्धान्त (Indigeneous) संबोधों व पद्धतियों का सामाजिक - सांस्कृतिक विशिष्टता के र्भ में विकास नहीं हो सकता।

त में अंग्रेजों का आगमन एक ऐसी घटना थी जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर दूर तक पड़ा। नई ाजिक और आर्थिक शक्तियों ने पुरानी परम्पराओं को तोड़ा। संस्कृत और फारसी जैसी प्रतिष्ठित ाओं के स्थान पर अंग्रेजी राजभाषा हो गयी।

4.1 औपनिवेशिक प्रशासन और सामाजिक अध्ययन

निवेशिक प्रशासकीय आवश्यकताओं के मद्दे नजर सामाजिक जीवन के अध्ययन पर जोर दिया । 1820 -50 के बीच तत्कालीन भारत में शिक्षा, जनसंख्या, धर्म, जाति, जनजाति, ग्राम और नगरों की ना पर व्यापक प्रकाश डाला गया है।

त में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पठन-पाठन, लेखन, प्रकाशन, तथ्यों पर विवाद की दृष्टि से कई ाएं घटी। इनमें कलकत्ता, मुम्बई, मद्रास (1857), इलाहाबाद (1887) तथा पंजाब (1947) में वविद्यालयों की स्थापना हुई। स्वतंत्रता के बाद उभरा आधुनिक मनोविज्ञान वाला मध्यम वर्ग, वशास्त्रीय सर्वेक्षण (1901) जैसे सरकारी विभागों की स्थापना इनमें प्रमुख हैं। इसके कारण ुनिक, नियमित, क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक सामाजिक अध्ययनों की परम्परा विकसित हुई।

वविद्यालय स्तर के अध्ययन - अध्यापन सरकारी संगठनों द्वारा आयोजित अध्ययनों के प्रभाव, स्वतंत्र न, राष्ट्रीय जीवन से जुड़े सामाजिक आर्थिक प्रश्नों जैसे - औद्योगीकरण, नगरीकरण, अप्रवास, ार, विवाह, भारत में चल रहे बौद्धिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के प्रभाव ोच से तीन मुख्य धाराएं उभरीं। पहली धारा भारतीय पुराविदों की थी, जो शास्त्रों में वर्णित जिक संस्थाओं, विधि-न्याय, सामाजिक दर्शन में संलग्न थे। दूसरी धारा में भारत के नृजातीय, तिहासिक व जनजातीय समस्याओं का वस्तुपरक अध्ययन करने वाले लोग थे। तीसरी धारा से द्ध लोग आधुनिक भारतीय जीवन के मुख्य पक्षों पर जोर दे रहे थे। इन बौद्धिक धाराओं की ूमि में आधुनिक समाजशास्त्र का उदय और उसकी विषयवस्तु का निर्धारण हुआ। इसे निश्चित से बौद्धिक दिशा देने में विनय मोहन सरकार, पैट्रिक गिड्स, जी. एस. घुरिये, आर. के. मुखर्जी, डी. ुखर्जी, हट्टन और रिजले प्रमुख हैं। (सरन, 1957)

; सामाजिक - धार्मिक आन्दोलन

व 20वीं शताब्दी के आरम्भ में मध्यवर्ग ने भारतीय समाज में सुधार और आधुनिकीकरण के विषय ास शुरू किया, अर्थात सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के माध्यम से सुधारकों ने सामाजिक व्यवस्था येक उस पक्ष में परिवर्तन का आग्रह किया, जिसमें तार्किकता का अभाव था, अन्याय व असमानता

का पुट था, और जड़ता का बोध था। अत: उस समय के आन्दोलनों के माध्यम से सती प्रथा, बाल विवाह, बाल हत्या, अंधविश्वास एवं कुरीतियों का विरोध किया गया, तथा इन सामाजिक बुराइयों को जड़ से उखाड़ने का निश्चय किया गया फलस्वरूप इनसे सम्बन्धित सामाजिक विधान बनाये गये। इन आन्दोलनों ने सामाजिक व्यवस्था पर सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक चिंतन के लिए एक विषय की महती आवश्यकता के लिए उत्प्रेरक का कार्य किया।

1.5.1 सुधारवादी आन्दोलन

इन आन्दोलनों के अन्तर्गत पहला नाम राजा राम मोहन राय का आता है। क्योंकि ब्रह्म समाज की स्थापना करके राय ने तत्कालीन समाज की उन बुराइयों पर प्रहार किया, जो व्यवस्था में विभेद, शोषण व अन्याय पर आधारित थीं, यद्यपि राय का दृष्टिकोण मिश्रित था जिसमें पश्चिम एवं भारतीय दोनों ही दृष्टियों से साकल्य (whole) को देखने की प्रवृत्ति थी। इसी समय महाराष्ट्र के न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इन्होंने रूढ़िवादी हिन्दुओं का नेतृत्व किया। चूँकि राममोहन राय ने पाश्चात्य उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया अत: रूढ़िवादी परम्पराओं एवं आधुनिकता के बीच एक द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। (उनीथान, 1967)

1.5.2 पुनर्जागरण आन्दोलन

पुनर्जागरण आन्दोलन नि:सन्देह भारतीय जन-मानस की सामूहिक चेतना को ज़गाने वाला एवं जड़ता से मुक्ति दिलाने वाला एक महत्वपूर्ण आन्दोलन था। इनमें सबसे महत्वपूर्ण था आर्य समाज आन्दोलन। दयानन्द सरस्वती इस आन्दोलन के प्रणेता थे। दयानन्द सरस्वती ने वेदों की शुद्धता को अपनाने पर जोर दिया। जातिवाद की संकीर्णता एवं अन्धविश्वासों को दूर करने पर बल दिया।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेजों (D.A.V.) ने उत्तर भारत में बड़े पैमाने पर शिक्षा का प्रचार -प्रसार किया।

1.6 भारत में स्वतन्त्रता संघर्ष की सामाजिक पृष्ठभूमि

भारत में स्वतन्त्रता संघर्ष की शुरूआत यूँ तो बहुत पहले से है परन्तु 1857 ई. को स्वतंत्रता संघर्ष का प्रस्थान बिन्दु मान सकते हैं। इस समय एक महत्वपूर्ण घटना घटी थी- चर्बी वाले कारतूस, जिससे हिन्दुओं और मुस्लिमों में विभेद डालने का प्रयास किया गया यद्यपि यह युद्ध रणनीति भी थी। धर्म, क्षेत्र, भाषा के आधार पर अंग्रेज शासकों द्वारा मतभेद पैदा करके अपने हितों को पूरा किया गया। आम जनता उस समय अभाव बोध से उत्पीड़ित थी। अत: उस समय जो व्यक्ति उनके अधिकारों की बात करता था वे उसके पीछे हो लेते थे, अत: राष्ट्रीय नेतृत्व के स्थान पर क्षेत्रीय नेतृत्व करने वाले लोग बहुत अधिक उभरे। तत्कालीन सामाजिक ढाँचा परिवर्तन विरोधी था। अत: स्वदेशी के नाम पर, परिवर्तन के नाम पर, एक सूत्र में बाँधने के नाम पर आम जनता को जोड़ कर परिवर्तन की ओर मोड़ा गया।

1.7 सारांश

सारांशत: यह कह सकते हैं कि भारत में सामाजिक चिंतन की सुदीर्घ परम्परा रही है, जिसका सम्बन्ध अन्ततोगत्वा समाजशास्त्रीय विमर्श से है।

प्राचीन भारत में महाभारत, रामायण, मध्यकाल में अनुभवाश्रित अभिलेख एवं यात्रा विवरण तथा

ामाजिक सुधार के आन्दोलन साथ ही साथ औपनिवेशिक शासन में सामाजिक अध्ययन, भारत में माजशास्त्रीय चिंतन की आधार भूमि बने हैं।

I.8 बोध प्रश्न

ीर्घ उत्तरीय प्रश्न

. 1 प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में समाजशास्त्र के अनौपचारिक संस्थापन युग को कैसे ढूँढा जा सकता है?

. 2 उपनिवेशवाद और समाजशास्त्र के उदय के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये?

ास्तुनिष्ठ प्रश्न

.1 प्रार्थना समाज की स्थापना किसने की?

अ) राजा राम मोहन राय (ब) महादेव रानाडे (स) दयानन्द सरस्वती (द) इनमें से कोई नहीं।

.2 प्रथम मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण कब प्रकाशित किया गया?

अ) 1940 (ब) 1920 (स) 1917 (द) 1901

. 3 बह्म समाज के प्रणेता थे?

अ) दयानन्द सरस्वती (ब) विवेकानन्द (स) राजाराम मोहन राय (द) इनमें से कोई नहीं।

I.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

.1 ब
. 2 द
. 3 स

इकाई 2 : भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 स्वतंत्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय विचारधारा

2.3 संस्थापन : 1950 से पूर्व का काल

2.4 स्वतंत्रता पश्चात् की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियां

2.5 समाजशास्त्र का एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषय के रूप में विकास

2.6 भारत में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के मध्य सम्बन्ध एवं विकास

2.7 सारांश

2.8 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि को संज्ञान में लेना है तथा एक विषय के रूप में इसके विकास पर प्रकाश डालना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- स्वतन्त्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय विचारधारा का वर्णन कर सकेंगे।
- समाजशास्त्र के संस्थापन युग के बारे में विवरण कर सकेंगे।
- स्वतन्त्रता पश्चात् की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकेंगे।
- भारत में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सुदीर्घ परम्परा रही है। जिसका सर्वाधिक विकास संस्कृत जानने वाले विशिष्ट वर्ग में हुआ। यद्यपि संस्कृत का ज्ञान इस विशिष्ट वर्ग की पहचान थी, किन्तु भक्तिकाल (लगभग 19वीं शताब्दी से) के दौरान क्षेत्रीय भाषाओं में उच्च स्तरीय साहित्य का विकास हुआ। भारत के अधिकांश भागों में भक्तजन मुख्य रूप से जनसाधारण के लिए सम्माननीय थे। जबकि विशिष्ट वर्ग अब भी संस्कृत से जुड़ा हुआ था, और उसे आदर्श साहित्यिक रूप मानता रहा। जब भारत में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन गई तो ये सारी अवधारणाएं बदल गईं। भारतीय विशिष्ट वर्ग ने तेजी से किन्तु आंशिक रूप में अंग्रेजी को अपना लिया । धीरे-धीरे वैज्ञानिक और तकनीकी विधाओं को लोग ग्रहण करने लगे।

2.2 स्वतंत्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय विचारधारा

ारत में समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी दर्शन और वैज्ञानिक परम्पराओं के आपसी टकराव का रिणाम है, फिर भी समाजशास्त्र पर भारत की अगणित आंतरिक प्रक्रियाओं का प्रभाव पड़ा है। बीसवीं दी के आरम्भिक वर्षों में विश्वविद्यालय स्तर पर समाजशास्त्र के अध्ययन की शुरूआत हुई। अर्थात 914 में बम्बई विश्वविद्यालय (वर्तमान में मुम्बई विश्वविद्यालय) में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का ध्ययन-कार्य प्रारम्भ हुआ। यहीं सन 1919 में ब्रिटिश समाजशास्त्री प्रो. पैट्रिक गिड्स की अध्यक्षता में माजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई और समाजशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षायें शुरू की गयीं। सन 1917 कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो. ब्रजेन्द्रनाथ शील के प्रयत्नों से अर्थशास्त्र विषय के साथ समाजशास्त्र ा अध्ययन कार्य चालू किया गया। डा. राधाकमल मुखर्जी, विनय सरकार, डी. एन. मजूमदार तथा प्रो. र्मल कुमार बोस जैसे प्रतिभाशाली विद्वान बृजेन्द्रनाथ शील के ही विद्यार्थी थे।

न 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र को मान्यता अवश्य गयी परन्तु इस विषय का अध्ययन अर्थशास्त्र विषय के अन्तर्गत ही किया जाने लगा। प्रो. राधाकमल खर्जी और डा. जी. एस. घुरिये का भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन बके ऊपर गिड्स का प्रभाव था और गिड्स जाने माने समाजशास्त्री लीप्ले से प्रभावित थे। वे स्कृति और वातावरण सम्बन्धी मानव भूगोल और नगर योजना, विशेषकर शहरी ह्रास जैसी समस्याओं सम्बद्ध थे। उन्होनें कलकत्ता, इन्दौर, तथा दक्षिण के मंदिरों के शहरों (temple cities) की नगर जना का अध्ययन किया था। (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986 : 25)

'23 में स्नातक कक्षाओं में इस विषय को पढ़ाया जाने लगा। इस वर्ष आन्ध्र विश्वविद्यालय में भी ाजशास्त्र को एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। 1930 में पूना विश्वविद्यालय में ाजशास्त्र विभाग प्रारम्भ हुआ।

ल ही में एक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आया है कि पैट्रिक गिड्स से पूर्व श्यामकृष्ण वर्मा नाम के एक तन्त्रता सेनानी हुए थे, जो कि सामाजिक क्रान्तिकारी थे। स्वतन्त्रता सेनानी होने के नाते उनकी रु चि रतीय समाज को समझने और उसका विश्लेषण करने में थी। किन्तु इसी दौरान उन्हें ब्रिटिश राज ने रत से निष्कासित कर दिया। यूरोप में अपने निर्वासन की अवधि में उनकी भेंट संयोग से अगस्त कोंत हुई। उसके बाद उन्हें स्पेन्सर से मिलने का मौका मिला । स्पेन्सर और कोंत से विचार-विमर्श के बाद ामकृष्ण वर्मा ने एक शोध पत्रिका निकाली, जिसका नाम उन्होंने 'इण्डियन सोशियोलॉजिस्ट' रखा। केन यह पत्रिका अधिक समय तक नहीं चल सकी। (N.C.E.R.T., 2002)

ेविद्यालयी अध्ययन के प्रारम्भ होने तक निम्नलिखित चार धाराएं विकसित हो चुकी थी—

) भारतीय दर्शन (INDIAN PHILOSOPHY)

) प्राच्य विद्या और भारत विद्या (INDOLOGY)

) नृजातिक और सामाजिक सर्वेक्षण (ETHNOGRAPHY AND SOCIAL SURVEY)

) इतिहास (HISTORY)

त में समाजशास्त्र के प्रवर्तकों पर किसी न किसी रूप में इनमें से अनेक धाराओं का प्रभाव दिखाई ता है। जी. एस. घुरिये का व्यक्तित्व बहुआयामी था। इनके अध्ययन और शोध के दीर्घकालीन जीवन इन चारों धाराओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

राधाकमल मुखर्जी के लेखन पर भारतीय दर्शन, इतिहास और सामाजिक सर्वेक्षण की अध्ययन परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। इन्होंने एकता पर बल दिया। ये बौद्धिक जीवन में समन्वय की उस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो पश्चिम के वैज्ञानिक विश्लेषण और भारत के दार्शनिक चिंतन को एक साथ मिलाती है। ग्रामीण जीवन एवं अर्थव्यवस्था, जनसंख्या, परिस्थितिकी, क्षेत्र आचारों की गतिशीलता, मूल्यों के समाजशास्त्र, भारतीय कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में इनका अग्रणी योगदान है।

डी. पी. मुखर्जी पर भारतीय दर्शन, प्राच्य विद्या, ऐतिहासिक विश्लेषण, और मार्क्सवाद का प्रभाव है। इन्होंने आधुनिक भारतीय सामाजिक संरचना के विश्लेषण में 'परम्परा' के बोध पर विशेष रूप से बल दिया है।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (डी. एन. मजूमदार) ने प्रजाति, जाति, ग्राम्य और नगरीय अध्ययन तथा सामाजिक मानव विज्ञान से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों में न केवल पठन-पाठन और शोध की नींव डाली बल्कि उसका नेतृत्व किया।

राधाकमल मुखर्जी ने आज से पचास वर्ष पूर्व परिस्थितिकी तथा जनसंख्या के क्षेत्र में अग्रणी कार्य किया। आज इन विषयों की समाज विज्ञान में काफी चर्चा है। (N.C.E.R.T.)

2.3 संस्थापन : 1950 से पूर्व का काल

भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का संस्थापन एवं व्यावसायिकीकरण को स्पष्ट रूप से दो कालक्रमों में बाँटा जा सकता है—

1950 से पूर्व और पश्चात्। साथ ही 1950-52 एक महत्वपूर्ण वर्ष इस मायने में भी था कि स्वतंत्र भारत ने नियोजित विकास पर जोर देना प्रारम्भ किया।

वस्तुत: 1950 से पूर्व का काल बहुस्तरीय संश्लेषण का काल था। यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि इन दोनों ही विधाओं का विकास क्रमश: बम्बई एवं कलकत्ता में हुआ जो प्रतीकात्मक रूप से उपनिवेशवाद को प्रतिबिम्बित करता है। इन दोनों विधाओं का क्रमश: विकास 20वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में हुआ। (आर.के. मुखर्जी 1977, 29-30)

1950 से पूर्व के काल में प्रो. शील, जी. एस.घुरिये, बी. के. सरकार, राधाकमल मुखर्जी तथा डी.पी. मुखर्जी के योगदान अविस्मरणीय थे। इन लोगों का बौद्धिक रुझान, तथ्य संकलन की विधि साथ ही सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संस्थाओं के बारे में इनका विवेचन, उपनिवेश काल में प्रशासकों विद्वानों की शोध शैली और नृजातीय कार्यों से प्रभावित था। इस समय क्षेत्र अध्ययन विशेष रूप से जाति, परिवार, विवाह, नातेदारी, सामाजिक स्तरीकरण, जनजातीय समुदायों, ग्रामीण और नगरीय समाज पर केन्द्रित थे।

बम्बई में प्रो. गोविन्द सदाशिव घुरिये के नेतृत्व में समाजशास्त्र का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति और समाज के विभिन्न पक्षों पर भारत शास्त्रीय स्रोतों से प्रकाश डालने तथा आनुभाविक शोध के माध्यम से विभिन्न पक्षों पर भी प्रकाश डालने का कार्य डा. जी. एस. घुरिये ने किया है। प्रो. घुरिये ने अपने मोनोग्राफ इण्डियन साधूज (Indian Sadhus,1964) आन रिलीजियस कान्शियसनेस (On Religious Conciousness, 1965) आन गोत्र एण्ड चरन ऐज द टू ब्राह्मनिकल इन्स्टिट्यूशन्स (on the Gotra and Charan as the two Brahamanical Institutions, 1972) के माध्यम से इन्डोलाजिकल उपागम का प्रयोग किया।

ारत शास्त्रीय शिल्प में प्रशिक्षित होने के बाद भी घुरिये सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानवशास्त्र की क्षेत्र ध्ययन परम्परा के विरूद्ध नहीं थे। बाम्बे के मध्यम वर्ग में यौन आदतों पर घुरिये ने 1930 ई में क्षेत्र ध्ययन किया। (घुरिये, 1938) और महादेव कोलियों पर एक मोनोग्राफ प्रस्तुत किया, जो कि मात्र र्सी पर बैठ कर क्षेत्र के बारे में लिखने वालों से भिन्न था। घुरिये ने भारतीय समाजशास्त्र में जमीनी नुभविकतावाद को अनुप्रयोगित किया।

म्ब्रिज विश्वविद्यालय में अनुप्रयोगित डब्लू. एच. रिवर्स के साथ काम करने के बाद भी एवं अपनी न्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संरचनात्मक प्रकार्यात्मिक पहचान के बाद भी घुरिये ने अपने को प्रकार्यात्मक म्परा से प्रतिबद्ध नहीं किया जबकि वे भारतीय समाज एवं संस्कृति के महत्वपूर्ण परिदृश्य का विवेचन र रहेथे। घुरिये को 'सैद्धान्तिक बहुलतावादी' कहना अधिक श्रेयस्कर होगा। (घुरिये 1968) माजिक मानवशास्त्रीय शोधों का एक और महत्वपूर्ण केन्द्र कलकत्ता विश्वविद्यालय था। जहाँ के. . चट्टोपाध्याय विभिन्न प्रकार के शोध कर रहे थे, एवं भाँति भाँति के शोधों का नेतृत्व कर रहे थे। इस ह उन्होंने ब्रजेन्द्रनाथ शील और विनय कुमार सरकार को प्रशिक्षण दिया। जिन्होंने नृजातीयता, thinicity) धर्म तथा संस्कृति पर प्रारम्भिक अध्ययन किये (आर. मुखर्जी 1997 : 31-41) । मीण बंगाल में गरीबी बढ़ रही थी, बंगाल अंकाल का प्रभाव कमजोर वर्गों पर पड़ रहा था, तो कुछ द्वान इस प्रकार के प्रभाव मूल्यांकन अध्ययन कर रहे थे।

रामकृष्ण मुखर्जी (1949, 1957, 1958) ने इस प्रकार के अध्ययनों पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त मुखर्जी ने कृषक वर्ग, कामकाजी वर्ग, और ज़नजातीय अध्ययन भी किये। समाजशास्त्र और माजिक मानवशास्त्र के शोध का एक अन्य केन्द्र लखनऊ विश्वविद्यालय था। डा. राधाकमल मुखर्जी, पी. मुखर्जी, डी. एन. मजूमदार- इन तीन त्रिमूर्ति विद्वानों के प्रयास से लखनऊ समाज विज्ञानों के ययन में अग्रणी केन्द्र बन गया और इसकी यह स्थिति 1960 ई0 तक रही। राधाकमल मुखर्जी एवं पी. मुखर्जी दोनों कलकत्ता में पढ़े लिखे और प्रारम्भिक प्रशिक्षण अर्थशास्त्र में लिया। प्रो. डी. एन. ूमदार भी कलकत्ता में पढ़े लिखे, किन्तु बाद में उन्होंने अपनी पी. एच.डी. की उपाधि प्रसिद्ध वशास्त्री हेड्डन के साथ कैम्ब्रिज वि.वि. से प्राप्त की। प्रो. मजूमदार ने क्षेत्र अध्ययन एवं नुभविकतावाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता रखी और उनका यह उत्साह उनकी मृत्यु (1960 ई0) तक । प्रारम्भ के लोक सांस्कृतिक अध्ययन (प्रजाति और संस्कृति से सम्बन्धित) से मजूमदार जुड़े रहे, तत: ग्रामीण अध्ययनों एवं शहरों की समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययनों की ओर अपने को मोड़ा। जूमदार 1955, 88, 60)

ण्ड में सामाजिक मानवशास्त्र का प्रशिक्षण लेने के बाद प्रो. राधाकमल मुखर्जी ने तीव्रता से सूक्ष्म पर आनुभाविक क्षेत्र अध्ययनों की ओर अपना रूख मोड़ा। इन अध्ययनों में महत्वपूर्ण थे—'अन्तर ीय तनाव, नगरीकरण और विशेषकर संक्रमण की स्थिति में नगरों का अध्ययन। (आर. के. मुखर्जी, 1)

पी. मुखर्जी का समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के लिए योगदान अपने समकालिक डा. कमल मुखर्जी एवं डी. एन. मजूमदार से थोड़ा भिन्न था। डी. पी. मुखर्जी किसी भी तरह तथ्य संकलन सर्वेक्षण के किसी अभ्यास में रत नहीं थे। वे आनुभविकतावाद की आन्तरिक मूल्य निहित क्षमता ी विश्वास नहीं रखते थे बल्कि वे कुर्सी पर बैठकर सामाजिक विश्लेषण एवं संस्कृति का लेषण करने वाले विद्वान थे। उनका बौद्धिक परिदृश्य एक बृहद क्षितिज को समेटने वाला था। ने संगीत और कला जो कि भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, इसके अध्ययन से लेकर ुनिकता के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा तक का अध्ययन किया। (मुखर्जी 1948)

डा. डी. पी. मुखर्जी मार्क्स को विश्लेषित करने वाले मार्क्सवादी थे, यद्यपि वो मार्क्सियोलाजिस्ट (Marxiologist) कहलाना पसंद करते थे। इन्होंने भारतीय परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक टकराव की द्वन्द्वात्मक विवेचना करने का प्रयास किया, जिसने उप निवेश काल में सांस्कृतिक विरोधों की कई शक्तियों को बन्धन मुक्त किया (योगेन्द्र सिंह 1973,/8-20)

ड. मुखर्जी ने समाज विज्ञानों की 'मूल्य स्वतन्त्रता' के मिथक को उद्भासित किया। यद्यपि यह यहाँ महत्वपूर्ण है कि कुछ को छोड़कर (पी. सी. जोशी, एस. सी. वर्मा) उनके अधिकांश विद्यार्थियों (ए. के. सरन, योगेन्द्र सिंह, एस. पी. नगेन्द्र, इन्द्र देव) ने मार्क्सियन सन्दर्भ विश्लेषण के लिए प्रयोग नहीं किया। यह स्पष्ट दर्शाता है कि वे रूढ़ सिद्धान्ती न होकर बौद्धिक स्वतन्त्रता के मूल्य को बढ़ावा देते थे।

2.4 स्वतन्त्रता पश्चात् की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियाँ

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात नए विश्वविद्यालयों के खुलने के साथ समाजशास्त्र के नए विभागों की भी शुरूआत हुई। विभागों में पढ़ने वालों की संख्या बढ़ी। इस तरह स्वतंत्रता के बाद समाजशास्त्र का व्यावसायिक विकास हुआ। अध्यापन और शोध के लिए अधिक धनराशि की व्यवस्था सरकार की ओर से हुई। योजनाबद्ध विकास के मार्ग का अनुसरण करने के बाद, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ग्राम्य तथा नगरीय क्षेत्रों की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इसी काल में बहुत से समाजशास्त्री अमेरिकी वि.वि. में अध्ययन और शोध के लिए गये। 1950-60 की अवधि में समाजशास्त्र के क्षेत्र में सैद्धान्तिक और शास्त्रीय प्रश्नों के स्थान पर तथ्यात्मक, अनुभवपरक और सर्वेक्षणात्मक क्षेत्र अध्ययनों पर जोर दिया गया। इस तरह व्यापक ग्राम्य एव नगरीय अध्ययनों की श्रृंखला प्रकाश में आई। इन अध्ययनों के कारण ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित जाति संरचना, शक्ति संरचना, गुटों का निर्माण और उनकी गतिशीलता, व्यवसाय, कृषि भूमि स्वामित्व, विकास आदि प्रश्नों पर क्रमबद्ध ढंग से प्रकाश पड़ा। सबसे पहले तो इन अध्ययनों में बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के आँकड़ों के संकलन एवं विश्लेषण पर बल दिया गया। स्वतन्त्रता पूर्व के ब्रिटिश सम्पर्क तथा सन 1950-60 के दशक में अमेरिकी प्रभाव के कारण भारत में समाजशास्त्र पर प्रकार्यवादी (Functional) अध्ययन पद्धति का विशेष प्रभाव पड़ा। इसके अन्तरगत ग्राम, नगर, व्यवस्था, जाति तथा जनजाति पर आधारित अध्ययन पद्धति पर विशेष रूप से बल दिया गया। प्रकार्यवादी धारा के भारतीय समाजशास्त्र में बढ़ते प्रभाव का सैद्धान्तिक विरोध दो धाराओं की ओर से हुआ। विरोध की पहली धारा के अंतरगत ऐसे समाजशास्त्री हैं जो एक ओर तो प्रकार्यवादी मान्यताओं और अध्ययन विधि तथा दूसरी ओर मार्क्सवादी विचारधारा इतिहास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित समाजशास्त्रीय विवेचन में भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक और ऐतिहासिक पक्ष पर बल दिया गया है। प्रकार्यवदी धारा ने अध्ययन की इकाई मूल रूप से जाति, जनजाति और ग्राम को माना है। (उनीथान, 1967)

2.5 समाजशास्त्र का एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषय के रूप में विकास

समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र का संयुक्त रूप से विकास तो 1952 में ही प्रारम्भ हो गया था। नीति

र्माताओं ने स्वतन्त्र भारत में आर्थिक पुनर्निमाण, एवं सामाजिक विकास के लिए समाज विज्ञानों के पयोग पर ध्यान दिया। भारत सरकार ने सरकारी तौर पर नियोजित विकास को ग्रहण कर लिया, प्रथम च वर्षीय योजना के लागू होने के समय से ही समाजशास्त्री को विकास के सामाजिक पक्षों पर आने वाले रिणामों एवं निर्धारकों के लिए सम्भावित विशेषज्ञ के रूप में देखा गया। समाज के विभिन्न वर्गों पर विकास कार्यक्रमों के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए प्रशिक्षित समाजशास्त्रियों की आवश्यकता बढ़ ई । (श्रीनिवास और पाणिनी, 1973 : 197-8, अटल 1976)

ामान्य तौर पर लोगों के अन्दर इस विषय के महत्व को लेकर जागरूकता तब बढ़ी, जबकि यू. जी. सी. विश्वविद्यालय अनुदान अयोग) ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के विकास के लिए न केवल नुदान प्रदान किया, बल्कि नवीन विभाग भी खोले। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने पंचवर्षीय विकास अनुदानों के माध्यम से नवीन पद सृजित किये। 1951 से 1970 के बीच अमेरिका के फोर्ड ाउन्डेशन ने भारतीय नियोजन में समुदायिक विकास के विचार को प्रतिस्थापित किया। समुदायिक विकास की अपरिहार्यता को सामाजिक पुनर्निमाण एवं विकास की एजेन्सी के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों के ाए भारत सरकार द्वारा स्वीकार किया गया । वस्तुत: समाजशास्त्र का व्यावसायीकरण इण्डियन शियोलाजिकल सोसाइटी (Indian Sociological Society) की स्थापना के साथ प्रारम्भ हुआ। इस मिति का अपना जर्नल था, लेकिन यह सम्मेलनों को आयोजित करने में सफल नहीं हुआ। लेकिन खनऊ सम्प्रदाय के लोगों ने पहल की और अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन आयोजित किया, सिमें देश-विदेश से लोगों ने सहभागिता की। इस तरह के छह सम्मेलन आयोजित किये गये जिनमें सत्रों ो समाजशास्त्र, सामाजिक मानवशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और सांख्यिकी तथा शोध प्रविधिकी में बाँटा या। इन सम्मेलनों को समाज विज्ञान सम्मेलन कहा जा सकता है, चूँकि इनमें, समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, ोवैज्ञानिकों, और सांख्यिकीविदों ने सहभागिता की थी।

माजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र की प्रगति में 1969 ई0 का वर्ष मील का पत्थर सिद्ध हुआ जबकि रत सरकार ने इन्डियन काउन्सिल आफ सोशल साइंस रिसर्च (Indian Council of Social Science esearch) के माध्यम से समाजशास्त्र एव सामाजिक मानवशास्त्र की शोध प्रवृत्तियों पर एक रिपोर्ट तैयार ी। 1969 ई0 में आई. सी. एस. एम. आर. की स्थापना ने समाजशास्त्र के विकास में अतुलनीय योगदान या । (धनाग्रे, 1980, 25-26)

सोसियोलाजिकल बुलेटिन'' नाम का जर्नल ''कान्ट्रीब्यूशन टु इन्डियन सोशियोलाजी'' (Contribution to dian Sociology) एवं सोशल चेन्ज (Social Change) नामक जर्नल भी समाजशास्त्र के विकास में त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन कर रहे हैं।

म्प्रति तो समाजशास्त्र ने समस्त प्रोद्योगिकी संस्थानों, कृषि विश्वविद्यालयों एवं लोक व्यवहार के स्थानों अपनी जगह बना ली है। इतना ही नहीं उन सभी शासकीय संस्थानों में भी समाजशास्त्र का प्रभुत्व बढ़ ा है जहाँ नीतियों का निर्माण होता है, मानव संसाधन का निर्माण होता है।

द्यतन यह विषय प्रशासनिक सेवाओं में भी लोकप्रियता हासिल करता जा रहा है।

.6 भारत में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के मध्य सम्बन्ध और विकास

ारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच गहरा सम्बन्ध है। इन दोनों विषयों के उदय

और विकास में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख योगदान था।

आधुनिक कानून व्यवस्था और पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयों में आत्मबोध की भावना पैदा हुई। एक तरफ लोग धर्म, जाति, जनजाति, क्षेत्र जैसे पहलुओं को महत्व देने लगे और दूसरी तरफ एकता की नई भावना जाग्रत हुई। इन सामाजिक परिवर्तनों से नई समस्याएं सामने आयीं (श्री निवास एवं पाणिनी 1986 : 18)।

1769 में हेनरी वेरलेस्ट (बिहार और बंगाल का गर्वनर) ने अपने भू राजस्व अधिकारियों को निर्देश दिया कि वे जाने-माने परिवारों और उनके रीति-रिवाजों से सम्बन्धित जानकारी इकट्ठा करें। मैसूर में एक फ्रेंच मिशनरी अब्बे डुबायस ने हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज (Hindu Manners Customs and Ceramonies, 1816) नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने उन लोगों के जीवन, रीति रिवाजों, और धार्मिक अनुष्ठानों के बारे में लिखा है। उन्होंने जाति और पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया।

1871 में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर जनगणना हुई। 1901 में सर हबर्ट रिजले ने भारत का नृजातीय सर्वेक्षण किया जो जनगणना का एक हिस्सा था।

यद्यपि इन विद्वानों ने समाजशास्त्र को स्थापित किया, लेकिन समाजशास्त्र की नींव को मजबूत बनाने में डी. एन. मजूमदार एवं एन. के. बोस का महत्वपूर्ण योगदान है। लखनऊ वि.वि. के डी. एन. मजूमदार ने कलकत्ता वि.वि. में नृशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में विस्तृत कार्य किया है।

2.7 सारांश

इस इकाई में आपने भारत की समाजशास्त्रीय विचारधारा की पृष्ठभूमि के विषय में पढ़ा। हमने इस इकाई में स्वतन्त्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय विचारधारा पर विचार किया है तथा परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक द्वन्द्व को स्पष्ट किया है। साथ ही समाजशास्त्र का संस्थापन काल 1950 से पूर्व को माना है इसमें स्वतन्त्रता पश्चात की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। समाजशास्त्र के एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषय के रूप में विकास को भी प्रदर्शित किया गया है। भारत में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध भी अक्षुण्ण रहा है। इसकी व्याख्या की गयी है।

2.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 भारत में समाजशास्त्र के विकास पर दृष्टि डालिये?

प्र. 2 स्वतंत्रता पूर्व की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये?

प्र. 3 स्वतंत्रता पश्चात् की समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये ?

प्र. 4 क्या भारत में समाजशास्त्र का एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषय के रूप में विकास हो सका?

स्तुनिष्ठ प्रश्न

1 ''हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज'' पुस्तक के लेखक हैं?

अ) अब्बे डुबाय (ब) नेसफील्ड (स) एस.सी.दुबे (द) एल.पी.विद्याथी

2 ''इन्डियन साधूज'' पर मोनोग्राफ किसने लिखा?

अ) एस. सी. दुबे (ब) एम. एन. श्रीनिवास (स) जी. एस. धुरिये (द) कोई नहीं।

3 मुम्बई वि.वि. में समाज शास्त्र विभाग किस वर्ष खुला ?

न) 1916 (ब) 1914 (स) 1919 (द) 1917

.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1 अ

2 स

3 ब

इकाई 3 : भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 भारत में समाजशास्त्र के अग्रणी संस्थापक
3.3 राधाकमल मुखर्जी
3.3.1 जीवन चित्रण
3.3.2 केन्द्रीय विचार
3.3.3 महत्वपूर्ण रचनाएं
3.4 धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (डी. पी. मुखर्जी)
3.4.1 जीवन चित्रण
3.4.2 केन्द्रीय विचार
3.4.3 महत्वपूर्ण रचनाएं
35 गोविन्द सदाशिव घुरिये (जी.एस.धुरिए)
3.5.1 जीवन चित्रण
3.5.2 केन्द्रीय विचार
3.5.3 महत्वपूर्ण रचनाएं
3.6 सारांश
3.7 बोध प्रश्न
3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाजशास्त्र के तीन अग्रणी संस्थापकों के योगदान का वर्णन कर सकेंगे।
- राधाकमल मुखर्जी, धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी और गोविन्द सदाशिव घुरिये के जीवन का संक्षिप्त विवरण कर सकेंगे।
- समाजशास्त्र के लिए उनके मुख्य योगदानों का उल्लेख कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमने भारत में समाजशास्त्र के तीन संस्थापकों के जीवन परिचय से लेकर इनके योगदानों की विस्तार से चर्चा की है। ये तीन प्रारम्भिक विद्वान हैं— राधाकमल मुखर्जी (1889-1968), धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (1894-1962) और गोविन्द सदा शिव घुरिये (1893-1984)

इस इकाई के भाग 3.3 में उपरोक्त तीनों विद्वानों के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। भाग 3.3 में

धाकमल मुखर्जी के जीवन परिचय, योगदानों की चर्चा की गयी है। भाग 3,4 का शीर्षक धुर्जटी प्रसाद खर्जी है, इसके अन्तर्गत डी. पी. मुखर्जी के जीवन परिचय एवं कृतियों के बारे में लिखा गया है। भाग 5 में जी. एस. घुरिये के जीवन परिचय एवं कृतियों के बारे में लिखा है।

.2 भारत में समाजशास्त्र के अग्रणी संस्थापक

ारतीय शैक्षिक जगत् के कीर्तिमान स्तम्भ प्रो. राधाकमल मुखर्जी, प्रो. धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी, गोविन्द दाशिव घुरिये थे, जिनके विचारों को लगभग सभी समाज विज्ञानों में प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण माना ाता है। लेकिन क्रमश: दो विद्वान अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र दोनों पढ़ाते थे, परन्तु जी. एस. घुरिये ंत: समाजशास्त्र के प्रोफेसर थे। राधाकमल मुखर्जी ने सामाजिक परिस्थितिशास्त्र, जनसंख्या, मूल्यों के माजशास्त्र पर तथा संस्थात्मक अर्थशास्त्र जैसे समसामायिक विषयों पर विचार मन्थन किया। मूल्यों के माज शास्त्र पर इनके कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार किया गया। प्रो. डी. पी. मुखर्जी को र्क्सवादी परम्परा का विचारक माना गया। परम्परा एवं आधुनिकता के पारस्परिक सहसम्बन्धों एवं नसे उत्पन्न द्वन्द्व को डा. मुखर्जी ने विश्लेषित किया। वे भारतीयता एवं भारतीय परिप्रेक्ष्य को महत्व देते . उनके अनुसार आधुनिकता उचित है परन्तु भारतीयता के आइने में ढलकर आधुनिकता को आना ाहिए। जो अपनी सांस्कृतिक विरासत से अलग हो गया, उसे संतुलित व्यक्ति नहीं मानते थे। प्रो. जी. स. घुरिये ने जनजातियों एवं जातियों का अध्ययन किया। राष्ट्रीय एकीकरण पर भी घुरिये ने बल दिया। रिये ने भारतीय परिवार पद्धति, जातियां और वर्ग, ग्रामीण जीवन से सन्दर्भित अनेक ग्रन्थ लिखे।

.3 राधाकमल मुखर्जी

धा कमल मुखर्जी सामाजिक परिस्थितिशास्त्र , मूल्यों के समाजशास्त्र तथा जनसंख्या एवं अन्य न्तर्वैधायिक विषयों पर लिखने वाले आधिकारिक विद्वान थे। हमने पहले उनका जीवन परिचय दिया ।

धाकमल मुखर्जी ने सामाजिक मूल्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके पूर्व तथा पश्चिम की विचारधाराओं को मन्वित रूप में प्रस्तुत किया। राधाकमल मुखर्जी ने सामाजिक और आर्थिक कारकों के एक दूसरे पर इने वाले प्रभावों का अध्ययन किया। आपके अनुसार सामाजिक मूल्य एवं परम्पराएं आर्थिक जीवन ो काफी मात्रा में प्रभावित करती है। मुखर्जी के अनुसार समाजशास्त्रीय विचारों को भली भाँति सम: ने लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। आपकी मान्यता है कि समाज के सामान्य सिद्धान्त ो समझने हेतु समाज की संस्तरणात्मक प्रणाली (Hierarchic system) और साथ ही उस समाज में जूद अलौकिक विश्वासों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है आपने पाश्चात्य सामाजिक म्पराओं से प्रभावित होकर आपने भारत में Ecological Sociology के विकास का प्रयास किया।

.3.1 जीवन चित्रण

धाकमल मुखर्जी का जन्म एक बड़े ब्राह्मण परिवार में 1889 में प0 बंगाल के वरहामपुर नामक एक ोटे से कस्बे में हुआ था। इन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भिक सोलह वर्ष यहीं बिताये थे। इनके पिता एक प्रसिद्ध अधिवक्ता थे।

धाकमल मुखर्जी ने अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके घर में तिहास, साहित्य, कानून और संस्कृति की पुस्तकों की भरमार थी। (1956-3) उनके पिता दिन भर पने मुवक्किलों के साथ लंबी चर्चाओं में और शाम को लंबे बौद्धिक और धार्मिक विचार विमर्श में

व्यस्त रहते थे।

20वीं शताब्दी के आरम्भ में मद्रास और उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ने से जन जीवन का बहुत विनाश हुआ था। मुखर्जी के मन पर दु:ख और विपत्ति की इन आरम्भिक स्मृतियों की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। जीवन के इसी समय में बंगाल में सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक पुनर्जागरण हुआ। सन् 1905 में बंगाल का प्रत्येक शहर बौद्धिक और राजनीतिक उत्साह से भरा था। इसी समय लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन किया गया। मुखर्जी ने लिखा कि उस समय राजनीतिक सभाओं, जुलूसों, प्रभात फेरियों, ब्रिटिश सामान के बहिष्कार और शराबबंदी के आन्दोलन द्वारा उनका पहली बार जन आन्दोलन से परिचय हुआ था। (1956:4)

मुखर्जी की प्रारम्भिक शिक्षा बरहामपुर में हुई। बरहामपुर में वे कृष्णानाथ कालेज में पढ़े। उन्हें भारत की प्रतिष्टित संस्था प्रेसीडेंसी कालेज से छात्रवृत्ति मिली। मुखर्जी ने अंग्रेजी और इतिहास के आनर्स कोर्स में प्रवेश लिया। यहाँ मुखर्जी ने कोंत, स्पेन्सर, लेसटर वार्ड, हाबहाउस और गिडिंग्स तथा कई अन्य विद्वानों के ग्रन्थों को आद्योपान्त पढ़ा । मुखर्जी अपनी इतिहास की आरम्भिक शिक्षा को बहुत महत्व देते थे, लेकिन कलकत्ता की गंदी बस्तियों में लोगों की दुर्दशा, अध:पतन के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने के बाद उनकी रुचि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की ओर मुड़ गयी। उनका कथन था कि उस समय जनसाधारण को शिक्षा देने के कार्य और उसकी जिम्मेदारी को उठाने की अत्याधिक आवश्यकता थी (1956 : 5)। भारतीय विद्यार्थी इस आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक विज्ञानों का ज्ञान पाकर ही कर सकते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में मुखर्जी के समय सामाजिक विज्ञानों के अन्तरगत एम. ए. स्तर पर अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र, और समाजशास्त्र विषय पढ़े जा सकते थे।

इस अवधि में डा. मुखर्जी विनय कुमार सरकार के निकट सम्पर्क में आये। सन् 1910 में मुखर्जी बरहामपुर में अपने पुराने कालेज में अर्थशास्त्र के अध्यापक बन कर गये। उनका कहना है कि यह उनके जीवन का व्यस्ततम काल था। इस समय मुखर्जी ने 'द फाउण्डेशन आफ इण्डियन इकानॉमिक्स' नामक अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की । इसी अवधि में उनकी सामाजिक परिस्थिति विज्ञान और क्षेत्रों (Regions) के अध्ययन में रुचि जाग्रत हुई।

सन 1915 में जब ब्रिटिश सरकार के दमन का चक्र चला तो मुखर्जी को एक दिन के लिए गिरफ्तार कर लिया गया। उनके विरूद्ध ये आरोप थे कि वे उग्रवादी हैं और उनके सभी प्रौढ़ शिक्षा विद्यालय बंद कर दिये गये। सन् 1921 में जब लखनऊ वि.वि. की स्थापना हुई तो वे वहां अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बन कर गये (1956:10) । उन्होंने इस विश्वविद्यालय में आकर अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और नृशास्त्र (Anthropology) के शोध एवं अध्यापन को एकीकृत किया।

डा. मुखर्जी अपने समकालीन तीन विचारकों ब्रजेन्द्रनाथ शील, पैट्रिक गिड्स, नरेन्द्रनाथ सेन से प्रभावित थे। कुछ विदेशी विद्वानों एडवर्ड रास, राबर्ट पार्क, मैकेंजी, पी. सोरोकिन आदि से भी मुखर्जी प्रभावित थे। इन समाजशास्त्रियों से मित्रता और बौद्धिक मेल जोल ने सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में मुखर्जी के प्रयासों को प्रेरणा दी (आर. मुखर्जी, 1956:3-20)।

डा. मुखर्जी ने लखनऊ वि.वि. में लगभग तीस वर्ष तक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का अध्यापन किया। डा. मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र और मानव सम्बन्धों के जे. के. संस्थान के निदेशक बने तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। उनकी रचनाओं की मूल प्रकृति

सामाजिक विज्ञानों में एकीकरण की रही है और वे बहुत से क्षेत्रों में पथ के अन्वेषक भी रहे हैं। इनकी मृत्यु सन् 1968 में हुई।

3.3.2 केन्द्रीय विचार

डा. राधाकमल मुखर्जी ने विभिन्न क्षेत्रों की पारस्परिक अन्तःक्रिया पर बल दिया है। मुखर्जी ने अपने अध्यापन में सामाजिक विज्ञानों एवं भौतिक विज्ञानों की पारस्परिक सहयोग भावना के आधार पर समस्याओं को हल करने पर बल दिया है।

सामाजिक परिस्थितिकी (Social Ecology)

डा. राधाकमल मुखर्जी के अनुसार सामाजिक परिस्थिति विज्ञान एक मिश्रित व्यवस्था है, जिसमें कई सामाजिक विज्ञानों का परस्पर प्रभाव होता है। परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में भूवैज्ञानिक, भौगोलिक और जैविक कारक सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही परिस्थिति विज्ञान, सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक कारकों से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, इतिहास में राजनैतिक क्षेत्र विस्तार के लिए नए-नए क्षेत्रों में लोगों को बसाया जाता था। चूँकि परिस्थिति विज्ञान और समाज के बीच स्पष्ट सम्बन्ध है इसलिए परिस्थितिक क्षेत्र के विकास को गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखने की आवश्यकता है, इसका अभिप्राय है कि जब नए क्षेत्रों में लोगों को बसाया जाता है, तब वे अपनी जरूरतों के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं।

परिस्थितिक संतुलन का अभिप्राय यह नहीं है कि बिना सोचे समझे किसी क्षेत्र में लोगों को बसा दिया जाए। इस प्रकार के प्रयास से सामाजिक ढाँचा कमजोर या नष्ट हो जाता है, जैसे बाँधों से विस्थापन प्रक्रिया . उत्तर भारत में सामाजिक कर्तव्यों के बोध पर आधारित व्यवस्था 'जजमानी व्यवस्था' कही जाती है। अगर लोगों को विस्थापित होकर दूसरे क्षेत्रों में जाना पड़े तो यह व्यवस्था तत्काल समाप्त हो जाती है। यदि हम पहले से ही किसी विकल्प की योजना बना लें तभी इस प्रकार के विघटन से बचा जा सकता है। पारस्परिक निर्भरता की सामाजिक व्यवस्था का स्थान सहकारी व्यवस्था ले सकती है। इसलिए भारत को ग्रामीण औद्योगिक अर्थव्यवस्था के व्यवस्थित रूप में रूपान्तरित करने के लिए सामाजिक परिप्रेक्ष्य का होना आवश्यक है।

मुखर्जी की सामाजिक परिस्थिति विज्ञान में रुचि होने के कारण उन्होंने क्षेत्रीय समाजशास्त्र का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीय विकास के क्षेत्रीय आयामों को और अच्छी तरह से समझने का सुझाव दिया। आधुनिक भारत में विभिन्न क्षेत्रों का विकास उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए किया जाए तो इससे पूरे देश को लाभ होगा। भारत में अलग अलग क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्येक का अपना अलग नृजातीय इतिहास है। इसलिए पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के लिए विकासात्मक योजनाओं से समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। संक्षेप में मुखर्जी के मत में आर्थिक वृद्धि और पारिस्थितिक क्षमता में संतुलन बना रहना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत के आधुनिक स्वरूप में उसकी परम्परा को सुरक्षित रखना होगा।

डा. मुखर्जी ने वनों की कटाई से होने वाले खतरे के बारे में भी लिखा है। फसल चक्र (Crop cycle) की चर्चा भी प्रो. मुखर्जी ने की है। उन्होंने गांव, शहर व देश को एक व्यापक आधार वाली विकासात्मक प्रक्रिया के रूप में एकीकृत करने का समर्थन किया। उन्होंने यह भी कहा कि गांवों की कीमत पर शहरों

का विकास करने पर रोक लगाई जानी चाहिए। कृषि में विविधता लाई जानी चाहिए और उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करना चाहिए। मुखर्जी ने देश के समन्वित विकास के लिए संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण पर बल दिया है।

नैतिक मूल्यों का सिद्धान्त

राधाकमल मुखर्जी की रुचि मानव समाज पर नैतिक मूल्यों के प्रभाव के सम्बन्ध मे लम्बे समय से रही है। हाल ही के कुछ दशकों में मूल्यों से रहित सामाजिक विज्ञान के विचार ने पश्चिमी देशों और भारत के शैक्षिक क्षेत्रों मे जोर पकड़ा। मुखर्जी के विचार में तथ्य और मूल्य को अलग-अलग समझना सही नहीं होगा। हर समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है तथा इसके मूल्य और प्रतिमान लोगों के व्यवहार का निर्देशन करते हैं। इसलिए पश्चिम की प्रत्यक्षवादी (Positivistic) परम्परा जो तथ्यों और मूल्यों को अलग करना चाहती है, भारतीय समाज के अध्ययन के सन्दर्भ में मुखर्जी को सही नहीं लगी। पश्चिमी जगत् में वैज्ञानिक जांच को चर्च अर्थात धार्मिक क्षेत्र से स्वतन्त्र रखना अनिवार्य था, इसलिए संभवत: वहां तथ्यों और मूल्यों को अलग रखने की आवश्यकता महसूस हुई। मानवीय आवश्यकताओं को सामाजिक मूल्यों में परिवर्तित कर दिया जाये, तो ये मूल्य समाज के सदस्यों के मन में निविष्ट हो जाते हैं।

मुखर्जी के मूल्यों के सिद्धान्त के तीन केन्द्रीय मुद्दे हैं। एक तो ये मूल्य जनसमूह की आधारभूत अंत: प्रेरणाओं को व्यवस्थाबद्ध रूप में संतुष्ट करते हैं। इसका तात्पर्य है कि सामूहिक रूप से मिलकर रहने से स्वार्थपरक इच्छाएं और रुचियां परिष्कृत हो जाती है, क्योंकि समाज में लोगों के बीच आदान प्रदान की प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है। दूसरे, मूल्यों का स्वरूप सामान्य होता है। इसका अभिप्राय है कि प्रतीकात्मकता के माध्यम से सभी लोग इन मूल्यों में साझीदार होते हैं, उदाहरणार्थ :- किसी भी राष्ट्र के सभी व्यक्तियों और वर्गों के लिए राष्ट्रीय झंडा एक समान प्रतीक हैं।

तीसरे, मानव समाज में विभिन्नताओं के बावजूद कुछ सार्वभौम मूल्य भी होते हैं। मानव समुदाय के सभी प्रमुख धर्म इन्हीं सार्वभौम मूल्यों तथा प्रतिमानों के भंडार हैं। समाज के प्रति गतिशील दृष्टिकोण का उद्‌देश्य होगा कि समकालीन समय की जरूरतों के अनुसार समाज में परम्परागत मूल्यों का रूपान्तरण होना चाहिए।

मुखर्जी ने मूल्यों को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''मूल्य समाज द्वार मान्यता प्राप्त इच्छाएं एवं लक्ष्य हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान (Subjective preferences) तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं''।

डा. मुखर्जी ने लिखा है कि साध्य मूल्य (Intrinsic values) वे लक्ष्य तथा सन्तोष है, जिन्हें मनुष्य तथा समाज, जीवन तथा मस्तिष्क के विकास व विस्तार की प्रक्रिया में अपने लिए स्वीकार कर लेते हैं। जो व्यक्ति के आचरण में निहित होते हैं और जो स्वयं साध्य होते हैं। इसके विपरीत साधन मूल्य (Instrument values) वे मूल्य हैं जिन्हें मनुष्य और समाज प्रथम प्रकार के मूल्यों की सेवा हेतु एवं उन्हें उन्नत करने के साधन के रूप में मानते हैं। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सुरक्षा, सत्ता, पेशा, प्रस्थिति से सम्बन्धित मूल्य साधन मूल्य हैं।

डा. मुखर्जी के अनुसार सभी मूल्य एक ही स्तर के नहीं होते अपितु उनमें एक संस्तरण देखने को मिलता है। इस संस्तरण का सम्बन्ध मूल्यों के आयामों (dimensions) से होता है। मूल्यों के आयाम तीन हैं — (i) जैविक (biological) (ii) सामाजिक (Social) (iii) अध्यात्मिक (Spritual)। जैविक मूल्य स्वास्थ्य,

गवन निर्वाह कुशलता (efficiency), सुरक्षा आदि से सम्बधित होते हैं। सामाजिक मूल्य सम्पत्ति, स्थिति, प्रेम तथा न्याय से सम्बन्धित होते हैं। अध्यात्मिक मूल्य सत्य, सुंदरता, सुसंगति तथा पवित्रता उपयक होते हैं।

ा मुखर्जी ने मूल्यों के सोपान या संस्तरण को निम्न सारणी के रूप में प्रस्तुत किया है –

मूल्यों का सोपान व संस्तरण

ल्यों के आयाम **Dimensions of Values)**	मूल्यों के गुण **(Qualities of Values)**	मूल्यों का संस्तरण **(Hierarchy of Values)**
i) जैविक : (Biological)		
वास्थ्य, उपयुक्तता	साधनमूल्य, बाह्य मूल्य	जीवन-निर्वाह
शलता, सुरक्षा तथा निरन्तरता	क्रियात्मक मूल्य	तथा अग्रगति
ii) सामाजिक :**(Social)**		
म्पत्ति, प्रस्थिति, प्रेम व	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य,	सामाजिक संगठन
याय	क्रियात्मक मूल्य	तथा सुव्यवस्था
iii) आध्यात्मिक : **(Spiritual)**		
त्य, सौन्दर्य , सुसंगति तथा	साध्य मूल्य, अन्तर्निष्ठ	आत्मलोकातीकरण
वित्रता	मूल्य, लोकातीत मूल्य	(Transcedental)

सार्वभौम एकता की संकल्पना

खर्जी ने समाज के सामान्य सिद्धान्त द्वारा सार्वभौम सभ्यता के मूल्यों की व्याख्या करनी चाही।

. मुखर्जी के अनुसार मानव सभ्यता का अध्ययन तीन स्तरों पर किया जाना चाहिए—

1) मानव के जैविक विकास ने सभ्यता के उदय व विकास में सहायता की। मानव में, एक सक्रिय सदस्य के रूप में अपने पर्यावरण को बदलने की क्षमता थी। जानवर केवल अपने आप को पर्यावरण के अनुसार ढाल सकते थे। जबकि मनुष्य इसे विभिन्न प्रकार से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ढाल सकता था।

2) दूसरे, इसका एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक आयाम भी था। सामाजिक मनोविज्ञान में मानव जाति का वर्णन प्राय: जाति, नृजातीयता या राष्ट्रीयता के ढाँचे में किया जाता था। ऐसा समझा जाता था कि मानव जाति संकुचित या नृजातिकेन्द्रित होती है लेकिन इसके विपरीत मानव जाति में इस बात की भी सक्षमता है कि वे अपनी संकीर्ण भावनाओं को दबाकर सार्वभौकिता को पा सकते हैं। इसका अभिप्राय है कि वे अपने आप को राष्ट्र या विश्व समुदाय की समष्टि के सदस्य के रूप में देख सकते हैं।

3) तीसरे, सभ्यता का एक अध्यात्मिक आयाम भी था। धीरे धीरे मनुष्य जीवजन्य (biogenic) और अस्तित्व (Existential) सम्बन्धी स्तरों के प्रतिबंधों को पार करता हुआ अध्यात्मिकता की सीढ़ियों

पर चढ़ता जा रहा था। इस प्रयास में कला, धर्म तथा मिथक ने अध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। अब तक सामाजिक विज्ञानों ने इन सांस्कृतिक तत्वों को उपेक्षापूर्ण तरीके से देखा था।और ये किसी भी प्रकार का अध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में पूर्णतया असफल रहे थे। मैनहाइम ने इस बात पर ध्यान दिया कि पाश्चात्य समाज विज्ञानियों ने प्रत्यक्षवाद और संरचनात्मक प्रकार्यवाद के कठोर नियमों के अन्तरगत सांस्कृतिक आयामों को उपेक्षित कर दिया था। मुखर्जी के अनुसार मानव जाति की एकता, पूर्णता और श्रेष्ठता की खोज ने सभ्यता की अध्यात्मिकता के महत्व को प्रदर्शित किया। भारतीय व चीनी सभ्यताएं इसी प्रकार की सार्वभौमिक सभ्यताएं थीं, जिन्होंने अध्यात्मिक खोज को प्रोत्साहित किया।

3.3.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

(i) द रीजनल बैलेंस आफ मैन (1938)

(The Regional Balance of Man)

(ii) इण्डियन वर्किंग क्लास (1940)

(Indian working class)

(iii) दि सोशल स्ट्रक्चर आफ वैल्यूज (1955)

(The Social structure of values)

(iv) फिलॉसफी आफ सोशल साइंसेस (1960)

(Philosophy of Social Sciences)

(1) दि डाइमेन्शन आफ वैल्यूज (1964)

(The Dimension of Values)

3.4 धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (1894-1962)

प्रो. धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (डी. पी. मुखर्जी) मार्क्सवादी थे और ये किसी भी विश्लेषण में द्वन्द्ववादी उपागम को अनुप्रयोगित करते थे। परम्परा, आधुनिकता, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद एवं व्यक्तिवाद तथा समूहवाद में पारस्परिक द्वन्द्व दिखाई देता है। प्रो. डी.पी. मुखर्जी अपनी अध्यापन शैली के कारण विद्यार्थियों के बीच खासे लोकप्रिय थे। ये अपने आप को मार्क्सवादी न कहकर मार्क्सयोलाजिस्ट कहलाना पसन्द करते थे।

3.4.1 जीवन चित्रण

डी. पी. मुखर्जी का जन्म बंगाल के एक मध्यमवर्गीय ब्राहमण परिवार में सन 1894 ई0 में हुआ था। इस अवधि में रवीन्द्र नाथ ठाकुर, बंकिम चन्द्र और शरदचन्द्र चटर्जी का साहित्यिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभाव था। वास्तव में बंगला साहित्य का यह पुनर्जागण काल था। डी. पी. पहले इतिहास के विद्यार्थी थे बाद में अर्थशास्त्र में डिग्री हासिल की। ये प्रारम्भ में साहित्य पढ़ने एवं साहित्य लेखन में रु चि रखते थे। इन्होंने कई कहानियां एवं उपन्यास भी लिखे। सन 1922 ई0 में लखनऊ वि. वि. में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के प्रवक्ता नियुक्त हुये। ये स्वयं को मार्क्सियोलाजिस्ट (Marxiologist) कहते थे। डी. पी. ने मार्क्स के विचारों को भारतीय परम्परा से जोड़ दिया। मार्क्स के विचारों को भारतीय इतिहास एवं परम्परा के अनुरूप अपनाया। इसीलिए उन्होंने सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन पर विशेष बल दिया।

डी. पी. मुखर्जी के समय समालोचना अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इसका प्रभाव इनकी कृतियों पर भी दिखाई देता है। इनके पास किसी समस्या को नये दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि थी। (राव 1965— VIII) डी. पी. मुखर्जी सौंदर्यबोधी थे। इनकी लेखन शैली तीखी एवं प्रभावशाली थी। ये परिष्कृत रु चि के व्यक्ति थे। ये अपने मनोभावों को बहुत कम अवसरों पर प्रकट करते थे। इनका विचार था कि मनोभावों को प्रकट नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा आत्मसात कर लेना चाहिए।

डी. पी. मुखर्जी कुछ समय के लिए सूचना निदेशक के पद पर रहे। उनके व्यक्तिगत प्रभाव से जनसंपर्क के क्षेत्र में बौद्धिक दृष्टिकोण की भावना पैदा हुई। ये आर्थिक और सांख्यिकी ब्यूरों के संस्थापकों में से थे। सन 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ में युद्ध के मुद्दे पर कांग्रेस के ब्रिटिश सरकार से अलग हो जाने पर पुनः मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय लौट आये। सन 1947 में इन्हें उ0 प्र0 श्रमिक जाँच समिति का सदस्य चुना गया।

लखनऊ से सेवानिवृत्त होने से एक वर्ष पूर्व सन् 1953 में उन्हें अलीगढ़ में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद के लिए आमंत्रित किया गया। मुखर्जी पांच वर्ष तक अलीगढ़ में रहे फिर अन्तराष्ट्रीय सामाजिक अध्ययन संस्थान (International Institute of Social Studies), हेग गये। ये भारतीय समाज शास्त्रीय सगठन के संस्थापक सदस्य एवं प्रबंध समिति तथा सम्पादक मंडल के सदस्यों में से एक थे।

1962 में समाज विज्ञान का यह दैदीप्यमान नक्षत्र गले के कैंसर के कारण अस्त हो गया। परन्तु आज भी मुखर्जी अपने विद्यार्थियों के माध्यम से जीवित हैं (राव, एम. एस; उनीथान, 1965)

3.4.2 केन्द्रीय विचार

डी. डी. पी. मुखर्जी के अनुसार मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास की स्थितियों को समझने में तो सहायता की परन्तु मानव कल्याण के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका। मुखर्जी के अनुसार इसका उत्तर भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार में निहित है। मुखर्जी ने सामाजिक विज्ञानों में प्रत्यक्षवाद का विरोध किया। क्योंकि इसमें व्यक्तियों को जैविक या मनोवैज्ञानिक इकाइयों के रूप में देखा गया। पश्चिम की औद्योगिक संस्कृति ने व्यक्तियों को स्वार्थपरायण बना दिया।

प्रत्यक्षवाद ने वैयक्तिकता पर अधिक ध्यान देकर व्यक्ति की भूमिकाओं और अधिकारों को स्वीकार करके मानवता के सामाजिक आधार को नकार दिया।

भारतीय समाज में परम्परा की भूमिका

परम्पराएं किसी भी संस्कृति का आधार होती हैं, ये परम्पराएं ही व्यक्ति को दिशा दर्शाती हैं। इन्हीं से व्यक्ति को कार्य सन्दर्भ दृष्टिकोण मिलता है। परम्पराएं संस्कृति की वाहक भी होती हैं। परन्तु कभी-कभी परम्पराएं रूढ़ बन जाती हैं, चूँकि उनसे व्यक्ति में जड़ता का बोध होने लगता है, जैसे - भारत के सन्दर्भ में।

परम्परा के प्रति लोगों में आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव होने पर उसमें जड़ता आना स्वाभाविक था। इसमें व्यक्तिकता का भी ध्यान रखना चाहिए। व्यक्ति स्वतंत्र रहकर ऐसा कुछ नवीन सृजित कर सकता है, जो संस्कृति में कुछ अधिक जोड़ सकता है। इस तरह वह संस्कृति के पुनर्निमाण में सहभागी बन सकता है। स्वस्थ राष्ट्र, समाज एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए वैयक्तिकता एवं समाजन (Sociation) दोनों आवश्यक है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ मुखर्जी कभी भी अव्यवस्था से नहीं लगाते थे, बल्कि इसे परम्परा की सृजनात्मक अभिव्यक्ति मानते थे।

भारतीय संस्कृति : एक विश्लेषण

डी. पी. मुखर्जी की रु चि हिन्दू -मुस्लिम सम्बन्धों का वर्णन करने में थी। सत्य की खोज के इस प्रयास में

उन्हें भारतीय सांस्कृतिक विविधता में मानवतावादी और आध्यात्मिक एकता के दर्शन हुए। इस संदर्भ में वे हिन्दू-मुस्लिम अंत: क्रिया के व्यापक ढांचे में कई क्षेत्रों की जांच कर रहे थे। इनमें अंत: क्रिया के तीन ऐसे क्षेत्र थे जिनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत में 11वीं ईसवी से 17वीं ई0 तक मुस्लिम बादशाहों ने हिन्दू प्रजा पर शासन किया, परन्तु इस दौरान संधियां भी हुईं। इस प्रकार दोनों के बीच भाईचारा विकसित हुआ।

सांस्कृतिक दृष्टि से साहित्य, संगीत, वेशभूषा, ललित कलाओं के विकास आदि में दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव था। उत्तर भारत में सूफी मत और भक्ति सम्प्रदाय ने आपसी अंत: क्रियाओं को प्रोत्साहित किया। परन्तु विश्व की धारणा के सम्बन्ध में दोनों वर्गों का दृष्टिकोण भिन्न भिन्न था। हिन्दुओं की राष्ट्रीयता की भावना आदर्शवादी थी, जबकि इस्लाम की धारणा व्यावहारिक थी। इस्लाम का चक्र परम्परा में विश्वास नहीं था। वे भाग्यवादी भी नहीं थे। इसलिए इनका विश्वास राजनैतिक संकट या अवसर का पूरा फायदा उठाकर सीधी कार्यवाही करने में था।

व्यक्तित्व के विकास के सन्दर्भ में

पश्चिम में व्यक्तित्व के प्रत्यक्षवादी स्वरूप को आदर्श स्वरूप बनाने का प्रयास किया गया। मनुष्य ने जनसाधारण के जीवन की स्थितियों के सुधार के लिए विज्ञान और प्रोद्योगिकी का प्रयोग किया। मानव की प्रकृति पर नियन्त्रण की क्षमता तथा उसका अपने लाभ के लिए उपयोग करना ये दोनों आधुनिक युग की उल्लेखनीय उपलब्धियां थी। लेकिन पाश्चात्य पद्धति से मनुष्य का समन्वित विकास संभव नहीं हुआ। व्यक्तित्व के समन्वित विकास के लिए प्रोद्योगिक विकास और मनुष्य की स्वतंत्रता के बीच संतुलन की आवश्यकता थी। सोवियत रूस जैसे समाजवादी समाज में भी व्यक्तित्व के सकारात्मक विकास में उतनी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, चूँकि राज्य का दबाव व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्वतंत्रता के दायरे के अन्दर सीमित किए था। डी. पी. मुखर्जी के द्वन्द्ववाद का आधार मानवतावाद था, जो संकुचित नहीं था। पाश्चात्य जगत् की प्रगति में मानवतावाद का अभाव है। पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्तियों को प्रभावहीन मध्यकालीन परम्परा की कैद से स्वतंत्र तो करा दिया, लेकिन साथ ही प्रगति के मानवतावादी अंश को कम कर दिया। भारत में मध्यम वर्ग का उद्भव भारत पर पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ। ये मध्यम वर्ग के लोग अपनी ही मूल स्थानीय परम्परा से उखड़ गये थे। इनका जनसाधारण से सम्पर्क टूट गया था। भारत एक आधुनिक राष्ट्र बन सकता था, यदि मध्यम वर्ग जनसाधारण के साथ रहता। भारत एक आधुनिक राष्ट्र बन सकता था, यदि मध्यम वर्ग जनसाधारण के साथ सम्पर्क बना लेता। वृद्धि केवल परिमाणात्मक उपलब्धि है। विकास का अभिप्राय गुणात्मक (Qualitative) वृद्धि से है जो मूल्यों पर आधारित प्रगति की सूचक है।

3.4.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

डी. पी. मुखर्जी की समाज शास्त्र पर महत्वपूर्ण कृतियां निम्नलिखित हैं-

(i) बेसिक कान्सेप्ट्स इन सोशियोलॉजी (1932)

(ii) मार्डन इंडियन कल्चर (1942)

(iii) प्राब्लम्स आफ इंडियन यूथ्स (1946)

(iv) डाइवर्सिटीज (1958)

(1) पर्सनालिटी एण्ड दि सोशल साइन्सेज (1924)

प्रो. धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी की दो महत्वपूर्ण कृतियां हैं, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। जैसे 'माडर्न इंडियन कल्चर' एवं 'डाइवर्सिटीज'।

3.5 गोविन्द सदाशिव घुरिये (जी. एस. घुरिये)

भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी समाजशास्त्रियों में जी. एस. घुरिये का नाम सम्मान से लिया जाता है। इन्होंने भारत में समाजशास्त्र को सुदृढ़ करने का कार्य किया। जाति और जनजाति, तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मुख्य निर्णायक आधारों पर इनका अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र की निधि है, जो कल के साथ साथ आज भी प्रासंगिक है। इन्होंने भारतशास्त्रीय उपागम (Indological Approach) का विकास किया।

3.5.1 जीवन चित्रण

प्रो. जी. एस. घुरिये के समस्त जीवन को जानने के लिए 1973 ई0 में स्वयं घुरिये द्वारा लिखित पुस्तक 'आई एण्ड अदर इक्सप्लोरेशन्स' को आधार बनाया गया है। गोविन्द सदाशिव घुरिये का जन्म 12 दिसम्बर 1893 को भारत के पश्चिमी तट पर स्थित मालवा क्षेत्र जो कि महाराष्ट्र राज्य में स्थित है में हुआ था। इनका प्रारम्भिक शैक्षणिक जीवन उच्चकोटि का रहा है। इन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की।

सन् 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र विषय पढ़ाने के लिए प्रो. पैट्रिक गिड्स को आमन्त्रित किया। इस समय घुरिये एल्फिन्सटन कालेज, मुम्बई में संस्कृत के प्राध्यापक थे। गिड्स ने ब्रिटिश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रशिक्षण पाने के लिए घुरिये का चयन किया। उनकी सिफारिश पर बम्बई वि.वि. ने इन्हें लन्दन भेजा। कुछ समय तक प्रो. एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययन के बाद डा. रिवर्स के मार्गदर्शन में 'Ethnic Theory of Caste' विषय पर शोध कार्य किया। प्रो. घुरिये का शोध मानवशास्त्रीय अभिमुखन लिए था।

सन् 1923 में घुरिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर भारत लौट आये। सन् 1924 में इन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के रीडर एवं अध्यक्ष पर पर नियुक्ति प्रदान की गयी। सन् 1959 ई0 में ये सेवानिवृत्त हुए।

प्रो. घुरिये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्रीय परम्पराएं विद्यमान हैं। उन्होंने न केवल स्वयं, बल्कि अपने छात्रों को भी अनुभवाश्रित अध्ययन एवं अनुसंधान करने के लिए प्रेरित किया। प्रो. घुरिये ने 25 से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। प्रो. घुरिये ने इण्डियन सोशियोलाजिकल सोसाइटी (Indian Sociological Society) की स्थापना की और इसके तत्वाधान में 1952 में "सोशियोलाजिकल बुलेटिन" (Sociological Bulletin) नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। प्रो. घुरिये Anthropological society of Bombay के 1945-50 तक अध्यक्ष रहे।

इन्होंने जातियों, जनजातियों, ग्रामीण शहरीकरण, भारतीय साधुओं, और भारतीय वेशभूषा के बारे में व्यापक अध्ययन किया। यह विश्व प्रसिद्ध समाजवैज्ञानिक 1984 ई0 में हमसे जुदा हो गया।

3.5.2 केन्द्रीय विचार

प्रो. घुरिये ने जाति की विशेषताओं, उत्पत्ति, विभिन्न युगों में उसमें होने वाले परिवर्तनों, जाति एवं प्रजाति तथा अन्य अवधारणाओं, अनुसूचित जातियों, व्यवसाय एवं जाति का भविष्य, अनुसूचित जनजातियां-समस्याएं एवं समाधान, भारत में सामाजिक तनाव, आदि विषयों पर गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रो. घुरिये के जाति प्रथा पर विचार

प्रो. घुरिये ने जाति से सम्बन्धित अपने विचारों की विस्तृत विवेचना 'Caste, class and occupation' पुस्तक में की है। घुरिये ने जातिप्रथा की ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं एकीकृत परिप्रेक्ष्य में जांच की है। इन्होंने परिभाषा के विवाद में न पड़कर इसके लक्षणों की चर्चा की है। जाति प्रथा की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है:-

(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य सुनिश्चित हैं। खण्ड विभाजन से तात्पर्य— एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती है।

(2) संस्तरण (Hierarchy)

समाज में सभी जातियों की स्थिति समान नहीं है, वरन उनमें ऊँच नीच का एक संस्तरण या उतार-चढ़ाव पाया जाता है। ऊँच-नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान ऊंचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय और वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है।

(3) पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of unrestricted choice of occupation)

प्राय: प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। मुगल काल से जाति के प्रतिबन्ध ढीले होने लगे। बेन्स का मत है कि "जाति का पेशा परम्परागत होता है। परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी पेशे के द्वारा सभी जातियां जीवन-निर्वाह कर रही हैं।

(4) नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार (Civil and religious disabilities and Privileges)

जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। विशेषकर दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लाद दी गयीं।

(5) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Fooding and Social Intercourse)

जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते हैं जैसे किसके हाथ का बना कच्चा भोजन करना है, किसके हाथ का बना पक्का भोजन करना है। सामान्यतया ऊँची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियां स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु निम्न जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी-कभी पक्का भोजनभी उच्च जातियाँ स्वीकार नहीं करती हैं।

6) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction of Marriage)

जाति की एक प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक जाति अपनी जाति या उपजाति में विवाह करती है। वेस्टरमार्क तो जाति अन्तर्विवाह को जाति का सार माना है। यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूदरी ाह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा पायी जाती हैं।

ो. घुरिये ने जाति समूहों की प्रकृति का उल्लेख किया है। वैदिक युग से लेकर ब्रिटिश काल तक जाति प्रथा होने वाले परिवर्तनों का प्रो. घुरिये ने विभिन्न प्रमाणों के साथ उल्लेख किया है।

ारत में जनजातियों का अध्ययन

ो. एस. घुरिये ने अपने अध्ययन में जनजातियों पर व्यापक शोधकार्य किया है। इसके साथ इन्होंने जनजातियों विशिष्ट मुद्दों पर भी अध्ययन किया है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों पर अपनी एक पुस्तक में भारत की नजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया । प्रो. घुरिये ने महाराष्ट्र के ोलियों का अध्ययन किया। घुरिये के विचार से भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े हुए हिन्दुओं जैसी ो। इनके पिछड़ेपन का कारण था इनका हिन्दू समाज से पूरा एकीकृत न हो पाना। दक्षिण मध्य भारत में रहने ाले संथाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ भाग हिन्दू समाज से पूर्णतया एकीकृत हो गये हैं। रिस्थितियों के मद्देनजर इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये लोग हिन्दू समाज में पूर्ण रूप से वर्ग ीं हैं । (1963)

नजातीय जीवन में हिन्दू धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों को सम्मिलित करना एक सही कदम था। हिन्दुओं के ामाजिक वर्गों के सथ बढ़ते सम्पर्क के कारण जनजातियों ने धीरे-धीरे हिन्दुओं के कुछ मूल्यों और जीवन द्धति को अपना लिया। फलस्वरूप जनजाति के लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया। शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ र दिया और हिन्दू कृषकों के प्रभाव से कृषि के तरीकों में भी सुधार किया।

रिये ने "The Scheduled Tribes' नामक पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं एवं समाधान के बारे में स्तार से चर्चा की है। इससे पहले 'The Aborigins - so called and their future' नाम से घुरिये ने पुस्तक ाखी थी। इस पुस्तक में घुरिये ने जनजातियों के विभिन्न नामों जैसे- आदिवासी, मूल निवासी, जनजाति, नुसूचित जनजातियों आदि का उल्लेख किया है। साथ ही जनजातियों का हिन्दुओं, ईसाइयों एवं अन्य लोगों सम्पर्क एवं उनमें सात्मीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का उल्लेख किया गया है। जनजातियों के प्रति ्रेज शासकों की नीति का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु द्धजीवियों द्वारा प्रस्तुत तीन दृष्टिकोण राष्ट्रीय उपवन, (National Park) पृथक्करण (Isolation) एवं त्मीकरण (Assimilation) का उल्लेख किया गया है।

घुरिये की समाजशास्त्रीय जगत् को देन में से कुछ निम्नांकित हैं।

) प्रो. घुरिये ने जाति की उत्पत्ति का प्रजातीय सिद्धान्त प्रदान किया। तथा जाति का भारत शास्त्रीय idologic) विश्लेषण किया। उन्होंने भारत के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर भारत में जाति और ाजाति का विश्लेषण किया। उन्होंने भारत के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर भारत में जाति और ाजाति का विश्लेषण किया।

) भारतीय जनजातियों को घुरिये ने पिछड़े हिन्दू माना है तथा उनकी समस्याओं के समाधान हेतु वे हिन्दू ाज में उन्हें आत्मसात करने का सुझाव देते हैं।

) तीसरी देन नातेदारी के क्षेत्र में है। घुरिये ने सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के सन्दर्भ में नातेदारी शब्दावली

एवं नातेदारी का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

(4) घुरिये ने सदैव समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने समाज की समस्याओं का अध्ययन और उन पर विचार उसी तरह व्यक्त किये जिस प्रकार 19वीं व 20वीं सदी के समाजशास्त्रियों ने किये थे। उन्होंने इस सांस्कृतिक प्रत्यावर्तन की घड़ी में विश्वविद्यालय की भूमिका का उल्लेख भी किया।

(5) घुरिये की एक महान देन यह है कि उन्होंने देश को अनेक लब्ध प्रतिष्ठित समाजशास्त्री प्रदान किए जो देश के विभिन्न भागों में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्ययन और अध्यापन कर रहे हैं। उन्होंने एम. एन. श्रीनिवास जैसे महान समाजशास्त्रियों को शिष्यत्व प्रदान किया। इसके अतिरिक्त ए. आर. देसाई, एम. एस. गोरे, आई. पी. देसाई, वाई. वी. दामले, एम. एस. राव, इरावती कर्वे, के. एम. कपाड़िया जैसे महान समाजशास्त्री भी आपके छात्र रहे हैं।

भारत की प्रजातियों पर प्रो. घुरिये के विचार (Views of Prof. Ghurye on races of India)

रिजले ने भारत में सात प्रकार के प्रजातीय तत्वों - तुर्की-इरानियन, इण्डो आर्यन, सीथो-द्रविडियन, आर्यो द्रविडियन, मंगोलो -द्रविडियन, मंगोलायड एवं द्रविडियन का उल्लेख किया है। प्रो. घुरिये ने भारत की हिन्दू जनसंख्या में छः मुख्य प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है।

(1) भारतीय आर्य (Indo-Aryan) — इस प्रजाति से सम्बन्धित लोग पंजाब, राजपूताना, तथा संयुक्त प्रान्त के भागों तक फैले हैं।

(2) पूर्व द्रविडियन (Pre-Dravidian) — इस प्रजाति के तत्व संयुक्त प्रान्त की निम्नतर जातियों एवं बिहार की जनसंख्या में फैले हैं।

(3) द्रविड (Dravidian) — ये प्रजातीय तत्व दक्षिण के तमिल तथा मलयाली भाषा भाषी जिलों तक फैले हैं।

(4) मंगोल (Mangoloid) — ये प्रजातीय तत्व हिमालय नेपाल तथा असम तक फैले है।

(5) पश्चिमी (Western) — पश्चिमी प्रतिरूप पश्चिमी सीमा से मालाबार के उत्तर, मैसूर एवं महाराष्ट्र में पाया जाता है।

(6) मुंडा (Munda) — इस प्रकार के प्रजातीय तत्व छोटा नागपुर के चारों ओर केन्द्रित हैं।

इसके अतिरिक्त प्रो. घुरिये ने सभ्यता और संस्कृति के बारे में अपनी पुस्तक 'Cities and Civilization' में तथा भारत और यूरोपीय संस्कृति में पायी जाने वाली पारिवारिक एवं नातेदारी व्यवस्था का तुलनात्मक एवं विस्तृत ऐतिहासिक ब्योरा अपनी पुस्तक 'Family and Kin in Indo-European Culture' नामक पुस्तक में दिया है।

भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका (Role of Sadhus in Indian Tradition)

घुरिये ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन साधूज', (Indian Sadhus) में संयास की दोहरी प्रकृति की समीक्षा की। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि साधुओं या संन्यासियों को सभी जाति प्रतिमानों, सामाजिक परम्पराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः वह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में यह आम रिवाज है कि जब इनके समूह का कोई व्यक्ति संन्यास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे इसका 'नकली दाहसंस्कार' कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह समाज के लिए तो मृत समान

लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका पुनर्जन्म होता है।

तीय साधुओं का काम धार्मिक विवादों में मध्यस्थता करना था। ये धर्मग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के क्षक थे और बाहरी हमलों से धर्म की रक्षा करते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज में संन्यास एक रचनात्मक क के रूप में था। बंकिम चन्द्र चटर्जी का बंगला उपन्यास 'आनंद मठ' शैव साधुओं की कहानी है। इन ुओं ने उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश फौजों के विरूद्ध सशस्त्र संघर्ष में भाग लिया था।

5.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

गोविन्द सदाशिव घुरिये ने समाजशास्त्र के लगभग प्रत्येक आयाम पर लिखा, इसलिए इनकी कृतियां न ल समाजशास्त्रियों बल्कि अन्य विधाओं से सरोकार रखने वाले विद्वानों के लिए भी समान रूप से गिक हैं।

ी कृतियां इस प्रकार हैं :-

दि अवारिजिन्स - सो काल्ड एण्ड दियर फ्यूचर (The Aborgins - Socalled and their future)

गाड्स एण्ड मेन 1962 (Gods and Men, 1962)

सिटीज एण्ड सिवलाइजेशन 1962 (Cities And Civilization, 1962)

फेमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर 1962

(Family And Kin in Indo-European Culture)

एनाटमी आफ ए ररबन कम्यूनिटी, 1963 (Anatomy of A Rurban Community)

दि महादेव कोलीज 1963 (The Mahadev Colis)

दि शिड्यूल्ड ट्राइब्स 1963 (The Scheduled Tribes)

इण्डियन साधूज 1964 (Indian Sadhus, 1964)

राजपूत आर्किटेक्चर 1968 (Rajput Architecture)

सोशल टेन्शन इन इण्डिया 1968 (Social Tension in India)

कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन 1961 Caste, Class and Occupation)

आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन (I and other Exploration) 1973

इण्डियन कास्ट्यूम (Indian Costume)

सोशल प्रोसेस (Social process)

सारांश

इकाई में संस्थापक समाज शास्त्रियों के जीवन चरित्र एवं उनके योगदानों की चर्चा की गई है।

र राधाकमल मुखर्जी, प्रोफेसर डी. पी. मुखर्जी, एवं प्रो. गोविन्द सदाशिव घुरिये तीनों ही ाशास्त्र की मुख्य धारा के दैदीप्तमान नक्षत्र थे। प्रो. राधाकमल मुखर्जी का अनुकूलतम जनसंख्या का त (Theory of Optimum Population) आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

ो. पी. मुखर्जी का योगदान परम्परा और आधुनिकता के सहअस्तित्व एवं पश्चिम और पूर्व के रिक सम्मिलन की विचारधारा का विकास, आज भी भारतीय समाज विज्ञानों में नवीनतम प्रयोग का

परिचायक है। प्रोफेसर डी. पी. मुखर्जी ने कला, सौन्दर्यशास्त्र तथा युवाओं के ऊपर भी लिखा। प्रोफेसर डी. पी. मुखर्जी ने लिखा है कि भारतीय समाज का कोई भी अध्ययन परम्पराओं के बिना पूरा नहीं हो सकता है।

राधाकमल मुखर्जी का क्षेत्रीय समाजशास्त्र (Regional Sociology) एवं सामाजिक परिस्थितिशास्त्र (Social Ecology) का तत्कालीन अध्ययन नगर- नियोजकों एवं पर्यावरणविदों के लिए आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

समाजशास्त्र के प्रथम प्रोफेसर जी. एस. घुरिये का भारतीय समाजशास्त्र में योगदान, जनजाति एवं जाति का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

3.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी के सामाजिक पारिस्थितिकी पर विचारों को स्पष्ट करिए

प्र. 2 "डी. पी. मुखर्जी की अभिरूचि भारतीय परम्पराओं के अध्ययन में थी।" इस कथन पर टिप्पणी करिए ?

प्र. 3 प्रो. जी. एस. घुरिये के जाति सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 "नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं?

(अ) राधाकमल मुखर्जी (ब) डी.पी.मुखर्जी (स) जी. एस. घुरिये (द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

प्र. 2 "दि महादेव कोलीज" के लेखक हैं।"

(अ) टायलर (ब) टायनबी (स) जी. एस. घुरिये (द) आर. के. मुखर्जी

प्र. 3 "इण्डियन साधूज" के लेखक हैं ?

(अ) डी.पी. मूखर्जी (ब) ए. के. सरन (स) जी. एस. घुरिये (द) टायलर

प्र. 4 "Caste. Class and Occupation" पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) डी.पी.मुखर्जी (ब) जी. एस. घुरिये (स) ए. के. सरन (द) एम. एन. राय

प्र. 5 "सोशल टेन्सन इन इण्डिया" पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) डी.पी. मुखर्जी (ब) ए.के. सरन (स) विपिन चन्द्रा (द) जी. एस. घुरिये

प्र. 6 प्रो. घुरिये ने जाति की विशेषताएं बताई हैं?

(अ) 5 (ब) 6 (स) 4 (द) 3

प्र. 7 "माडर्न इण्डियन कल्चर" पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) प्रोफ नगेन्द्र (ब) ए. के. सरन (स) डी. पी. मुखर्जी (द) उपर्युक्त मे से कोई नहीं

प्र. 8 "दि सोशल स्ट्रक्चर आफ वैल्यूज , पुस्तक के लेखक हैं।

(अ) एम. एस. राव (ब) बगेल (स) राधाकमल मुखर्जी (द) डी.पी. मुखर्जी

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 अ प्र. 2 स प्र. 3 स प्र. 4 ब प्र. 5 द प्र. 6 ब

प्र. 7 स प्र. 8 स

इकाई 4 : भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम

4.3 दार्शनिक उपागम (Philosophical Approach)

4.4 सांस्कृतिक उपागम (Cultural Approach)

4.5 संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम (Structural -functional Approach)

4.6 द्वन्द्वात्मक - ऐतिहासिक उपागम (Dialectical-Historical Approach)

4.7 सूक्ष्म - समाजशास्त्रीय उपागम (Micro-Sociological Approach)

4.7.1 प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद (Symbolic Interactionism)

4.7.2 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (Social Exchange Theory)

4.8 प्रघटनाशास्त्रीय उपागम (Phenomenological Approach)

4.9 लोक विधि विज्ञान उपागम (Ethnomethodological Approach)

4.9.1 व्याख्या की दस्तावेजी विधि (Documentary method of analysis)

4.9.2 संदर्भितता का अर्थ (The Indexicality of Meaning)

4.9.3 टीकात्मक व्यवहार (Glossing Practice)

4.9.4 लोकविधि विज्ञान की स्थापनाएं (Assumptions of Ethnomethodology)

4.10 सारांश

4.11 बोध प्रश्न

4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का मौलिक उद्देश्य भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के प्रमुख उपागमों के विषय में जानकारी प्रदान करना है। भारतवर्ष में समाजशास्त्र की अध्ययनविधि, विचारधारा को लेकर काफी बहस चल रही है। भारतीय समाजशास्त्र पर उपनिवेशकीय दासता का आरोप लगाया जाता है। मानसिकता व सोच के निर्माण की प्रक्रिया में वाह्य अस्तित्वमय तत्वों का प्रभाव रहता है। भारत के समकालीन समाजशास्त्र में इस प्रश्न पर काफी विवाद रहा है कि क्या भारतीय समाजशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य निजत्व और अपनी पृथक शैली हो सकती है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- भारतीय समाजशास्त्र के विश्लेषण के उपागमों के बारे में उल्लेख कर सकेंगे।
- ऐतिहासिक उपागम का वर्णन कर सकेंगे।
- सांस्कृतिक, तुलनात्मक उपागम की व्याख्या कर सकेंगे।
- द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक उपागम के बारे में वर्णन कर सकेंगे।

- भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक प्रवृत्तियों के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागमों की व्याख्या की जाएगी । एक समाज विज्ञान की तरह समाजशास्त्र का विकास कई दशकों में जाकर हुआ है। समाज की यथार्थता को समझने के लिए जो उपागम प्रचलित हैं, उनके पीछे समाजशास्त्रियों ने गहन प्रयास किये हैं। जब तक हम समाज की यथार्थता को समझने के कुछ निश्चित उपागम या विधियां विकसित नहीं कर पाते, तब तक हम आधुनिक समाज को कोई दिशा नहीं दे सकते हैं। आज समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में हमें विभिन्नता दिखाई देती हैं, इसका कारण अध्ययन की विभिन्न विधियाँ हैं। समाजशास्त्र में अगणित सिद्धान्त हैं। प्रकार्यात्मक, संघर्ष, विनिमय, अन्त: क्रियावाद, इथनोमेथडोलॉजी आदि । इस इकाई के **भाग 4.2** में भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के विभिन्न उपागमों की चर्चा की गयी है। माडल वस्तुत: यथार्थता की प्रतिकृति होते हैं। **भाग 4.3** का शीर्षक दार्शनिक उपागम है। इस इकाई के **भाग 4.4** में सांस्कृतिक उपागम का विश्लेषण किया गया है। सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के अन्तरगत प्रो. योगेन्द्र सिंह, प्रो. श्रीनिवास, सिंगर, रेडफील्ड, मैकिम मेरिएट की कृतियों को सम्मिलित करते हैं।

इस इकाई के **भाग 4.5** में संरचनात्मक उपागम की व्याख्या की गई है। साथ ही **4.6** में द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक उपागम का विश्लेषण किया गया है। **भाग 4.7** का शीर्षक सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागम है। जिसमें इथनोमेथडोलाजी, प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद, फिनोमेनालाजी, सामाजिक विनिमय सिद्धान्त, संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद आदि सम्मिलित है।

4.2 भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम

एक समाज विज्ञान की तरह समाजशास्त्र का विकास कई दशकों में जाकर हुआ है। इसका उद्देश्य समाज की यथार्थता को जानना है। इस यथार्थता को जानने की या उसे पहचानने की कई विधियां हैं, कई उपागम हैं, विभिन्न संदर्श हैं, विभिन्न दृष्टिकोण हैं। यह आवश्यक नहीं है कि समाज के किसी एक समूह का अध्ययन केवल एक ही विधि से हो सकता हो, कोई भी विधि अपने आप में अनन्य (Exclusive) नहीं है। कई विधियों को मिलाकर भी कोई एक अध्ययन किया जा सकता है।

1920 ई0 से लेकर भारत में अब तक के समाजशास्त्र के विकास पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत अनेक सैद्धान्तिक और पद्धतिगत परिप्रेक्ष्य दिखाई पड़ते हैं।

एफ.जी.बेली (F.G. Bailey) के अनुसार व्यक्ति जो सोचते हैं अर्थात् उनके मूल्यों से ही समाजशास्त्र की विषय वस्तु बनती है। प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में किसी औपचारिक सिद्धान्त की संरचना नहीं हुई है। सिद्धान्त तो नहीं के बराबर है हालाँकि उपागम अनेक हैं। योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में मुख्य मुद्दे कतिपय प्रश्नों से जुड़े हैं- (1) वृहद सिद्धान्त (2) सार्वभौमिकता या विशिष्टता व संदर्भ (3) आदर्शवाद या आदर्शता (Ideology) का सिद्धान्त निर्माण से सम्बन्ध । योगेन्द्र सिंह ने भारतीय समाजशास्त्र के विश्लेषण उपागमों को ध्यान में रखते हुए 1952 से लेकर 1977 ई0 तक बाँटकर विवेचना की है। इसमें 1952 से 1960 तक दार्शनिक उपागम का प्रभुत्व रहा, एवं यही उपागम समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए समाज शास्त्रियों ने उपयोग में लिया। 1960 ई0 से 1965 ई0 तक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य पर जोर दिया जाता रहा है और 1965 ई0 से 1970 ई0 तक संरचनावाद का जोर रहा है। डयूमा, श्रीनिवास, मैकिम मैरिएट इसके प्रवर्तक रहे हैं। प्रो. राधाकमल मुखर्जी, डी. पी.

मुखर्जी, ए. के. सरन, आर. एन. सक्सेना, एस. पी. नगेन्द्र आदि दर्शनशास्त्रीय उपागम के समर्थक रहे हैं।

एफ. जी. बेली, आन्द्रे बेते, अरोरा, राव, आई. पी. देसाई संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हैं (दोषी व जैन, 1998:86)

कुछ एक अवरोधों के बाद भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के सार्वभौमिक उपागम भारत में भी प्रयोग किये गये हैं और आज भी इनका अनुप्रयोग हो रहा है। भारत, एशिया के अन्य देशों, यूरोप ओर अमेरिका में समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए निम्न उपागमों का प्रयोग किया जाता है —प्रकार्यवाद (functionalism), संरचनावाद (Structuralism), मार्क्सवाद (Marxism), ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach), तुलनात्मक उपागम (Comparative), प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद (Symbolic Interactionism) आदि।

भारतीय समाजशास्त्र में दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं, जो कि पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित रही हैं। ब्रिटिश प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय समाजशास्त्र सामाजिक-मानवशास्त्रीय (Social-Anthropological) प्रवृत्ति से प्रभावित रहा है। भारतीय ज्ञान के औपचारिक स्वरूप ब्रिटेन से प्रभावित रहे हैं। ब्रिटेन में प्रशासकीय कारणों से सामाजिक मानवशास्त्र का विशद अध्ययन किया गया। सामाजिक मानवशास्त्र जनजाति, गांव, प्रजाति, इत्यादि विषयों का अवलोकन व साक्षात्कार की पद्धतियों के आधार पर विस्तृत व विस्तार से अध्ययन करने पर बल देता था। इन अध्ययनों से उपनिवेश देशों के राजनीतिक हित सम्पन्न होते थे। दूसरी ओर आजादी के बाद भारतीय समाजशास्त्र में अमेरिका का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अमेरिकन समाजशास्त्र में आंकड़ों के संख्यात्मक पक्ष व उनके संख्यिकीय निरूपण पर अधिक बल दिया जाता रहा है। वस्तुपरकता, आनुभविकता, विज्ञानवाद, संरचना व प्रकार्यात्मक उपागम भारतीय समाजशास्त्र को विशेष रूप से प्रभावित करते रहे हैं।

समाजशास्त्रीय उपागमों को लेकर एक विशेष प्रकार की द्विविधा लगभग सभी एशियाई देशों विशेषकर भारत में रही है और यह द्विविधा हाल के एक दो दशकों में पैदा हुई है। यह द्विविधा समाज में जेण्डर (Gender) सम्बन्धों की है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास को थोड़ी सावधानी से देखें तो ज्ञात होगा कि विकास की इस प्रक्रिया में पुरुष ही सब कुछ हैं जैसे महिलाओं का कोई योगदान नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या समाजशास्त्रीय विचारधारा के विकास में हम कहीं पुरुष और स्त्री के योगदान को उनकी पहचान के साथ पृथक कर सकते हैं। जिस तरह समाज वर्गों या जातियों में बँटा है, क्या वैसे ही समाज पुरुष और स्त्रियों में नहीं बँटा है। सिद्धान्त निर्माण के लिए जो उपागम बनाने पड़ते हैं। या जो उपागम पिछले 200 वर्षों में विकसित किये गए हैं आधुनिक औद्योगिक, शहरी और पूँजीवादी देशों के अध्ययन में क्या इन उपागमों की प्रासंगिकता है। (दोषी व जैन, 1998, 105-106)

1.3 दार्शनिक उपागम (Philosophical Approach)

दार्शनिक उपागम के अन्तरगत भारतीय दर्शन तथा परम्परा से प्रभावित विचारक एवं समाजवैज्ञानिक रहे हैं, जिन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में भारतीय दर्शन एवं परम्परा को उपागम के रूप में प्रयोग किया।

लखनऊ सम्प्रदाय के समाजशास्त्रियों विशेषकर राधाकमल मुखर्जी, धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी तथा अवध किशोर सरन को सम्मिलित करते हैं। राधाकमल मुखर्जी दर्शन की सहायता से सार्वभौमिक समाज विज्ञान

के विकास की बात करते हैं। धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी भारतीय दर्शन और परम्परा को द्वन्द्वात्मक अध्ययन पद्धति (मार्क्सवादी दर्शन) के साथ अपने लेखन में जोड़ते हैं। आनन्द कुमार स्वामी से प्रभावित अवध किशोर सरन विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र की बात करते हैं।

4.4 सांस्कृतिक उपागम (Cultural Approach)

समाजशास्त्र में सांस्कृतिक उपागम के अन्तर्गत एम. एन. श्रीनिवास, रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर तथा मैकिम मैरिएट की कृतियों को सम्मिलित करते हैं। विशेषकर एम. एन. श्रीनिवास के दक्षिण मैसूर के कुर्ग लोगों के अध्ययन में संस्कृतिकरण के अध्ययन ने सांस्कृतिक उपागम को जन्म दिया। फिर एस. सी. दुबे पोकाक, ड्यूमा के अध्ययन भी इसी उपागम का प्रयोग करते हैं।

एम. एन. श्रीनिवास द्वारा विकसित निम्न तीन अवधारणाएं सांस्कृतिक उपागम को स्पष्ट करती हैं।

(1) संस्कृतीकरण (Sanskritization)

(2) पश्चिमीकरण (Westernization)

(3) धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization)

संस्कृतीकरण नामक अवधारणा का प्रयोग भारतीय सामाजिक संरचना में जातिगत गत्यात्मकता के समय में सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया का वर्णन करने हेतु किया गया । संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति या कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है। जिस तरह छोटी जातियां बड़ी जातियों के शिक्षित लोग पश्चिमीकरण से प्रभावित पाये गये। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान में वर्णित और विभिन्न सामाजिक विधानों से प्रभावित प्रक्रिया को धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।

दार्शनिक उपागम एवं सांस्कृतिक उपागम दोनों पर परम्परागत शास्त्रीय विचार एवं सामाजिक प्रक्रियाओं की स्पष्ट छाप है। राबर्ट रेडफील्ड का लघु तथा दीर्घ परम्परा का अध्ययन इस उपागम के अन्तरगत आता है। मिल्टन सिंगर एवं मैकिम मेरिएट का किशनगढ़ी का क्षेत्र अध्ययन इसी उपागम के अन्तरगत आता है।

4.5 संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम (Structural - functional Approach)

सैद्धान्तिक उन्मुखन की ओर जब भारतीय समाजशास्त्र में ध्यान दिया जाने लगा और अन्तराष्ट्रीय क्षितिज पर जब भारतीय समाजशास्त्र अपना स्थान बनाने लगा, तो भारतीय समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक – उपागम को एक बौद्धिक चुनौती तथा संन्तोषजनक माड़ल के रूप में देखा। 1960 ई0 में आगरा के समाज विज्ञान अध्ययन संस्थान में आयोजित सेमीनार में अधिकांश भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाओं को समझने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम को सर्वथा उपयुक्त समझा। दूसरे परिप्रेक्ष्य मार्क्सवादी, वेबर उपागम, पारसन्स प्रारूप, लगभग नकार दिये गये। कुछ समाजशास्त्रियों ने जिनमें डी. पी. मुखर्जी एवं ए. आर. देसाई मुख्य हैं, मार्क्सवादी उपागम को अपनाया है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम परम्परागत समाजशास्त्र के अन्तरगत एक प्रमुख एवं प्रभावकारी

ान्तिक परिप्रेक्ष्य के रूप में विगत अनेक दशकों से स्थापित रहा है। अनेक अध्ययन व अनुसन्धानों में उपागम का उपयोग किया गया है। इस उपागम के प्रभाव को इस बात से आँका जा सकता है कि ाक समाजशास्त्रियों ने इस उपागम को ही एक मात्र समाजशास्त्रीय सिद्धान्त माना है। केवल समाज ानों में ही नहीं अपितु अन्य विज्ञानों में भी इस उपागम को प्रयुक्त किया गया है। प्रकार्यात्मक उपागम आधारभूत विचार है कि समाज अनेक भागों की अन्तर्निभरता एवं अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर बना इन सम्बन्धों के आधार पर व्यवस्था का निर्माण होता है, जिसकी प्रकृति समन्वित व पूर्णता लिए हुए ी है। अत: यह उपागम साकल्यमय है। प्रकार्यात्मक सिद्धान्त परस्पर सम्बन्धों को व उनकी तर्निभरता को महत्व देता है। अत: व्यवस्था के किसी एक भाग में परिवर्तन होने से अन्य भागों में भी वर्तन होते हैं पर संतुलन एवं स्थायित्व भी बने रहते हैं । यह उपागम संतुलन एवं स्थिरता को ाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए आवश्यक मानता है। साथ ही इस बात पर भी महत्व दिया जाता के कोई भी सामाजिक या सांस्कृतिक तत्व व्यवस्था के अन्तरगत ऐसे कार्य करता है जो कि व्यवस्था बने रहने के लिए आवश्यक हैं यह उपागम अंतर्तत्वों के प्रभावों को व्यवस्था के लिए समन्वयता के धार पर विश्लेषित करते हैं। (सिंधी, 1998, : 35-37)

ाज़शास्त्र मे प्रकार्यवाद का उद्गम स्पेन्सर (Spencer) और दुर्खीम (Durkheim) की लेखनियों से माना ा है। स्पेन्सर की व्याख्या प्राणिशास्त्रीय सादृश्यता के आधार पर निर्मित हुई है। इस विचारधारा को ापादित करने में स्पेन्सर ने संरचना एवं प्रकार्यों के संबोंधों का उपयोग किया है। दुर्खीम भी विकासीय अभिमुखन से प्रभावित थे। अपनी पुस्तक 'डिवीजन आफ लेबर इन सोसाइटी' (Divi-n of Labour in Society) में दुर्खीम ने सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होने की व्याख्या की इन्होंने जटिल समाजों की श्रम विभाजन के आधार पर प्रकार्यात्मक व्याख्या की है।

वशास्त्री (Anthropologist) मैलिनोवस्की एवं ब्राउन दुर्खीम के विचारों के प्रभाव में आये और उनके ययनों में संरचना व प्रकार्य अवधारणाओं का प्रमुख स्थान रहा। इन लेखकों ने उद्विकास volution) एवं वितरण (Diffusion) विचारधारा की कमजोरियों को उद्घोषित किया। जो उस काल में ुत्व जमाए थे।

.6 द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक उपागम (Dialectical Historical Approach)

ैचत रूप से जब समाज विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण होता है तो ये सिद्धान्त भी आनुभाविक अध्ययन में ेध का कार्य करते हैं। राबर्ट मर्टन ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि आनुभविकता सिद्धान्त के निर्माण में ायक होती है और दूसरी ओर सिद्धान्त आनुभविक अध्ययन का मार्गदर्शन करते हैं। आनुभविकता और द्धान्त में पारस्परिकता है। इन दोनों को जोड़ने का काम उपागम या विधियां करते हैं। प्रकार्यात्मक और चनावाद की तरह समाजशास्त्रीय अध्ययन में मार्क्सवाद है जिसे द्वन्द्वात्मक -ऐतिहासिक उपागम भी ा जाता है। द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक विचारधारा के लेखक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। सभी र्क्सवादी यह धारणा लेकर चलते हैं कि आमूल राजनीतिक परिवर्तन के लिए मार्क्सवाद ही एक सशक्त ेण्डा है। मार्क्सवादियों का एक आग्रह यह भी है कि इस उपागम में वर्ग विभाजन, संघर्ष, शक्ति और चारधारा महत्वपूर्ण है। इस तरह का कोई भी संदर्श प्रकार्यवादी उपागम में नहीं होता है। इस उपागम ने ाजशास्त्रीय विश्लेषण में बहुत कुछ योगदान किया है। इस उपागम के प्रवर्तकों में कोहेन, अल्थूजर दि समाजशास्त्री हैं। हमारे देश में कतिपय समाजशास्त्रियों ने मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग फलतापूर्वक किया है।

ए.आर. देसाई, डेनियल थार्नर (Daneil Thorner), चार्ल्स बेटेलहैम (Charles Betellheim) कैथलीन गफ तथा रामकृष्ण मुखर्जी ने मार्क्सवादी उपागम को वृहद समाजों के अध्ययन में लागू किया । धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी (डी.पी. मुखर्जी) के लेखन पर भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अध्ययन पद्धति का प्रभाव है। रामकृष्ण मुखर्जी ने बंगाल के गाँवों और उपनिवेशवाद के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग किया है। ए.आर. देसाई ने भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक परिवर्तन तथा आधुनिकीकरण के अध्ययन, विवेचन में मार्क्सवादी उपकरणों का प्रयोग किया है।

भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, जापान आदि एशिया के देशों की समाजिक व्यवस्था को समझने के लिए ऐतिहासिक विधि अत्यन्त सहायक है। दक्षिण एशिया के ये सब देश एक विशाल सभ्यता के अंग रहे हैं। उदाहरणार्थ जाति व्यवस्था का कोई भी अध्ययन ऐतिहासिक उपागम के अभाव में अधूरा रहेगा। दूसरे,

इन देशों में उपनिवेशवादी सत्ता सदियों तक रही हैं। ऐसी पृष्ठ भूमि में किसान आन्दोलन, सामन्तवाद और पूँजीवाद के विकास को ऐतिहासिक उपागम द्वारा ही तर्कपूर्ण ढंग से समझा जा सकता है (एन. सी. ई. आर. टी., 1999 : 48:50)

4.7 सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागम (Micro-Sociological Approach)

सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागम के अन्तरगत अध्ययन की इकाई व्यक्ति या लघु समुदाय होता है। सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागमों के अन्तर्गत प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद, संरचनात्मक प्रकार्यवाद, विनिमय सिद्धान्त, इथनोमेथडोलॉजी, फेनोमेनालॉजी आदि आते हैं। इनके मानने वाले सिद्धातकार ब्लूमर जार्ज, होमन्स, स्कीनर, गारफिंकल आदि हैं।

हाल में सिद्धान्तीकरण के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व नाटकीय परिवर्तन या आन्दोलन देखने को मिला है वह माइक्रो सिद्धान्तों के बीच की कड़ी है।

1980 के दशक से पहले अमेरिका के समाजशास्त्र में माइक्रो-मैक्रो को लेकर दो धड़ उभर कर आये। एक वे सिद्धान्त जो माइक्रो सिद्धान्तों की श्रेणी में आते हैं। दूसरे वे जो मैक्रो सिद्धान्त की श्रेणी में आते हैं। इन दोनों के एकीकरण के प्रयास भी किये गये, जिसे टर्नर मेसो सिद्धान्तीकरण (Meso-theorizing) कहते हैं । यद्यपि माइक्रो-मैक्रो के बीच एक स्पष्ट रेखा खीचना मुश्किल है। उदाहरणार्थ भारतीय संदर्भ में जाति व्यवस्था जो कि गांव के स्तर पर माइक्रो अध्ययन है लेकिन सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का अध्ययन मैक्रो अध्ययन है।

सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागम दिन प्रतिदिन की घटनाओं, मानव व्यवहार एवं अन्त:क्रियाओं के अध्ययन पर जोर देते हैं। कुछ सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागमों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

4.7.1 प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद (Symbolic Interactionism)

समाजशास्त्र में कुछ उपागम सामाजिक यथार्थ को समझने में विषयपरकता को अधिक महत्व देते हैं। ये उपागम विज्ञानवाद व वस्तुपरकता को नकारते हैं एवं व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य को महत्व देते हैं। प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद पद का प्रयोग हर्बट ब्लूमर (Herbert Blumer) ने अपनी पुस्तक 'सिम्बालिक इन्टरएक्शनिज्म: पर्सपेक्टिव एण्ड मेथड' में पहली बार किया है। इस उपागम के अन्तर्गत सामाजिक अन्त:क्रिया की प्रक्रिया को अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु माना जाता है न कि अंत:क्रिया के कारणों एवं प्रभावों को। यह उपागम इस बात को महत्व देता है कि प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक अंत:क्रिया किस

तरह से निर्मित होती है। अत: व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं के प्रति किस तरह से क्रिया करता है। यह इस पर निर्भर करेगा कि वह उस क्रिया को क्या अर्थ प्रदान करता है। इस तरह क्रियाओं के अर्थ, अंत:क्रिया की प्रक्रिया से निर्मित होते हैं। चार्ल्स कूले ने प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावाद (Symbolic Interactionism) उपागम की आधारशिला रखी। जब कूले ने उन्नीसवी शताब्दी में आत्मदर्पण सिद्धान्त (Looking Glass Self) के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया कि व्यक्ति के स्व (Self) की चेतना कुछ सीमा तक इस पर निर्भर करती है कि अन्य व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं। अर्थात् समाजरूपी दर्पण में व्यक्ति अपना बिम्ब देखता है। अत: स्वयं के बारे में धारणा समाज में रहने वाले अन्य लोगों के द्वारा प्रत्यक्षण के आधार पर बनाई जाती है।

सभी प्रतीकात्मक अन्त: क्रिया वादियों का कहना है कि एक ओर तो मनुष्य का स्व होता है और दूसरी ओर उसके आस-पास विशाल समाज। इस समाज को स्व के माध्यम से समझने का प्रयास व्यक्ति करता है। इस तरह की समझ में प्रतीकों की भूमिका निर्णायक होती है। प्रतीकात्मक अन्त: - क्रियावादी अन्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तवेत्ताओं से भिन्न होते हैं।

प्रकार्यवादी यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक व्यवस्था अपने आपको बनाये रखने के लिए व्यक्तियों की अन्त: क्रियाओं को पहले से ही अग्रिम रूप में निर्धारित कर लेती है। दुर्खीम कहते हैं कि सामाजिक तथ्यों का दबाव व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करता है। अन्त: क्रियावादी (हर्बट, ब्लूमर, हर्बट मीड, कूले, गाफमैन) आदि पूर्णत: व्यक्ति के व्यवहारों की व्याख्या करते हैं। अन्त: क्रियावादी सिद्धान्तकारों का कहना है कि व्यक्ति तो अपनी अन्त: क्रियाओं में वह करेगा, जिसे उसके स्व ने निश्चित किया है। प्रतीकात्मक अन्त: क्रियावादी उपागम सामाजिक संरचना के अस्तित्व को एकदम नकारता है। इस उपागम का दृष्टिकोण व्यक्ति को संरचना और समाज से पृथक करके देखने का है। इस प्रकार का सामाजिक संरचना विरोधी उपागम स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की मुख्य धारा को रास नहीं आता है, परन्तु फिर भी प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावाद को मान्यता मिल चुकी है। प्रतीकात्मक अन्त:क्रियावादी व्यक्तिनिष्ठ अर्थ पर जोर देते हैं। उनका पूरा प्रयास दूसरों की दुनिया (World of the others) को स्व के माध्यम से समझना होता है।

1.7.2 सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (Social Exchange Theory)

विनिमय सिद्धान्त वेत्ताओं का केन्द्रीय संदर्श सामाजिक विनिमय है। हमारे चारों ओर पारस्परिक व्यवहार विनिमय के माध्यम से होता है। आधुनिक विनिमय सिद्धान्तवेत्ताओं में जार्ज होमन्स, पीटर ब्ला (Peter Blau) और माइकल हेचर (Michael Hechter) के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। ये सभी विनिमय सिद्धान्तवेत्ता हैं। होमन्स ने विनिमय व्यवहारवाद को विकसित किया। ब्लां ने संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त को और हेचर ने विवेकी सिद्धान्त को रखा है।

उपयोगितावाद ने सामाजिक विनिमय सिद्धान्त को एक बौद्धिक आधार प्रदान किया। उपयोगितावादियों के अनुसार मनुष्य मूलत: विवेकशील प्राणी है और अपने हर तरह के प्रयास में चाहता है कि उसे अधिकतम लाभ पहुँचे। जोनाथन टर्नर (J. Turner) ने सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के निर्माण में अर्थशास्त्र की उपयोगितावाद की भूमिका को स्पष्ट किया है।

विनिमय सिद्धान्त में व्यक्ति अधिकतम लाभ के पीछे नहीं दौड़ता, लेकिन उसकी कोशिश होती है कि सामाजिक अन्त:क्रिया से उसे थोड़ा बहुत लाभ अवश्य मिले।

मनुष्य पूर्ण विवेकी नहीं होता है फिर भी सामाजिक अन्त:क्रियाओं में वह यह हिसाब जरूर रखना चाहता है कि उसे उन अन्त:क्रियाओं से कितना लाभ मिला।

3. मनुष्य को किसी न किसी दबाव में आकर अन्त:क्रियाएं करनी पड़ती हैं फिर भी हर व्यक्ति यह चाहता है कि उसकी अन्त:कियाओं से अभी या बाद में चलकर थोड़ा बहुत लाभ अवश्य मिले।

4. विनिमय में मनुष्य भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति तो करता है लेकिन कई बार अभौतिक स्रोतों जैसे - संवेग सेवाएं, प्रतीक इत्यादि द्वारा भी वह लाभ लेना चाहता है।

मानवशास्त्र में सामाजिक विनिमय सिद्धान्त के प्रेरकों में जेम्सफ्रेजर, मैलिनोवस्की, मार्शल मॉस का योगदान मील का पत्थर है। (दोषी व त्रिवेदी, 1996:220-24)

4.8 प्रघटनाशास्त्रीय उपागम (Phenomenological Approach)

प्रघटनाशास्त्र (Phenomenology) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द "'Phainein' से मानी गयी है। फेन्यीन का अर्थ है दिखना अर्थात् वह जो दिखता है (that which appears)। सामान्य अर्थों में प्रघटनाशास्त्र का अर्थ है प्रघटना दृश्य का व्यवस्थित अध्ययन। इस दृष्टि से यह विधा दर्शन व विज्ञान का समन्वय करती है। अपनी सीमित व्याख्या में प्रघटनाशास्त्र का अर्थ घटना का अध्ययन है।

समाज विज्ञान विश्व कोश में इसकी परिभाषा में लिखा है कि "यह दर्शनशास्त्र की एक विधि है जिसकी शुरुआत व्यक्ति से होती है और व्यक्ति को स्वयं के अनुभव से जो कुछ प्राप्त होता है उसे इसमें सम्मिलित कर लिया जाता है। स्वयं के अनुभव से बाहर जो भी पूर्व मान्यताएं पूर्वाग्रह और दार्शनिक बोध होते हैं वे सब इसके क्षेत्र से बाहर हैं।" एडमण्ड हसरल (Edmund Husserl) इस उपागम को शैक्षिणिक आन्दोलन के रूप में उभार कर लाए। (साथाज, 1973:2) यद्यपि समाजशास्त्र में प्रभावी रूप में प्रघटनाशास्त्रीय उपागम को प्रस्तुत करने का श्रेय एल्फर्ड शूट्ज को जाता है, फिर भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शूट्ज के अलावा, मैक्स वेबर, सीमेल, मैक्सशेलर, कार्ल मानहोम ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में इस उपागम के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पचास के दशक में संरचनात्मक व कार्यात्मक उपागम (Structural and functional Approach) की बढ़ती आलोचना के कारण प्रघटनाशास्त्रीय समाजशास्त्र की लोकप्रियता बढ़ी।

एडमण्ड हसरल ने अपनी पुस्तकों 'Introduction to pure phenomenology' (1913) एवं "'Phenomenology and the Crisis of Western Philosophy' (1936) में यह स्पष्ट किया कि यह एक नवीन उपागम है जो अब तक अपनाए जा रहे वैज्ञानिक उपागम से पृथक है। हसरल (Husseral) ने प्रघटनाशास्त्र को एक नवीन अध्ययन विधि के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें वैज्ञानिक विधि की भाँति न तो किसी उपकल्पना का सहारा लिया जाता है और न ही किसी कथन आदि को आधार बनाकर अध्ययन किया जाता है। अल्फ्रेड शुट्ज ने प्रघटनाशास्त्र के अन्तर्गत लोगों के दैनिक जीवन की परिस्थितियों को अधिक महत्व दिया। इन्होंने वेबर के वर्स्टहैन (Verstehan) की अवधारणा की व्याख्या की। वर्स्टनहैन से वेबर का तात्पर्य व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान (Subjective undertaking) से है, जिसे शुट्ज ने प्रघटनाशास्त्र का आधार माना है। शुट्ज ने अपनी पुस्तक 'Studies in Phenomenological Philosophy' तथा 'Phenomenology of the Social World' में सामाजिक सम्बन्धों के बारे में दो अवधारणाओं को जन्म दिया। वे हैं - विचित्रता एवं विशिष्टीकरण (Uniqueness and Typification) समाज में अनेक प्रकार की परिस्थितियां जन्म लेती हैं। कभी कभी एक ही प्रकार की परिस्थितियों की पुनरावृत्ति होती है। शुट्ज का मत है कि प्रत्येक सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन अर्न्तव्यक्तिनिष्ठता (Inter-subjectivity) के आधार पर किया

ाना चाहिए। अल्फ्रेड शुटज ने ज्ञान के भण्डार (Stock of Knowledge) की चर्चा की । मस्तिष्क की चेतना में जीव-जगत् के बारे में जो भी जानकारियों हैं वे सब व्यक्ति के ज्ञान के भण्डार (stock of nowledge) हैं जिसे वह दिन प्रतिदिन के व्यवहार में काम में लाता है।

ूट्ज के अनुसार ज्ञान के भण्डार (Stock of knowledge) की निम्न विशेषताएं हैं—

. समाज के सदस्यों के लिए ज्ञान का भण्डार सर्वोच्च वास्तविकता है। यह सामाजिक सभी घटनाओं ो स्वरूप देती है और नियन्त्रित करती है।

. यह ज्ञान का भण्डार लोगों में यह भावना पैदा करता है। कि यही जीव-जगत दुनिया व समाज की ास्तविकता है। इस यथार्थ को व्यक्ति स्वीकृत मानकर अर्थात टेकन फार ग्राण्टेड (Taken for granted) ानकर चलता है।

. ज्ञान का भण्डार सीखा जाता है, विरासत में मिलता है। समान सामाजिक सांस्कृतिक दुनिया में ान के भण्डार (Stock of knowlege) को समाजीकरण द्वारा सीखा जाता है।

ीनोमिनालॉजी समाजशास्त्र चेतना, मस्तिष्क और जीव-जगत आदि अवधारणाओं द्वारा समाज की ास्तविकताओं का अध्ययन करता है। समाजवैज्ञानिकों के लिए मुख्य मुद्दा तो यह जानने का है कि मारे इस समाज में वास्तविकता क्या है। (श्रीवास्तव, 1982, 122-24)

.9 लोक विधि विज्ञान उपागम (Ethnomethodological Approach)

िछले लगभग दो दशकों से समाजशास्त्र के कुछ नवीन उपागमों का उदय हुआ है, जिनमें से लोक विधि ज्ञान भी एक है। इसने परम्परागत समाजशास्त्र की अनेक विचारधाराओं एवं अध्ययन पद्धतियों की ालोचना की और उसके स्थान पर समाजशास्त्र में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। प्रकार्यवाद की ीमाओं से ऊबे हुए लोग लोक विधि विज्ञान को ताजी हवा समझते हैं।

थनो (Ethno) का अर्थ होता है - लोक या लोक ज्ञान। मेथडोलॉजी का यहाँ पर अर्थ है विषय-वस्तु। थनोमेथडोलाजी का अर्थ है- प्रतिदिन के जनजीवन का समाज विज्ञान। प्रतिदिन की घटनाओं को ावस्थित रूप से समझना इस पद्धति का उद्देश्य है । घटना का उतना महत्व नहीं है जितना कि घटना अर्थ (Meaning) का है। अर्थबोध व्यक्ति के संज्ञान का परिणाम होता है। लोक विधि विज्ञान व्यक्ति आन्तरिक विचार लोक में प्रवेश करता है। अर्थबोध के आदान-प्रदान का नियम हम नहीं जानते हैं। त: लोकविधिविज्ञान अर्थबोध की विधियों का पता लगाना चाहता है। लोकविधिविज्ञान वह पद्धति है जो ावहारिक तर्क (Practical reasoning) से सम्बन्धित है। अन्तरक्रिया में लोग घटनाओं का अर्थ लगाते और उस अर्थ बोध का आदान-प्रदान करते हैं इस प्रक्रिया का अध्ययन करना लोकविधि विज्ञान है।

थनोमेथडोलाजी में सामाजिक वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधारण ज्ञान विधि को अपनाया ता है। एच. गारफिन्कल (H. Garfinkel) इथनोमेथडोलाजी को वस्तुनिष्ठ वास्तविकता में दैनिक जीवन होने वाली क्रियाओं का उत्पादन एवं इनका अध्ययन मानते हैं। इस प्रकार इसके अन्तर्गत सामाजिक स्तविकता को सिद्धान्तों के आधार पर न खोजकर नित्य प्रति की सामाजिक घटनाओं और उनके प्रति गों की प्रतिकियाओं में खोजने पर बल दिया जाता है। गारफिन्कल ने इस उपागम में कुछ मूलभूत वधारणाओं का उल्लेख किया। वे हैं - प्रलेखन विधि (Documentary method), संदर्भितता ndexicality) , व्यावहारिक समाजशास्त्रीय तर्क, टीकात्मक व्यवहार (Glossing practice)

चिन्तनशीलता (Reflexivity) , तार्किक विवरण (Rational Accountability).

4.9.1 व्याख्या की दस्तावेजी विधि (Documentary method of analysis)

लोकविधि वैज्ञानिक व्याख्या की दस्तावेजी विधि को अपनाता है इस विधि का उद्देश्य ज्ञात से अज्ञात की ओर चलता है। अर्थात जो प्रगट, प्रत्यक्ष और विदित है उसके पीछे अर्थबोध के स्वरूप (Underlying pattern) क्या है। निहित अर्थबोध का पता चल जाये, तो होने वाले व्यवहार का पता लग जाता है।

निहित अर्थबोध का पता भाषा एवं संचार से चलता है। भाषा को कार्यरूप कथन (Performative utterance) कहते हैं। कार्यरूप कथन से सामाजिक संरचना का बोध होता है। आम बात चीत की भाषा को बोलचाल कथन (talk utterance) कहते हैं। दूसरे शब्दों में कार्यरूप कथन से सामाजिक संरचना का बोध होता है। रे टर्नर (Ray Turner) ने लिखा है किस प्रकार भाषा से यह पता चलता है कि समाजीकृत लोग सामाजिक संरचना कैसे बनाते हैं। उन संरचनाओं की पकड़ करना दस्तावेजी विधि का उद्देश्य है।

4.9.2 संदर्भितता का अर्थ (The Indexicality of Meaning)

गारफिकल ने एक प्रयोग के आधार पर "संदर्भितता" को जन्म दिया। संदर्भितता का तात्पर्य है कि किसी वस्तु या क्रिया का ज्ञान या अर्थ उसके सन्दर्भ (Context) से लिया जाता है यह एक विशेष स्थिति में संदर्भित होता है । गारफिन्कल ने लोक विधि विज्ञान में इस सम्बोध को आधारभूत माना है । इस धारणा के अनुसर कोई भी विशिष्ट मानवीय घटना किसी सीमा तक स्थिति सन्दर्भ से जुड़ी होती है। और सन्दर्भ को समझे बिना उस घटना को अर्थपूर्ण ढंग से नहीं समझा जा सकता है। अत: अर्थ का निर्धारण सदैव प्रसंग या सन्दर्भ से होता है। सहरल ने कहा था कि हम भाषा का अर्थ तब तक नहीं समझ सकते हैं जब तक कि हम उस स्थिति, वाक्यों के उपयोग करने वालों के जीवन एवं संवाद के पूर्व सन्दर्भ को ठीक से समझ नहीं लेते हैं। इस प्रकार से शब्दों के अर्थ सन्दर्भों में बंधे (Context Bound) होते हैं। उदाहरणार्थ एक ही वाक्य "आज एक जनवरी है।" के भिन्न भिन्न अर्थ भिन्न भिन्न लोगों के लिए हो सकते हैं । वेतन भोगी कर्मचारी के लिये यह वेतन का दिन, जिनका विवाह एक जनवरी को हुआ था, उनके लिए यह शादी की सालगिरह का दिन है, आदि। एथानोमेथडोलाजी उपरोक्त दो अवधारणाओं – आत्मवाचक और संदर्भ के माध्यम से अन्त:कियाओं का विश्लेषण करता है। ये अन्त: क्रियाएं हमारे आस–पास के समाज के विश्लेषण में सहायक हैं।

4.9.3 टीकात्मक व्यवहार (Glossing practice)

अंग्रेजी का 'Glossing' शब्द 'Glossery' से बना है, जिसका अर्थ है – 'शब्दों का संग्रह'। हम अपने दैनिक जीवन में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका कोई विशिष्ट अर्थ नहीं होता है किन्तु उनका अर्थ शब्द में निहित होता है। ये शब्द सामाजिक संचार एवं पारस्परिक अन्त: क्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शब्दों के संक्षिप्तीकरण से अर्थों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। किसी व्यक्ति का यदि जीवनीगत संदर्भ पता हो तो उसके द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त शब्दों या वाक्यों के सही अर्थ निकालने में हम समर्थ हो सकते हैं । अगर कोई गृहणी अपने पति से यह कहती है कि "बाजार से सब्जी वब्जी, फल वल लेते आना" तो वब्जी व वल के अर्थ निकलते हैं। ग्लोसिंग में आम जीवन के संवादों को छोटा करने में सहायता मिलती है। ग्लोसिंग में शब्दों के सामाजिक पक्षों को समझने में भी सहायता मिलती है जिसे लोकविधि विज्ञान में विशेष महत्व दिया जाता है। इसका उपयोग अन्य विधियों में नहीं किया जाता है।

4.9.4 लोकविधि विज्ञान की स्थापनाएं (Assumptions of Ethnomethodology)

प्रतिदिन के जीवन की व्याख्या करने के लिए कुछ घटनाओं को मानकर (Taken for Granted) चलना ड़ता है। अर्थात् लोकविधि विज्ञान यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्त: क्रिया के तरीके र्धारित हैं। पुत्र को पिता से, माता से पुत्र के, गुरू से शिष्य के प्रतिदिन के जीवन के ऐसे तथ्य मान लये (Taken for granted) जाते हैं। इन तथ्यों का अर्थबोध निर्धारित होता है। इस आधार पर लोकविधि ज्ञानिक यह स्थापना करते हैं कि अन्त:क्रिया के आयाम पूर्वनिर्धारित हैं तथा साथ ही प्रत्येक अन्त:क्रिया अर्थबोध का महत्व कदाचित् बहुत अधिक है।

ारफिन्कल ने अर्द्ध प्रयोगात्मक अध्ययनों (Quasi Experimental studies) को संचालित करके यह तय किया कि (1) प्रतिदिन के जीवन अन्तर्क्रिया के नियमों को चुनौती देना या उल्लंघन करना कठिन है। 2) व्यक्ति जिससे अन्तर्किया करता है और जिससे अन्तर्क्रिया की जाती है उनमें पारस्परिक विश्वास ता है। इसे गारफिन्कल आस्था की अवधारणा से इंगित करते हैं।

त: अन्त:क्रिया में जब तक आस्था की स्थिति बनी रहेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था बनी रहेगी। ास्था में अन्तर आते ही सामाजिक व्यवस्था विचलित या विघटित होने लगेगी। (श्रीवास्तव, 1996, 29-31)

ा समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में पूँजीवाद का नया सांस्कृतिक तर्क, वैश्वीकरण का समाजशास्त्रीय उपागम, चनावाद और उत्तरसंरचनावाद तथा नवप्रकार्यवाद, एन्थोनी गिडेन्स का संरचनाकरण का सिद्धान्त, मार्क्सवादी सिद्धान्त जो हेबरमास एवं अटथूजर द्वारा प्रतिपादित है, भारत में इनका प्रयोग नियमत: नहीं रहा है। चूँकि वैश्विक परिदृश्य में जिन देशों में यह सिद्धान्त पैदा हुए हैं। उनकी स्थितियां भिन्न थी र भारत जैसे देश में इन उपागमों का प्रयोग थोड़ा कठिन है, परन्तु विद्वान इस ओर प्रयासरत हैं।

.10 सारांश

इकाई में हमने भारत में समाजशास्त्रीय शोधों में प्रयुक्त होने वाले समाजशास्त्रीय उपागमों पर विचार या। इस इकाई में दार्शनिक उपागम, सांस्कृतिक उपागम, द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक उपागम तथा नव ाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। नव समाजशास्त्रीय उपागमों का प्रयोग भारत के शोधों में ं हो पाया है। यद्यपि नव समाजशास्त्रीय उपागमों के बिना समाजशास्त्र का सैद्धान्तिक क्षेत्र अधूरा है। भग सभी उपागम प्रकार्यवादी सिद्धान्तों की प्रस्थापनाओं के विरोध में ही पैदा हुए हैं।

11 बोध प्रश्न

र्घ उत्तरीय प्रश्न

1 भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के विभिन्न उपागमों की चर्चा करिये।

2 नव समाजशास्त्रीय उपागम सूक्ष्म-समाज शास्त्र में अध्ययन के लिए अपरिहार्य है?

ु उत्तरीय प्रश्न

1 द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक उपागम क्या है?

2 सांस्कृतिक उपागम द्वारा एम. एन. श्रीनिवास के संस्कृतीकरण के अध्ययन की व्याख्या करिये?

प्र. 3 लोकविधि विज्ञान में गारफिन्कल के योगदान की व्याख्या करिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 लोक विधि विज्ञान में संदर्भितता (Indexicality) की अवधारणा किसने दी ?

(अ) शुट्ज (ब) ब्लमर (स) गारफिन्कल (द) इनमें से कोई नहीं ।

प्र. 2 टीकात्मक व्यवहार (Glossing Practices) का सम्बन्ध निम्न में से किस उपागम से है?

(अ) फिनामेनोलाजिकल उपागम (ब) एथनोमेथडोलॉजी (स) सामाजिक विनिमय सिद्धान्त

(द) उत्तर संरचनावाद

प्र. 3 जार्ज होमन्स, निम्न में से किस सिद्धान्त से सम्बन्धित है?

(अ) सामाजिक विनिमय सिद्धान्त (ब) फिनोमेनालॉजी सिद्धान्त (स) उत्तर आधुनिक सिद्धान्त

(द) निम्न में से कोई नहीं।

प्र.4 'फिनोमेनालॉजी एण्ड दि क्राइसिस आफ वेस्टर्न फिलॉसफी', पुस्तक के लेखक हैं।

(अ) अल्फ्रेड शुट्ज (ब) एडमण्ड हसरल (स) मीड (द) होमन्स

प्र. 5 'स्टाक आफ नालेज' का सम्बन्ध है?

(अ) एथनोमेथडोलॉजी (ब) उत्तर आधुनिकता (स) फिनोमेनालॉजी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

प्र. 6 ए. आर. देसाई ने भारत में राष्ट्रवाद के अध्ययन के लिए किस उपागम का प्रयोग किया है?

(अ) द्वन्दात्मक ऐतिहासिक उपागम (ब) संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

(स) तुलनात्मक उपागम (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

प्र. 7 सार्वभौमिक समाज विज्ञान की संकल्पना निम्न में से किसने प्रतिपादित की?

(अ) डी.पी. मुखर्जी (ब) आर. के. मुखर्जी (स) ए. आर. देसाई (द) बी. आर. चौहान

प्र. 8 'सिम्बालिक इन्टरएन्शिनिज्म: पर्सपेक्टिव एण्ड मेथड' पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) हर्बट मीड (ब) हबर्ट ब्लमर (स) कूले (द) मारफिन्कल

प्र. 9 मैक्रो-मेक्रो सिद्धान्तों के पारस्परिक विवाद से बचने के लिए किस समाजवैज्ञानिक ने मेसो सिद्धान्तीकरण की संकल्पना को प्रस्तावित किया?

(अ) अब्राहम (ब) फूको (स) जे. टर्नर (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

प्र. 10 पीटर ब्ला (Peter Blau) का सम्बन्ध है।

(अ) संरचनात्मक विनिमय सिद्धान्त (ब) विनिमय व्यवहारवाद सिद्धान्त

(स) एथनोमेथडोलाजिकल उपागम (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

प्र. 11 अर्द्ध प्रयोगात्मक अध्ययनों से लोकविधि विज्ञान में "अर्थबोध" (Meaning) को किसने व्याख्यायित किया।

(अ) एच. डी. गारफिन्कल (ब) आर. पार्क (स) हसरेल (द) अल्फ्रेड शुट्ज

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 अ

प्र. 2 ब

प्र. 3 अ

प्र. 4 ब

प्र. 5 ब

प्र. 6 अ

प्र. 7 ब

प्र. 8 ब

प्र. 9 स

प्र. 10 अ

प्र. 11 अ

इकाई 5 : भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन के केन्द्रीय मुद्दे एवं क्षेत्रीय अध्ययन

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 भारतीय समाजशास्त्र एवं नवीन शोध प्रवृत्तियाँ
5.3 जाति, परिवार और नातेदारी के अध्ययन
5.4 ग्रामीण अध्ययन व जनजातीय शोध (Rural Studies and Tribal Researches)
5.5 सामाजिक आन्दोलन व सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन (Studies Pertaining to Social Movement and Mobility)
5.6 औद्योगिक समाजशास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन (Studies pertaining to Industrial Sociology)
5.7 आधुनिकीकरण, विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन (Studies related to Modernisation, Development and Social Change)
5.8 सामाजिक विचलन एवं सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययन (Studies pertaining to Social Deviance and Social Problems)
5.9 सारांश
5.10 बोध प्रश्न
5.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन के जो केन्द्रीय मुद्दे हैं जिन पर धुरी के रूप में समाजशास्त्र का सैद्धान्तीकरण टिका है तथा मुख्य क्षेत्रीय अध्ययन जिन्होंने विकास एवं नीतियों को नई दिशा प्रदान की, के बारे में परिचित कराना है। भारतीय समाजशास्त्र में शोध के क्षेत्र में जो नवीन प्रवृत्तियां विकसित हो रही हैं उनके बारे में आपको जानकारी प्रदान करना है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारतीय समाजशास्त्र में नवीन शोध प्रवृत्तियों के बारे में वर्णन कर सकेंगे।
- जाति,परिवार एवं नातेदारी के क्षेत्रीय अध्ययन का उल्लेख कर सकेंगे।
- ग्रामीण अध्ययन एवं जनजातीय शोध के बारे में विवरण कर सकेंगे।
- सामाजिक आन्दोलन व सामाजिक गतिशीलता के अध्ययनों तथा औद्योगिक समाजशास्त्र के अध्ययनों के साथ ही विकास एवं आधुनिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों की व्याख्या कर सकेंगे।
- सामाजिक विचलन एवं सामाजिक समस्याओं के अध्ययनों के बारे में बता सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययनों का क्षेत्र दिन प्रतिदिन नवीन आयामों को छू रहा है, और क्षेत्र भी वृहद

हैं, परन्तु फिर भी सदैव समाजशास्त्रीय शोधों में कुछ मुद्दे केन्द्रीय रहे हैं जैसे —जाति, परिवार, गाँव, उद्योग, सामाजिक गतिशीलता, एवं आधुनिकीकरण तथा विकास । इन मुद्दों की ओर शोधकर्ताओं के झुकाव का कारण उपनिवेशवादी प्रशासकों का प्रभाव था।

श्चिम के अंधानुकरण से बौद्धिक निर्भरता बढ़ी है और भारतीय समाजशास्त्र पुनरावृत्ति तक सीमित हो या है। इस प्रारूप के अन्तर्गत मात्र अंत: सांस्कृतिक सत्यापन की सीमा तक ही ज्ञान बंध जाता है व ्वतंत्र रूप से बौद्धिक विकास की सम्भावना कुंठित हो जाती है। इस आधार पर भारतीय समाजशास्त्री श्चिमी ज्ञान के सामूहिक उपभोक्ता बनकर रह जाते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति के अन्तरगत ज्ञान का ंडीकरण (Marketing) होता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने मध्यम मार्ग अपनाने की पहल की है जिसके न्तर्गत समाजशास्त्रीय सार्वभौमिकता एवं क्षेत्रीयता के मध्य संतुलन रखने की आवश्यकता है। नम्बूदरी Namboodri) के अनुसार भारतीय समाज की कतिपय विशेषताएं हैं, जिनको सामाजिक प्रक्रिया के ध्ययन के सन्दर्भ में रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ भारतीय जनसंख्या का गाँवों में बाहुल्य, जाति यवस्था, संयुक्त परिवार एवं अध्यात्मिक, धार्मिक व नैतिक आदर्श प्रतिमान। इसका अर्थ यह नहीं कि गर हम ऐतिहासिक एव सांस्कृतिक सन्दर्भों को ध्यान में रखकर अध्ययन करें तो हमारे प्रारूप और द्धतियां समाज विशिष्ट होनी चाहिए। समाज या देश में अतिविशिष्टता (Overspeciality) समाजशास्त्र ज्ञान की अमूर्तता को नष्ट कर सकती है। इस इकाई में भारतीय समाजशास्त्र के भारतीय एवं पाश्चात्य ानों उपागमों से किये गये क्षेत्र अध्ययनों पर विमर्श किया गया है।

स इकाई के भाग 5.2 में भारतीय समाजशास्त्र में नवीन शोध प्रवृत्तियों की चर्चा की गयी है।

ाग 5.3 का शीर्षक ''जाति, परिवार एवं नातेदारी के अध्ययन'' है इसमें भारतीय सामाजिक व्यवस्था के न तीन निर्माणक इकाइयों के अध्ययनों की चर्चा की गयी है।

ाग 5.4 में ग्रामीण अध्ययनों एवं जनजातीय शोधों की चर्चा की गई है।

न इकाई के भाग 5.5 में सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक आन्दोलनों से सम्बन्धित अध्ययनों को ाख्यायित किया गया है।

न इकाई के भाग 5.6 में औद्योगिक समाजशास्त्र से सम्बन्धित अध्ययनों को संकलित किया गया है।

थ ही भाग 5.7 में आधुनिकीकरण, विकास एवं सासाजिक परिवर्तन के बारे में विचार किया गया है।

ा इकाई के भाग 5.8 में सामाजिक विचलन एवं सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययन दिये गये ।

सि न केवल प्रतियोगी परीक्षार्थियों के लिए एक ही स्थान पर विभिन्न अध्ययनों का संकलन मिल येगा, बल्कि परास्नातक विद्यार्थियों के लिए अग्रिम स्तर पर क्षेत्र अध्ययन करने की प्रेरणा मिलेगी।

.2 भारतीय समाजशास्त्र एवं नवीन शोध प्रवृत्तियां

तीय समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र के 1950 ई से पूर्व काल में भारतीय सामाजिक और स्कृतिक यथार्थताओं,को समझने में नई दिशा मिली। जाति,परिवार, नातेदारी, प्रजाति और संस्कृतियां, र्मक विश्वास, मूल्य और रीतियों के अध्ययन पर भी जोर दिया गया।

ान्तिक तौर पर मैलिनोवस्की का प्रकार्यवाद और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को व्यापक स्वीकारता मिली पर ु विद्वानों ने इसे कठिनता से स्वीकार किया। द्वन्द्वात्मक परिप्रेक्ष्य को भारतीय समाज एवं संस्कृति पर संधनीय उपागम की तरह नहीं देखा गया। कुछ विद्वानों ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं को

ऐतिहासिक और भारतशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा। सर्वेक्षण विधि शोध के क्षेत्र में इतनी सामान्य न थी।

सूक्ष्म समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक मानवशास्त्र शोधों के स्थान पर वृहद विश्लेषणात्मक उपागम (Macro analytical approach) को अधिक मान्यता मिली। 1950 ई0 से 1960 ई0 के बीच नई प्रवृत्तियां विकसित होने लगी, इनमें से कुछ मुख्य थीं, जाति और स्तरीकरण, परिवार और नातेदारी, धर्म और संस्कार, ग्रामीण सामाजिक संस्थाएं । कुल मिलाकर जाति और स्तरीकरण भारतीय समाज की इतनी अधिक महत्वपूर्ण संरचनात्मक वास्तविकता है कि इन अध्ययनों ने समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों को अपने से जोड़ा रखा। (श्रीनिवास, 1959 ए)

श्रीनिवास के जाति और धर्म के अध्ययनों ने न केवल संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को देखा बल्कि ग्रामीण परिवेश मे जाति की गतिशीलता को देखा। लुई ड्यूमो ने 1970 में जाति के अध्ययनों को विशेष महत्व प्रदान किया। राजनीतिक समाजशास्त्र के प्रारम्भिक दिनों में गाँव या स्थानीय स्तर पर राजनीति में जाति पर विशेष ध्यान दिया गया।

1950 ई के बाद का काल ग्रामीण भारत के अध्ययन में संभरण का कार्य करता रहा।

सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन भी अत्याधिक महत्वपूर्ण हैं। परिवार संरचना में परिवर्तन संयुक्त से नाभिकीय का परिवर्तन कपाड़िया, आई.पी.देसाई, एम. एस. गोरे, ए.एम. शाह के अध्ययन द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। 1950 के बाद औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अध्ययन किये गये। हाल में पर्यावरणीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में नित नये शोध कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, इनमें से अधिकांश अध्ययन अन्तर्वैधयिक (Interdisciplinary) हैं। जिनमें जीवन की गुणवत्ता, विस्थापन, मानव पूँजी आदि उपविषय केन्द्र में हैं।

5.3 जाति, परिवार और नातेदारी के अध्ययन

एम. एन. श्रीनिवास द्वारा जाति और धर्म का अध्ययन संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पक्षों के साथ-साथ ग्रामीण परिवेश में जाति व्यवस्था की गतिशीलता की चर्चा करता है। श्रीनिवास ने अन्तर जातीय सम्बन्धों एवं उनकी गतिशीलता को व्याख्यायित करने में प्रभु जाति, संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण जैसी अवधारणाओं को जन्म दिया। ग्रामीण स्तर पर शक्ति सम्बन्धों के अध्ययन में व्यापक रूप से "प्रभु जाति" (Dominant caste) की अवधारणा का प्रयोग किया गया। वाई. बी. डामले (Y.B. Damle) ने जाति गतिशीलता एवं गतिकी की व्याख्या में सन्दर्भ समूह सिद्धान्त की वकालत की, जबकि आन्द्रे बेते ने तंजौर गांव के अध्ययन में 'बेबरियन माडल' को भारतीय गांवों में सामाजिक स्तरीकरण की परिवर्तित होती दशाओं के अध्ययन के लिए उचित माना है। आन्द्रे बेते के अनुसार जाति आन्दोलन को तीन अक्षों से देखा जा सकता है। "संस्कार प्रस्थति" (Ritual status) (संरचनात्मक रूप से परिभाषित) "वर्ग स्थिति (Class position) (जो कि उत्पादन के साधनों से सम्बन्धों को लेकर परिभाषित है) और "राजनीतिक शक्ति" (Political power) ।

लुईस ड्यूमो की "होमो हाइरेरकिकस (Homo Hierarchicus) ने 1970 ई0 में जाति अध्ययनों को पुनर्जीवित किया। इन्होंने प्राचीन शास्त्रों में जाति विचारधारा की व्याख्या को समझने पर जोर दिया। ड्यूमो के अनुसार भारतशास्त्रीय एवं संरचनात्मक उपागम अध्ययन से जाति व्यवस्था और ग्रामीण सामाजिक संरचना को समझा जा सकता है। भारत में सामुदायिक विकास, पंचायती राज, और प्रजातांन्त्रिक विकेन्द्रीकरण के माध्यम से राजनीतिक विकास के 1950 ई0 के काल में ही दूरगामी सामाजिक दुष्परिणाम आने लगे थे। ग्रामीण संरचना, शक्ति संरचना, और ग्रामीण परिवर्तन ने दो दशकों तक शोध अध्येताओं को प्रभावित किया (एस. सी. दुबे 1969 आर. एन. हलधर, 1974, 30-165)

गति और शक्ति-संरचना के पारस्परिक अध्ययनों को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इस सन्दर्भ में प्रो. गेंन्द्र सिंह, आन्द्रे बेते, बी. एस. बविस्कर, सी पार्वथम्भा के अध्ययनों को देखा जा सकता है। राजनैतिक समाजशास्त्र के प्रारम्भिक विकास काल में ग्रामीण या स्थानीय स्तर पर राजनीति में जाति एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरा। इस क्षेत्र में शोध मूलत: विदेशी लोग जैसे ए. सी. मेयर, कैथलीन गफ, ल्ड, मैकिम मैरिएट, एफ. जी. बेली आदि कर रहे थे। बाद के अध्ययनों में एस. सी. दुबे (1968), गेश अटल (1968), टी. के. ओम्मन (1970) के अध्ययन महत्वपूर्ण थे, जिन्होंने इस क्षेत्र को नर्जीवित किया।

ारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत इकाई परिवार है और समाज को निर्माणक कार्यों में लगाये रखने और सतत प्रगति की ओर अग्रसर रखने के लिए कि समाज बना रहे, पुनरूत्पादन (Reproduction) के ाध्यम से यह कार्य भी करता है। परन्तु समाजवैज्ञानिकों ने परिवार की बदलती संरचनात्मक एवं कार्यात्मक स्थितियों पर जोर दिया कि किस प्रकार परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार नाभिकीय परिवार ा रूप में परिवर्तित होता जा रहा है। वे कौन से कारक हैं, जिनके कारण संयुक्त परिवार नाभिकीय में दलता जा रहा है। कुछ आनुभाविक अध्ययन यहाँ दर्शाये गये हैं। आई. पी. देसाई ने (1964 : 21) जरात के मुख्य नगर के 423 परिवारों का 1955-57 में अध्ययन किया था, जहां 25,000 जनसंख्या थी ौर4800 घर थे। कुल जनसंख्या में से 78 प्रतिशत हिन्दू थे और 22प्रतिशत मुस्लिम थे पीढ़ी विस्तार ा आधार पर 423 परिवारों के निदर्शन (Sample) में उन्होंने पाया कि 4.03 प्रतिशत परिवार एक पीढ़ी ा एकाकी परिवार थे, 57.45 प्रतिशत दो पीढ़ी के एकाकी परिवार थे। 32.86 प्रतिशत तीन पीढ़ी के युक्त परिवार थे 5.67 प्रतिशत चार या उससे अधिक पीढ़ी के संयुक्त परिवार थे। दूसरे शब्दों में 61.47 तिशत परिवार एकाकी और 38.53प्रतिशत संयुक्त थे। ये आँकड़े यह प्रकट करते हैं कि संयुक्तता ointness) की अपेक्षा एकाकिता (Nuclearity) अधिक मौजूद है। कुल 423 परिवारों का र्गीकरण संयुक्तता के स्तर पर तथा दूसरे परिवारों के साथ सम्बन्धों के आधार पर करते हुए देसाई ने या कि लगभग आधे परिवार निवास, सम्पत्ति तथा कार्य प्रणाली के आधार पर संयुक्त थे, जबकि एक हाई केवल कार्य प्रणाली के आधार पर संयुक्त थे।

न प्रकार देसाई ने (1956 : 154: 56) नगरीय परिवरों में परिवर्तन के विषय में तीन प्रकार के निष्कर्ष ये। (1) एकाकिता बढ़ रही है, संयुक्तता घट रही है। आवासीय एवं संगठनात्मक प्रकार के परिवारों पति-पत्नी ओर बच्चों के समूह की प्रधानता है।

२) व्यक्तिवाद की भावना नहीं पनप रही है क्योंकि जो परिवार आवासीय व संगठनात्मक रूप से काकी हैं उनमें से 50 प्रतिशत से कुछ कम परिवार उसी नगर में रहने वाले या नगर के बाहर रहने वाले रेवारों से सक्रिय रूप से संयुक्त हैं।

३) संयुक्तता के घेरे में नातेदारी सम्बन्धों की परिधि छोटी होती जा रही है संयुक्त परिवारों में समरेखीय स्तार सम्बन्ध पाया जाता है।

. एम. कपाड़िया (1956: 112) ने भी 1955-56 में अपने किये गये अध्ययन में ग्रामीण और नगरीय रेवारों में परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। इन्होंने सूरत जिले के नगर ''नवसारी'' और इस र के आस पास के पन्द्रह गांवों का अध्ययन किया था।

लेन रास ने एक नगरीय क्षेत्र में उच्च व मध्यपवर्गीय परिवारों में परिवर्तन के स्वरूप का अध्ययन या था। ए. एम.शाह ने गुजरात के गांव ''राधानवाज'' में 483 घरों का अध्ययन किया।

मकृष्ण मुखर्जी ने पश्चिमी बंगाल में 1960-61 में 4,210 परिवारों का अध्ययन किया और इस ष्कर्ष पर पहुंचे कि संयुक्त परिवार की संरचना समय के साथ एकाकी परिवारों में बदल रही है।

एम. एस. गोरे (1968:247-48) ने 1960 में हरियाणा में बसे या वहां से आये 499 अग्रवाल परिवारों (399 मुख्य निदर्शन में तथा 100 अतिरिक्त निदर्शन) का अध्ययन किया। सच्चिदानन्द (1977) ने 1970 में शाहाबाद जिले के 30 ग्रामों के 720 परिवारों का अध्ययन किया। प्रत्येक गांव से उन्होंने स्तरित निदर्शन (Stratified sampling) के आधार पर 24 परिवारों का चयन किया। परिवारों को स्तरीकृत करने के लिए जिन तीन चरों (Variables) का प्रयोग किया था, वे हैं: जाति (दो स्तरों पर) भूमि सम्पत्ति (Land holding) का आकार (तीन स्तरों पर) तथा साझी खेती (दो स्तरों पर)। उन्होंने प्रत्येक स्तर समूह से दो परिवार लिये। इन परिवारों के इस निदर्शन में 6675 व्यक्ति शामिल थे।

पालिन कोलेण्डा (1968) ने 1950 व 1970 के दशकों के बीच किये गये 26 अध्ययनों के आधार पर घरों की रचना (Composition of household) से सम्बन्धित परिमाणात्मक (Quantitative) तथ्यों (सह-निवास व सह-भोजन इकाइयों) का प्रयोग किया। इन अध्ययनों में नौ ग्रामीण, दस अलग अलग जातियों तथा सात जिलों का सर्वेक्षण सम्मिलित था। कोलेण्डा ने पाया कि (1) यद्यपि अधिक संख्या में लोग संयुक्त व पूरक एकाकी परिवारों में रहते हैं लेकिन संरचना की दृष्टि से अधिक परिवार एकाकी ही होते हैं। (2) संयुक्त परिवारों के अनुपातों में क्षेत्रीय भेद स्पष्ट होते हैं। (3) संयुक्त परिवार उच्च और भूस्वामी जातियों की एक विशेषता है अपेक्षाकृत निम्न और भूमिहीन जातियों के।

जहाँ तक नातेदारी व्यवस्था (Kinship Systems) से सम्बन्धित अध्ययनों का प्रश्न है, इरावती कर्वे का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

इरावती कर्वे ने भाषाई भेदों अर्थात संस्कृति, इण्डो आर्य भाषायें (जो उत्तरी और मध्यवर्ती प्रदेशों में बोली जाती हैं। द्रविण भाषायें (जो दक्षिणी प्रान्तों में बोली जाती हैं) तथा आस्ट्रिक व मुन्दारी भाषायें (जो पूर्वी प्रान्त में बोल जाती हैं) को आधार मानकर सम्पूर्ण देश को चार (उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी) भागों में बाँटकर भारतीय समाज में नातेदारी के लक्षणों का 1930, 1940, 1950 के दशकों में विवेचने किया। उत्तरी और मध्यवर्ती क्षेत्रों में भेद पहाड़ी और मैदानी क्षेत्रों के आधार पर किया गया।

विलियम रोव (William Rowe : 1960) ने उत्तर प्रदेश के बनारस जिले के एक गाँव में 1959 में किये गये अध्ययन मे पाया कि स्त्रियों की ओर के नातेदार श्रम के आदान-प्रदान का, खेती के उपकरणों का पशुओं का एवं कर्ज का भी आदान-प्रदान व लेन देन करते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने गांव में परेशानी में पड़ता है तो वह अपने मामा या साले के गांव चला जाता है।

कोहन (Cohn) 1955:57-58) ने भी गांव के एक अध्ययन में देखा कि स्त्री की ओर के नातेदार अनेक प्रकार से नातेदारी के बन्धनों को बनाये रखते हैं।

5.4 ग्रामीण अध्ययन व जनजातीय शोध (Rural Studies and Tribal Researches)

उपनिवेशवादी काल में गाँवों - उनकी जाति संरचना, सामाजिक व्यवस्था, भूमि व्यवस्था ने विद्वानों एवं प्रशासकों का ध्यान अपनी ओर खीचा। 1950 ई0 के बाद का काल भारत में ग्रामीण समुदायों के अध्ययन में विशेष महत्व रखता है (चौहान 1974 : 83)

इस काल में एस. सी. दुबे की 'भारतीय ग्राम' (1955) एक महत्वपूर्ण कार्य था, क्योंकि ग्रामीण सामाजिक संरचना का यह पहला लेखा जोखा था। बाद के वर्णनाात्मक अन्वेषणात्मक अध्ययनों के लिए एक आदर्श माडल बना यह अध्ययन आज भी ग्रामीण अध्ययनों में मील का पत्थर है।

ग्रामीण अध्ययनों में समाजवैज्ञानिकों की अभिरु चि उससमय बढ़ी, जबकि भारत सरकार द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम लागू किया गया। इसे लागू करने के बाद भारतीय गांवों में "संरचना"

tructure) से ''परिवर्तन'' की आवश्यकता महसूस की गयी। प्रो. श्यामाचरण दुबे का एक अन्य त्वपूर्ण कार्य है। ''इण्डियाज चेंजिंग विलिजेज'' (India's Changing Villages) जो कि दो अंकों मैकिम मैरिएट और एम. एन. श्रीनिवास द्वारा सम्पादित की गयी, जिसमें गांवों के संरचना एवं परिवर्तन परिणामों को विश्लेषित किया गया। बाद में कई विद्वानों ने ग्रामीण अध्ययनों की ओर अपने को मुख किया। 1940 ई0 में प्रो. रामकृष्ण मुखर्जी ने बंगाल के छह गाँवों की आर्थिक संरचना का ध्ययन किया। समूह के रूप में गांवों के अध्ययन की परम्परा को आधार प्रदान करने वालों में प्रो. गेन्द्र सिंह , के. एल. शर्मा (1970) आदि महत्वपूर्ण हैं, जिन्होंने आँकड़ों को महत्व दिया। जबकि सी एक गांव का अध्ययन एवं तुलनात्मक रूप से दो गांवों का अध्ययन की परम्परा बी. आर. चौहान ''ए राजस्थान विलेज'' एवं प्रो. योगेश अटल के राजस्थान और मध्य प्रदेश के एक एक गांव के नात्मक अध्ययनों से पड़ी।

मीण अध्ययनों में रुचि प्रदर्शित करने वालों में समाजशास्त्री, समाज मानवशास्त्री दोनों विधाओं के द्वान थे। के. एस. माथुर ने मालवा गांव में जाति के संस्कारिक पक्ष के बारे में शोध किया।

. एस. ए. राव ने दिल्ली महानगर के एक समीपवर्ती गांव में आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन का ध्ययन किया। यह शोध क्षेत्र इतना अधिक लोकप्रिय था कि शोधकर्ताओं की पहचान अध्ययन किये ने वाले गांव से हो गयी। जैसे - श्रीनिवास - रामपुरा के साथ, श्यामाचरण दुबे - शमीरपेट के साथ, न्द्रबेते - श्रीपुरम के साथ, के ईश्वरन - शिवापुर गांव के साथ सम्बद्ध किये जाते हैं।

ी श्रंखला में कैथलीन गॅफ का तंजौर ग्राम का अध्ययन, मैंडलबाम का नीलगिरि के एक गांव का ध्ययन, मैकिम मैरिएट का यू. पी. के एक गांव के सामाजिक ढांचे का अध्ययन, महत्वपूर्ण है।

ादित एवं महत्वपूर्ण ग्रामीण अध्ययन जो कि ग्रामीण शक्ति-संरचना एवं विकास कार्यक्रमों के स्परिक सम्बन्धों पर आधारित हैं, उनमें ज्योतिर्मयी शर्मा का पं0 बंगाल के एक गांव का अध्ययन, ब्रक का लखनऊ जनपद के ''अनौरीकला'' गांव का अध्ययन प्रासंगिक है।

जातीय शोधों के अन्तर्गत डी. एन. मजूमदार का 'हो' जनजाति का अध्ययन मर्डाक का 250 परिवारों अध्ययन, हर्बट रिजले की ''पीपुल्स आफ इण्डिया'', एस. सी. दुबे का कमार जनजाति का अध्ययन, नोवस्की का ट्रोबियांड जनजाति का अध्ययन, एस. सी. राव का उराँव जनजाति का अध्ययन, मुण्डा अध्ययन, टी.बी. नायक का भील जनजाति का अध्ययन, इन्द्रजीत सिंह का गोडवाना के गोंडों का ध्ययन महत्वपूर्ण हैं।

5 सामाजिक आन्दोलन एवं सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन (Studies Pertaining to Social Movement and Mobility)

ाजिक गतिशीलता के अध्ययनों पर भी विद्वानों का ध्यान गया, विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण, ोण अध्ययनों, सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों से अपने को विमुख करते हुए इस ओर ध्यान दिया। क्षेत्र के अन्तर्गत उन सामाजिक शक्तियों पर ध्यान दिया गया जो सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित ी थीं। इस क्षेत्र में आन्द्रे बेते (1969), आर. एस. खरे (1970), सुनन्दा पटवर्धन (1968) और के. अलेक्जेडर (1968) का नाम महत्वपूर्ण है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्गों में शीलता ने भी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींचा (सच्चिदानन्द : 276-310)।

एम. एस. ए. राव ने भारतीय सामाजिक आन्दोलनों का अमूर्तीकरण किया है। राव सामाजिक आन्दोलन को एक सामूहिक प्रक्रिया मानते हैं, जिसका उद्देश्य विचारों, व्यवहारों और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाना है। यह परिवर्तन किसी न किसी वैचारिकी पर आधारित होता है। प्रदूषण को रोकने के लिए संसार भर में जो प्रयास किये जाते हैं, जनसंख्या नियन्त्रण के लिए जो प्रयास किये जाते हैं, यह सब सामाजिक आन्दोलन के दृष्टान्त हैं। टर्नर ने सामाजिक आन्दोलनों के अन्तरगत सुधार आन्दोलन (Reform Movement), क्रान्तिकारी आन्दोलन (Revolutionary Movement), प्रतिक्रियावादी आन्दोलन (Reactionary Movement), अभिव्यंजक आन्दोलन (Expressive Movement) को रखा है।

5.6 औद्योगिक समाजशास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन (Studies Pertaining to Industrial Sociology)

1950 ई0 के बाद औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अध्ययन किये गये। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बाद सामाजिक संरचना में जो परिवर्तन हुए, या जो परिवर्तन सम्भावित थे, उन पर समाजशास्त्रियों ने विचार करना प्रारम्भ कर दिया। इस क्षेत्र में एन. आर. सेठ (1568) का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है । सेठ ने सम्बन्धों की उस संरचना का विश्लेषण किया जो कारखाने में साथ साथ कार्य करते करते विकसित हुई थी तथा उस सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को भी विश्लेषित किया, जिसमें सम्बन्धों की संरचना पोषित हुई। एन. श्रीनिवास के शिष्य सेठ ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण की अवधारणात्मक वर्गावली का प्रयोग किया।

औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो अध्ययन किये गये यदि उनके उपक्षेत्रों का विश्लेषण किया जाए तो वे इस प्रकार होंगे : औद्योगीकरण के सामाजिक प्रभाव, कामगारों का कार्य समर्पण, श्रमिक प्रबन्धन, सम्बन्ध, औपचारिक एवं अनौपचारिक समूहों का विश्लेषण उत्पादकता एवं श्रम संगठनों के सम्बन्ध में।

रिचर्ड लेम्बर्ट (1963) का पूना के औद्योगिक श्रमिकों का अध्ययन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। हाल में औद्योगिक उद्यमिता के ऊपर भी कुछ अध्ययन किये गये (के. एल. शर्मा, 1975, 1978, सब्बरवाल 1977)

लक्ष्मी नाडकर्णी का औद्योगिक श्रमिकों का अध्ययन तथा एच. आर. मुखी का तकनीकी हस्तान्तरण का अध्ययन उल्लेखनीय हैं। डी. एन. मजूमदार का अध्ययन "दि कन्टोर्स आफ एन इन्डस्ट्रियल सिटी: कानपुर" बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण स्थितियों (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) का विश्लेषण सर्वेक्षण के साथ प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि मैकाइवर एवं आगबर्न ने इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय प्रयास किये। औद्योगिक समाजशास्त्र से जुड़ा एक नवीन शोध क्षेत्र "पर्यावरण का समाजशास्त्र" उभर रहा है जिसमें पर्यावरण अपकर्षण से उभरे नवीन पहलू, जीवन की गुणवत्ता, मानव विकास विस्थापन से उत्पन्न संकटों को सम्मिलित किया जा रहा है।

5.7 आधुनिकीकरण, विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन (Studies relalted to Modernization, Development & Social Change)

आधुनिकीकरण, विकास एवं सामाजिक परिवर्तन उत्तरोत्तर प्रगति की ओर बढ़ती समाजशास्त्र की प्रगति के लिए अपरिहार्य एवं अवश्यम्भावी अध्ययन के मुद्दे हैं, साथ ही ये मुद्दे अन्तर्वैषयिक भी हैं।

ाधुनिकीकरण कोई दर्शन या आन्दोलन नहीं है जिसमें स्पष्ट मूल्य व्यवस्था हो यह तो परिवर्तन की एक क्रिया है। (गोरे 1982:7) प्रारम्भ में आधुनिकीकरण शब्द का प्रयोग ''अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और ामाजिक मूल्यों एवं प्रथाओं पर इसके प्रभाव'' के सन्दर्भ में किया जाता था। इसका वर्णन ऐसी प्रक्रिया ् रूप में किया जाता था जिसने समाज को, कृषि प्रधान समाज से प्रमुख रूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था ाले समाज में परिवतर्तित कर दिया है। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूल्यों, परम्पराओं ंवं विश्वासों में भी परिवर्तन होने लगे। आजकल आधुनिकीकरण का बृहद अर्थ दिया जाने लगा है, जसके अन्तरगत विज्ञान और तकनीकी (Science & Technology) के तत्व भी शामिल हैं। एलाटास ् अनुसार (Alatas, 1972: 22) ''आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्बद्ध समाज ारा स्वीकृत विस्तृत अर्थों में अधिक अच्छे एवं सन्तोषजनक जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के ्देश्य से आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान को समझाया जाता है।

ाइसेन्सटेड ने आधुनिकीकरण के माध्यम से संरचनात्मक पक्ष और सामाजिक जनसंख्यात्मक पक्ष दोनों ी व्याख्या की। रस्टोव व वार्ड ने अपने अध्ययन ''पालिटिकल माडर्नाइजेशन इन जापान एण्ड टर्की '' ं यह स्थापित करने का प्रयास किया।

ूरे (Moore 1961, 57-82) ने बताया कि आधुनिक समाज के विशेष आर्थिक, राजनैतिक और ांस्कृतिक लक्षण होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक समाज के लक्षण निम्न हैं (1) अत्यन्त स्तरीय कनीकी का विकास जो ज्ञान की व्यवस्थित खोज से होता है। जिसका अनुसरण प्राथमिक व्यवसाय कृषि) में कम और द्वितीयक (उद्योग और व्यापार) व तृतीयक (नौकरी) व्यवसायों में अधिक होता है। ाजनैतिक क्षेत्र में आधुनिक समाज कुछ अर्थों में प्रजातांत्रिक या कम से कम जनवादी होते हैं।

वतंत्रता के समय भारतीय समाज में गहरी परम्पराएं थी, किन्तु यह आधुनिक भी होना चाहता था। ऐसे ोग व ऐसे नेता थे, जो कि परम्परागत जीवन शैली ही पसन्द करते थे, लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी ं, जो भारत का आधुनिक उदय देखना चाहते थे। हमने अपने समाज को विविध स्तरों पर आधुनिक नाने का निश्चय किया। सामाजिक स्तर पर हम सामाजिक सम्बन्धों को समानता तथा मानवीय गौरव के ाधार पर बनाना चाहते थे। ऐसे सामाजिक मूल्य बनाना चाहते थे जो सामाजिक गतिशीलता को ुनिश्चित करें, जाति निर्योग्यताओं को दूर करें आर्थिक स्तर पर हम तकनीकी विकास तथा न्यायपूर्ण वेतरण (Distributive justice) चाहते थे। सांस्कृतिक स्तर पर हम धर्मनिरपेक्षता, तर्कवाद और ुदारतावाद चाहते थे। राजनैतिक स्तर पर हम प्रतिनिधि सरकार, जनतान्त्रिक संस्थाएं, उपलब्धिपरक शक्ति संरचना (Achievement oriented power structure) तथा देश की सरकार में भारतीय जन की धिक आवाज व भागेदारी चाहते थे। समाज को आधुनिक बनाये जाने के लिए जो माध्यम (तर्कवाद और वैज्ञानिक ज्ञान) पर आधारित थे जैसे — नियोजन, शिक्षा, विधान, विदेशों से सहायता और उदारवाद की नीति अपनाना, आदि इन सबको हम प्रयोग में लाना चाहते थे।

जहाँ तक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध है विस्तृत रूप से कहा जा सकता है कि गुणात्मक ृष्टिकोण मे भारत में आधुनिकीकरण निम्न प्रक्रियाओं से गुजर रहा है।

आर्थिक संरचनात्मक स्तर पर पुरानी पारिवारिक एवं सामुदायिक उपकरणीय अर्थव्यवस्था को अपनाने की ृवृत्ति बढ़ रही है। यह जजमानी व्यवस्था परम्परागत व्यवस्था को तोड़ने के लिए उत्तरदायी है।

ाजनैतिक संरचनात्मक स्तर पर, शक्ति संरचना में परिवर्तन लाया जा रहा है, अर्द्धसामन्ती समूह परक (Group oriented) शक्ति संरचना का उन्मूलन करके उसके स्थान पर जनतांत्रिक संरचना की स्थापना ो रही है जो कि आवश्यक रूप से व्यक्तिपरक (Individual oriented) होती है।

सांस्कृतिक स्तर पर मूल्यों के क्षेत्र में परिवर्तन, पवित्र मूल्य व्यवस्था से धर्मनिरपेक्ष मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन के द्वारा लाया जा रहा है।

सामाजिक संरचनात्मक स्तर पर अर्जित परिस्थिति भूमिका की अपेक्षा प्रदत्त भूमिका व परिस्थिति में कमी आई है। प्रो. योगेन्द्र सिंह (1973) ने अपने अध्ययन "माडर्नाइजेशन आफ इण्डियन ट्रेडेशन" (Modernization of Indian Tradition) में कहा कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आधुनिकीकरण एक नवीन तरीके से आ रहा है। जिसमें संरचनात्मक विखण्डन के बिना ही परम्परागत संरचना में परिवर्तन लाया जा रहा है।

जहाँ तक विकास से सम्बन्धित अध्ययनों का प्रश्न है, इस सम्प्रत्यय से पूर्व, समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में उद्विकास और प्रगति के प्रत्यय उपयोग में लाये जा रहे थे। चूँकि ये अवधारणाएं अब वैज्ञानिक नहीं समझी गयीं अत: इन्हें त्याग दिया गया। अनेक अर्थशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने विकास के प्रत्यय को एक वैज्ञानिक एवं यथार्थ सन्दर्श में रखते हुए इसको उद्विकास की अवधारणा से पृथक कर दिया। इस सम्बन्ध में हाबहाउस (Hobhouse), ग्लेजरमैन (Glezerman), बॉटोमोर, स्टैली (Staley) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विकास के प्रत्यय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मानव तत्व को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और यह अवधारणा मानव तथा समाज को स्वाधीन अभिकर्ताओं के रूप में देखे जाने पर बल देती है और यह मानकर चलती है कि चेतन और तार्किक नियोजन द्वारा कम से कम समय में और कम से कम साधनों द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन किया जा सकता है। विकास की अवधारणा में जो मानवीय तत्व व्याप्त हैं, इसके दो महत्वपूर्ण पक्ष निम्न हैं—

(1) मानव परिवर्तन और विकास के लिए प्रकृति के सहारे नहीं रह सकते हैं।

(2) प्राकृतिक प्रक्रियाओं को विवेकपूर्ण तथा आयोजित प्रयत्न द्वारा नियन्त्रित करके विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है।

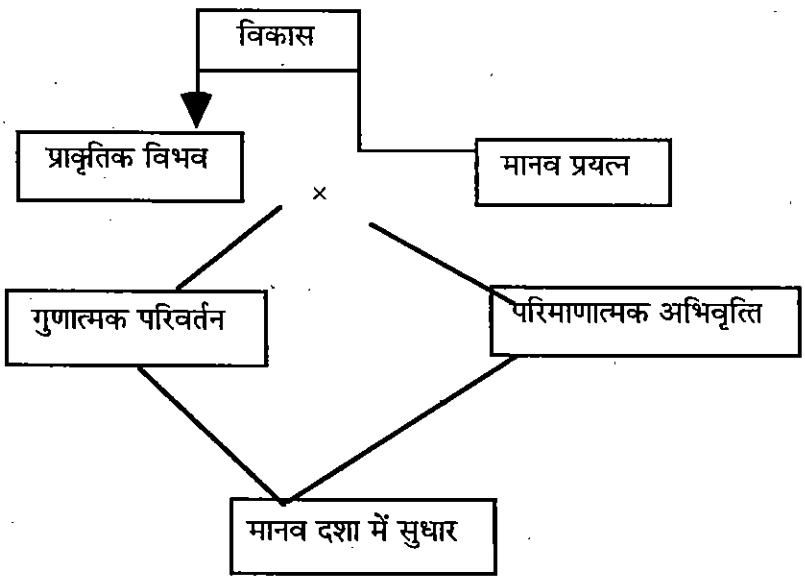

विकास के अनेक पहलू हो सकते हैं, इनमें दो पहलू अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं—

प्रथम सामाजिक विकास (Social Development) तथा द्वितीय आर्थिक विकास (Economic Development) दोनों ही प्रक्रियाएं एक दूसरे की पूरक हैं।

ब कभी विकास की बात चलती है तो सामान्यतया इसका अर्थ आर्थिक विकास से लिया जाता है। कास को राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से समझना चाहिए। प्रो. श्यामाचरण दुबे ने लिखा है कि सामाजिक कास का तात्पर्य केवल आर्थिक विकास से न लेकर जनकल्याण के विकास से लेना चाहिये। नकल्याण से तात्पर्य यह है कि विकास केवल आर्थिक संवर्धन से जुड़ा हुआ नहीं है। जब तक विकास प्रतिफल का न्यायपूर्वक बटवारा नहीं होता है यह विकास जनसमुदाय तक नहीं पहुँचता । दुबे का कतवर तर्क यह है कि विकास के अन्तरगत आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय दोनों होना चाहिए।

कास के अध्ययनों को विकास के सिद्धान्तों के माध्यम से समझा जा सकता है। सामाजिक विकास के ीय के रूप में ही विकास को लिया जाता है। सामाजिक विकास के केन्द्रीय मुद्दे निम्न हैं—

जन जीवन की गुणवत्ता में सुधार करना

आय, संसाधन और प्रतिफल का बँटवारा

शक्ति का बटवारा

मानव संसाधन का विकास

रे विश्वयुद्ध के बाद विकास सिद्धान्त पर दुनियाभर के देशों में जोर दिया जाने लगा। समाजशास्त्र के थापकों ने जिनमें कोंत, दुर्खीम, वेबर और मार्क्स हैं, सामाजिक विकास की व्याख्या अपने अपने तरीके की है। दुर्खीम ने सामाजिक विकास को यान्त्रिक समाज से लेकर सावयवी समाज के रूप में देखा वेबर ने प्रोटेस्टेन्ट आचार की व्याख्या के आधार पर पूँजीवाद का विश्लेषण किया है। उन्होंने स्थापित ा कि विकास में एक आन्तरिक तर्क होता है, जो क्रान्ति के दौर तक समाज को पहुँचा देता है। प्रो. माचरण दुबे ने विकास सिद्धान्त की पहली अवस्था की व्याख्या की। विकास सिद्धान्त की प्रारम्भिक स्था में इसका अर्थ आर्थिक वर्द्धन (Economic Growth) से लिया गया। इस स्तर पर यह धारणा गई कि विकास का वर्द्धन जब एक बार गति पाएगा, तो अपने आप इस वृद्धि के कारण समाज के गैर र्थक पहलुओं में परिवर्तन हो जायेगा। W.W.Roston की पुस्तक दि स्टेजेज आफ इकोनामिक ग्रोथ e Stages of Economic Growth) ने एक लम्बे समय तक दुनिया को अपने साथ जोड़े रखा।

ास सिद्धान्त की दूसरी अवस्था में यह विचारधारा सामने आयी कि मूल्यों, संस्थाओं में सुधार लाना ए। गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) ने अपनी पुस्तक एशियन ड्रामा (Asian Drama) में इसी ागत परिवर्तन की बात कही है।

ास सिद्धान्त अपनी तीसरी अवस्था में पहुँचकर अधिक प्रतिक्रियाशील बन जाता है । अब विकास की वेधियों को सभी नये राष्ट्र गंभीरता से लेने लगे। हमारी विकास की धीमी गति का कारण हमारी ूर्ण परम्पराएं और सामाजिक संरचना है। विकास सिद्धान्त में जो नया पहलू उभरा वह यह कि ास अन्ततोगत्वा मानव केन्द्रित है। विकास सिद्धान्त की चौथी अवस्था में आत्मवाचक (Reflexive) ाता है। विकास की नवीन परिभाषा में राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक स्था दोनों में परिवर्तन लाना होगा। एक नवीन विश्व व्यवस्था (New World Order) की स्थापना ोर कदम बढ़ रहे हैं, विकास की यही नवीन परिभाषा है।

न में अपनाया गया विकास का विकल्प परिरूप

ernative Model of Development Adopted in India)

समाजवादी आदर्शों पर आधारित है जिसे "जनतान्त्रिक समूहवाद" (Democratic Collectiv- कहा जाता है। यह संघर्ष पर आधारित नहीं है बल्कि मतैक्य पर आधारित है। यह समायोजन के नतंत्रीकरण है। यह पूँजीवादी प्रारूप के विपरीत है अत: यह जन सामान्य के लिए विवेक शून्य नहीं

है और रूसी तथा चीनी प्रारूप के भी यह विपरीत है क्योंकि यह व्यक्ति के दमन पर आधारित नहीं है। इसका उद्देश्य "समाजवादी आदर्शों के समाज" का निर्माण करना है यह राजा और व्यक्ति दोनों के हितों की रक्षा करता है। इसका उद्देश्य समान न्याय, जन सामान्य की भागेदारी तथा समाज की एकता स्थापित करना है। निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करना इसका उद्देश्य नहीं है बल्कि मूलभूत और प्रमुख उद्योगों को सार्वजनिक स्वामित्व देने पर बल देना है। फिर भी भारत में समाजवाद के अन्तरगत वह आदर्शात्मक केन्द्रीयता (Ideological centrality)नहीं है जो चीन में है।

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों एवं मूल्य संरचनाओं में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। भारत में सामाजिक परिवर्तन से जुड़े बहुत अधिक अध्ययन हुए हैं चाहे वह सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक सांस्कृतिक या आर्थिक संरचना में होने वाला परिवर्तन हो।

भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने का कार्य सत्ताधारी अभिजनों ने शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना करके, अर्थव्यवस्था को मजबूत एवं आधुनिक बना कर, समाजवादी समाज की स्थापना करके तथा जातियों, क्षेत्रों, वर्गों में असमानताओं को दूर करके किया।

प्रो. योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक परिवर्तन पर चर्चा करते हुए चार उपागमों की चर्चा की थी – दार्शनिक उपागम (Philosophical Approach), अध्यात्मिक उपागम, राजनैतिक उपागम, समाजशास्त्रीय उपागम।

सामाजिक परिवर्तन पर अपने बाद के लेखों में योगेन्द्र सिंह ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के विषय में पांच उपागमों की चर्चा की है। ये हैं उद्विकासीय, सांस्कृतिक उपागम (संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण लघु और वृहद परम्पराएं स्थानीयकरण एवं सर्वव्यापीकरण), संरचनात्मक उपागम विचारात्मक और एकीकरण उपागम।

1. **उद्विकासीय उपागम** – इस उपागम में एक लम्बी श्रंखला में छोटे-छोटे परिवर्तनों द्वारा सरल से जटिल मन्द गति से होने वाले विकास का अध्ययन किया जाता है।

2. **संघर्ष उपागम** – मार्क्सवादी संघर्ष उपागम के अनुसार आर्थिक परिवर्तन सामाजिक समूहों तथा सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों के बीच गहन संघर्षों के माध्यम से नवीन परिवर्तनों को जन्म देता है अनेकानेक संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं का मानना है कि व्यवस्था के विभिन्न भागों में संघर्ष के फलस्वरूप ही परिवर्तन होता है।

3. **सांस्कृतिक उपागम** (Cultural Approach) – इस उपागम के अन्तर्गत सांस्कृतिक तत्वों, इकाइयों में होने वाले पविर्तन का अध्ययन किया जाता है जो अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का कारण बनता है। एम. एन. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण और संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से सांस्कृतिक परिवर्तन का अध्ययन किया। राबर्ट रेडफील्ड ने वृहद और लघु परम्पराओं (Little & Great Tradition) के माध्यम से तथा मैकिम मैरिएट ने स्थानीयकरण एवं सर्वव्यापीकरण (Parochialization and Universalisation) की प्रक्रिया के माध्यम से अध्ययन किया। संस्कृतीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जाति के लोग जाति संस्तरण में उच्च जाति के लोगों के रीति रिवाज, विश्वास, मूल्य, प्रथा आदि का अनुकरण करने लगते हैं साथ ही एक या दो पीढ़ी के बाद वे उर्ध्वाधर गतिशीलता में सफल भी हो जाते हैं।

पश्चिमीकरण गैर पश्चिमी समाज द्वारा पश्चिम की मूल्य, तकनीक संस्थाओं आदि का अनुसरण करना है । प्रो. योगेन्द्र सिंह ने माना है कि आधुनिक भारत में पश्चिमीकरण और संस्कृतीकरण की व्याख्या

रचनात्मक परिवर्तन के स्थान पर सांस्कृतिक परिवर्तन को अधिक दर्शाती हैं। राबर्ट रेडफील्ड के क्सिकों के अध्ययन का अनुसरण करते हुए मैकिम मैरिएट व मिल्टन सिंगर ने लघु और वृहद म्परा का अवधारणात्मक सन्दर्भ में अध्ययन किया। लघु परम्पराएं वे देशी प्रथाएं, देवी देवता तथा तियां हैं जो कि लोक स्तर पर पाये जाते हैं। ये ग्रामीण समुदाय के स्तर पर पाये जाते हैं। जो म्पराएं बाहरी सम्पर्कों से विकसित होती हैं और अभिजन स्तर पर मिलती हैं उन्हें महत परम्परा या हद परम्परा कहा जाता है। मैकिम मैरिएट ने लघु परम्पराओं के मूल तत्वों के महत परम्पराओं की ओर ठने की प्रक्रिया को सार्व भौमिकीकरण कहा है। दूसरी ओर महत परम्पराओं का नीचे की ओर लघु म्पराओं की ओर पहुँचना स्थानीयकरण कहा जाता है ।(अजूजा 1995 :351-54)

संरचनात्मक उपागम (Structural Approach)

ह उपागम सामाजिक सम्बन्धों के जाल तथा सामाजिक संरचना में परिवर्तन का अध्ययन करता है (जाति , तेदारी, कारखाना आदि)

स उपागम के अन्तर्गत परिवर्तन के संरचनात्मक विश्लेषण में सम्बन्धों के संरूपण मे नए सामंजस्य की णात्मक प्रकृति का अध्ययन निहित है। उदाहरणार्थ - जब जीवन साथी का चयन बच्चे स्वयं करते हैं कि उनके माता पिता तब वैवाहिक सम्बन्धों की गुण सम्बन्धी प्रकृति निश्चय ही भिन्न होगी। भारतीय माज के विश्लेषण में परिवर्तन के इस उपागम का प्रयोग कम ही किया गया है बल्कि सांस्कृतिक उपागम ा सबसे अधिक प्रयोग किया गया है (सिंह योगेन्द्र : 1977- 17)

कीकृत उपागम (Integrated Approach)

. योगेन्द्र सिंह ने माना कि कोई भी उपागम भारत में सामाजिक परिवर्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य नहीं प्रस्तुत रता । अत: इन्होंने सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध विभिन्न विचारों को मिलाकर एक नए पैराडाइम व ागम का विकास किया जिसको इन्होंने एकीकृत उपागम कहा है।

स्तुत: भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें आधुनिकता व परम्परा का समन्वय स्पष्ट खाई देता है। एक ओर तो हमने उन विश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं की उपेक्षा की है, जिनकी ावश्यकता अनुभव नहीं की गयी तो दूसरी ओर हमने उन मूल्यों को अपनाया है जिनको हमने अपने लिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक समझा है।

.3 सामाजिक विचलन और सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययन (Studies Pertaining to Social Deviance and Social Problems)

चलन का समाजशास्त्र अपराध, बाल अपराध और अन्य सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करता है। ग्रपि उपरोक्त विषय समाज कार्य और समाजशास्त्र दोनों ही विधाओं का अध्ययन क्षेत्र रहा है, तथापि हीं मुद्दों पर विशेष रूप से अपराधशास्त्र ने कार्य किया जो कि समाजशास्त्र की एक विशेष शाखा है।

चलन वे कार्य हैं जो किसी भी विशेष समूह के मानदण्डों मूल्यों और परिभाषाओं का उल्लंघन है। चलन सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों में देखे जा सकते हैं। कुछ विचलन ऐसे होते हैं, जो ारात्मक व सकारात्मक दोनों ही नहीं होते हैं। सकारात्मक विचलन वे होते हैं जिनका प्रतिफल होता और नकारात्मक वे होते हैं जिनमें दण्ड दिया जाता है।

सामाजिक विचलन पर समाजशास्त्र में साहित्य की प्रचुरता है और अधिकृत रूप से अध्ययन करने वालों में हावर्ड बेकर, राबर्ट क्लीनार्ड, क्लीफोर्ड शा, सदरलैण्ड, क्लोवर्ड डेविड मारजा, एडविन लेमर्ट कोहन आदि हैं।

हावर्ड बेकर ने अपराधियों के अपने अध्ययन में यह तथ्य प्रस्तुत किया कि विचलन को समझने के लिए किसी भी समूह की संस्कृति, उसके मूल्यों एवं मानदण्डों के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए।

राबर्ट मर्टन ने अपने अध्ययन ''अमेरिकन सोल्जर'' (American Soldier) के समय एनोमी (Anomie) अर्थात प्रतिमानहीनता की व्याख्या की। इस व्यवहार में कानून की रोक तो नहीं है लेकिन यह व्यवहार समाज में मानदण्डों, मूल्यों और परम्पराओं का उल्लंघन करता है। मर्टन ने विचलन के बारे में लिखा कि ''विचलन एक ऐसे ब्लैंक चेक की तरह है जिसमें कोई भी रकम भरी जा सकती है। विचलन के अन्तर्गत बाल अपराध, अपराध, वेश्यावृत्ति या मद्यपान सम्मिलित किये जाते हैं। और भी शुद्ध रूप में मर्टन ने लिखा है कि विचलन वह स्थिति है जब व्यक्ति समाज के सांस्कृतिक लक्ष्यों के साथ अपनी सहमति व्यक्त करता है परन्तु संस्थागत साधनों को अस्वीकार कर देता है।

क्लीनार्ड ने लिखा है कि इसके अन्तर्गत वे सारी गतिविधियां सम्मिलित की जाती हैं जो समाज के कानून को तोड़ती हैं विचलित व्यवहार को परिभाषित करते हुए एल्बर्ट कोहन कहते हैं हम विचलित व्यवहार को एक ऐसे व्यवहार के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो कि संस्थागत प्रत्याशाओं (Institutionalized expectations) का उल्लंघन करता है (अर्थात वे प्रत्याशाएं जिन्हें कि एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत वैध या न्यायसंगत मानकर मान्यता प्रदान की जाती है एवं उनमें अंशग्रहण किया जाता है, उनका उल्लंघन करता है।)

राबर्ट आर. बेल (Robert R. Bell) ने अपने अध्ययन "Social Deviance : A Substantive analysis" में लिखा है कि ''डिवायन्स या विचलन की सबसे सामान्य और सरलतम परिभाषा सांख्यिकीय है अर्थात् किसी भी ऐसी वस्तु को विचलित कहकर परिभाषित कर सकते हैं जो कि समाज में प्रचलित औसत से बहुत भिन्न न हो ।

यद्यपि सामाजिक समस्याएं अनिवार्य रूप से व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) होती हैं फिर भी इनका वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। मुख्य रूप से जिन सामाजिक समस्याओं पर समाजशास्त्रियों ने गहनता और प्रचुरता से अध्ययन किया है वे निम्न हैं - निर्धनता (Poverty), युवा असन्तोष (Youth unrest), बाल अपराध (Juvenile delinquency), बेरोजगारी (Unemployment), जनसंख्या विस्फोट, साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा (Communal violence), बाल श्रम (Child labour), महिलाओं के विरूद्ध हिंसा (Violence against women), निरक्षरता (Illiteracy), मद्यपान (Alcohalism), आतंकवाद (Terrorism), भ्रष्टाचार (Corruption) आदि। सामाजिक समस्या को ''सामाजिक आदर्श का विचलन माना गया है जो सामूहिक प्रयत्न से ठीक हो सकता है।'' (वाल्श और फरफे, 1961:1) यहां पर हमने कुछ ऐसे सैद्धान्तिक उपागमों की चर्चा की है जो सामाजिक समस्याओं की विश्वव्यापक व्याख्या देते हैं।

1. मूल्य संघर्ष उपागम (Value conflict approach) मूल्य व्यवहार का सामान्य नियम है जिसके प्रति एक समूह के सदस्य दृढ़ भावात्मक एवं वास्तविक वचनबद्धता महसूस करते हैं समूह के प्रत्येक सदस्य से अपेक्षा होती है कि वह समूह द्वारा अपनाए गये मूल्यों के प्रति वचनबद्ध होगा। विभिन्न समूह व्यवस्थाओं की भिन्न भिन्न मूल्य व्यवस्थाएं होती हैं। दो या दो से अधिक समूहों के मूल्यों में असंगति (Incompatibility) व्यक्तियों को यदि अपनी भूमिका के पालन में हस्तक्षेप करती है तो उसे मूल्य संघर्ष कहा जाता है। संघर्ष की यह स्थिति कुछ समय के लिए हो सकती है या फिर स्थाई

समस्या का रूप धारण कर सकती है। उदाहरणार्थ : श्रमिकों और मालिकों में मूल्यों के संघर्ष के कारण औद्योगिक अशान्ति, हड़ताल होती है। जमीन के मालिकों और किसानों में संघर्ष के कारण कृषि क्षेत्र में अशान्ति रहती है। मूल्य संघर्ष सिद्धान्तवादियों वालर, फुलर, क्यूबर और हार्पर का विश्वास है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति और विकास में मूल्यों के संघर्ष का विशेष महत्व होता है।

(2) सांस्कृतिक विलम्बना उपगम (Cultural Lag Approach) सांस्कृतिक विलम्बना एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक संस्कृति के कुछ भागों में दूसरे सम्बन्धित भागों की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं जिसके परिणामस्वरूप संस्कति का समाकलन और संतुलन (Equalibrium) भंग हो जाता है।

यद्यपि यह उपागम कुछ सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता है परन्तु सभी समस्याओं की नहीं, इसलिए इसे सभी सामाजिक समस्याओं की सार्वलौकिक व्याख्या करने वाला सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है।

(3) सामाजिक विघटन उपागम (Social Disorganisation Approach)
सामाजिक विघटन समाज, समुदाय या समूह की वह स्थिति है जिसमें सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक व्यवस्था या अनौपचारिक एवं औपचारिक प्रतिमान जो उचित व्यवहार को परिभाषित करते हैं, टूट जाते हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने सामाजिक विघटन उपागम को सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण में अपर्याप्त माना है। सामाजिक विघटन के उपागम को सामाजिक समस्याओं पर लागू करते समय जिन कारकों को देखा जाता है वे हैं - पारम्परिक मानदण्ड और प्रथाएँ क्या थे? ऐसे कौन से परिवर्तन हुए जिन्होंने उन्हें अप्रभावी बना दिया ? ऐसे कौन से पुराने नियम हैं जो आंशिक या पूरे रूप से टूट गये हैं ? सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और दिशा क्या है? असंतुष्ट समूह कौन से हैं और वे कैसे समाधानों की प्रस्तावना करते हैं? (हार्टन और लेस्ले : 1970:33)

5.9 सारांश

सारांशत: इस इकाई के अन्तर्गत उन सभी मुद्दों को संकलित किया गया है जो समसामायिक समाजशास्त्र में अध्ययन के केन्द्र में हैं. तथा उन नवीन शोध प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात किया गया है जो भारतीय समाजशास्त्र में शोध एवं क्षेत्र अध्ययन में विकसित हो रही हैं चाहे वह जाति, परिवार, नातेदारी का अध्ययन हो या ग्रामीण अध्ययन व जनजातीय शोध हों या फिर आधुनिकीकरण, विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन हों। साथ ही विद्यार्थियों के सहज प्राप्य साधन के रूप में परीक्षओं में पूछे जाने वाले अध्ययनों - शोधकर्ताओं, एवं पुस्तकों को रेखांकित किया गया है।

5.10 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 भारतीय समाजशास्त्र में शोध की नवीन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये?

प्र. 2 जाति परिवार और नातेदारी से सम्बन्धित महत्वपूर्ण क्षेत्र अध्ययनों पर प्रकाश डालिये?

प्र. 3 आधुनिकीकरण और विकास से सम्बन्धित नवीनतम अध्ययनों पर विस्तृत व्याख्या कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 एम. एन. श्रीनिवास द्वारा जाति गतिशीलता के सन्दर्भ में संस्कृतिकरण की व्याख्या किस प्रकार की गयी है?

प्र. 2 आधुनिकीकरण को परिभाषित करिये?

प्र. 3 भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या करिये?

प्र. 4 भारत में अपनाया गया विकास प्रारूप क्या है स्पष्ट करिये?

प्र. 5 प्रमुख ग्रामीण अध्ययनों के बारे में बताइये ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 "होमो हाइरेरकस" (Homo heirarchus) पुस्तक के लेखक हैं-

(अ) रूडोल्फ (ब) एम. एन. श्रीनिवास (स) डयूमा (द) हट्टन

प्र. 2 शमीरपेट गांव के अध्ययन से सम्बन्धित है?

(अ) आन्द्रेबेते (ब) एस. सी. दुबे (स) कैथलिन गफ (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

प्र. 3 किशनगढ़ी के अध्ययन से कौन समाजवैज्ञानिक सम्बन्धित है?

(अ) मैंडलबाम (ब) मैकिम मैरिएट (स) वाइजर (द) रेडफील्ड

प्र. 4 'हो' जनजाति का अध्ययन किसने किया?

(अ) मजूमदार (ब) एस. सी. राव (स) ब्राऊन (द) गोपाल शरण

प्र. 5 'माडर्नाइजेशन आफ इण्डियन ट्रेडेशन' पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) धनागरे (ब) योगेन्द्र सिंह (स) योगेश अटल (द) बी. आर. चौहान

5.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 स

प्र. 2 ब

प्र. 3 ब

प्र. 4 अ

प्र. 5 ब

इकाई 6 : भारतीय समाजशास्त्र एवं नव-समाजशास्त्रीय विमर्श

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 वैश्वीकरण और भारतीय समाज

6.2.1 वैश्विक व्यापार और बाजार का सांस्कृतिक प्रभाव

6.2.2 उपभोग समाज (Consumer Society)

6.3.3 मीडिया समाज (Media Society)

6.3 नव सामाजिक आन्दोलन एवं परिस्थितिशास्त्रीय अध्ययन

6.4 प्रजातिकता का विमर्श (Discourse onEthnicity)

6.5 उपभोक्तावाद की संस्कृति (Culture of Consumerism)

6.6 जनसंचार का समाजशास्त्र

6.7 भारतीय समाज में उत्तर आधुनिक स्थितियाँ

6.8 सारांश

6.9 बोध प्रश्न

6.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

वस्तुत: भारतीय समाजशास्त्र की चर्चा होते ही एक परम्परागत समाज की आधारभूत विशेषताओं का चित्र खिंच जाता है, परन्तु 21वी सदी में कदम रख चुका भारतीय समाज पूर्णतया परम्परागत नहीं रहा, बल्कि पश्चिम की आंधी ने काफी सीमा तक भारतीय समाज को संरचना और प्रक्रिया के स्तर पर प्रभावित किया है। बाह्य कारकों के प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए हमने इस इकाई में भारतीय समाज एवं उभरते नवीन पहलुओं की पारस्परिक अन्त: क्रिया से विद्यार्थियों को परिचित कराने का नवीन प्रयास किया है। इस इकाई का अध्ययन के बाद आप:

- भारतीय समाजशास्त्र में उभरते नवीन पहलुओं का वर्णन कर सकेंगे।
- नव--समाजशास्त्रीय विमर्श के मुद्दों के बारे में उल्लेख कर सकेंगे।
- प्रजातिकता, उत्तर आधुनिकता, विघटित होते मूल्यों पर समाजशास्त्रीय चर्चा का वर्णन कर सकेंगे।
- पर्यावरण आन्दोलन, उपभोक्तावाद जैसे नवीन एवं प्रासंगिक विषयों पर विमर्श कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

अद्यतन भारतीय समाजशास्त्र मात्र जाति, परिवार, धर्म, का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि गांव जाति, परिवार उन सभी अन्तर्वैषयिक विषयों पर अपनी दृष्टि रख रहा है जो किसी भी रूप में भारतीय समाज को प्रभावित कर रहे हैं। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो स्थानीयता के सन्दर्भ में प्रश्न उठा रही हैं संस्कृति , समाज, फैशन, व्यापार, सब परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं। इस इकाई में इस पर चर्चा हुई है। पर्यावरण के मुद्दे को जीवन की गुणवत्ता से सम्बन्धित करते हुए, पर्यावरण का समाजशास्त्र, दिन-प्रतिदिन भारतीय समाज वैज्ञानिकों को इस ओर कार्य करने के लिए तथा लोगों की

सहभागिता एवं जागरूकता को बढ़ाते हुए स्वस्थ समाज की अक्षुण्णता को बनाये रखने के लिए प्रेरित कर रहा है, इसकी भी चर्चा यहां पर की गयी है। प्रजातिकता के बिन्दु को भी राष्ट्र निर्माण से जोड़कर विश्लेषित किया गया है। ऐंथोनी गिडेन्स ने कहा है कि लोग जब दूसरी संस्कृति के दरवाजे पर खड़े होते हैं, उन्हें अपनी संस्कृति की चेतना आती है। इसी तरह जब लोगों का सामना दूसरी संस्कृति से होता है तो उनके तौर तरीके सीखते हैं। ज्यों-ज्यों सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ता है, लोग अपनी संस्कृति के प्रति अधिक जागरूक हो जाते हैं। आज विश्वव्यापीकरण, उदारीकरण , मीडिया के सन्दर्भ में एथ्नीसिटी का महत्व बढ़ गया है।

जनसंचार का महत्व सामाजिक और मानव विकास के दृष्टिकोण से बढ़ गया है। जनसंचार का समाजशास्त्र इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर रहा है।

यद्यपि शास्त्रीय स्तर पर भारतीय समाज उत्तर आधुनिक नहीं हुआ है लेकिन आधुनिकता के चरणों को पार करता हुआ भारतीय समाज उत्तर आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। हमारे अनुभव उत्तर आधुनिक बन रहे हैं हमारी बहसों में अचेत रूप में हमारे बदलते हुए जगत के चित्र आने लगे हैं। आधुनिकता एक ऐतिहासिक मूल्य बोध और वातावरण के रूप में विज्ञान, योजना, धर्मनिरपेक्षतावाद और प्रगति केन्द्र जैसे विशेषणों को अर्थ देती रही है, उत्तर आधुनिकता इनके सीमांतों का नाम है। इसलिए विज्ञान के उत्तर में अनुभव की वापसी, योजना की जगह बाजार की वापसी, सेक्युलरिज्म की जगह धार्मिक पहचानवादी, स्त्रीवाद उपकेन्द्रों की वापसी ओर मनुष्य केन्द्रित प्रगति की जगह प्रकृति केन्द्रित विकास के बीच लगातार बहस जारी है।

इस इकाई के भाग 6.2 का शीर्षक ''वैश्वीकरण और भारतीय समाज'' है।

भाग 6.3 में नव समाजशास्त्रीय आन्दोलन और परिस्थिति शास्त्रीय अध्ययन की चर्चा की गई है।

भाग 6.4 में प्रजातिकता (एथनिसिटी) के विमर्श की चर्चा है। इस इकाई के भाग 6.5 का शीर्षक ''उपभोक्तावाद की संस्कृति'' है। भाग 6.6 में ''जनसंचार का समाजशास्त्र'' उपविषय पर गहन समाजशास्त्रीय व्याख्या की गयी है। भाग 6.7 में भारत में उत्तर आधुनिक स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है।

6.2 वैश्वीकरण और भारतीय समाज

वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण वस्तुत: पर्यायवाची पद है। दोनों का अर्थ एक ही है, परन्तु मैंने वैश्वीकरणको ही उपयुक्त समझा है। एन्थोनी गिडेन्स ने वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न भागों में बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रितता, पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है''। यह पारस्परिकता सामाजिक औरआर्थिक सम्बन्धों में होती है, जिसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं।

वैश्वीकरण के सिद्धान्त राष्ट्र, राज्य की सीमाओं से परे देखते हैं और उनके बीच पारस्परिक सामाजिक अन्तक्रियाओं को वैश्विक स्तर पर देखते हैं।

गिडेन्स ने अपनी पुस्तक ''दि कान्सीक्वेन्सेज आफ माडरनिटी'' में वैश्वीकरण की व्याख्या की। गिडेन्स का कहना है कि आधुनिकता का बहुत बड़ा परिणाम वैश्वीकरण है, यह इसलिए कि वैश्वीकरण ने समय (Time) और स्थान (Space) को सामाजिक जीवन में नये सिरे से परिभाषित किया है। गिडेन्स इसे समय स्थान दूरीकरण (Time space distanciation) कहते हैं।

हार्वे व गिडन्स के स्थान पर अन्य समाज वैज्ञानिकों ने वैश्वीकरण के तीन तत्वों पर बल दिया है- पूँजीवाद, तकनीकी और शान्ति की राजनीति (Capitalism, technology, politics of peace)

लरस्टेन ने अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिकल केपिटलिज्म' में लिखा है कि वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है
नसका कारण पूँजीवाद का विस्तार और उसकी समृद्धि है।

जेनाऊ (Rosenau, 1990) ने तकनीकी तन्त्र के सन्दर्भ में वैश्वीकरण की पड़ताल की है। इस सन्दर्भ
रोजेनाऊ की पुस्तक ''टरब्यूलेंस इन बर्ल्ड पालिटिक्स'' (Turbulance in World Politics)
हत्वपूर्ण है इनका तर्क है कि आज दुनिया में जो पारस्परिकता है, अन्तनिर्भरता है इसका कारण
कनीकी तन्त्र है। माइक फेदरस्टोन द्वारा सम्पादित पुस्तक ग्लोबल कल्चर (Global Culture, 1990)
राबर्टसन ने विश्वव्यापीकरण की व्याख्या की है। राबर्टसन के अनुसार विश्वव्यापीकरण एक
र्वाचीन घटना है वास्तव में यह प्रघटना आधुनिकीकरण और आधुनिकवाद और इसी तरह
तरआधुनिकीकरण और उत्तरआधुनिकवाद से जुड़ी है।

रेक्सेन ने अपनी पुस्तक ''स्माल प्लेसेस लार्ज इश्यूज'' (Small places large issues, 1995) में
खा है कि एक तरफ तो स्थानीय प्रक्रियाएं होती हैं और दूसरी ओर विश्वव्यापी प्रकियाएं होती हैं।
। दोनों ही प्रक्रियाओं के अन्तर्सम्बन्ध ही विश्वव्यापीकरण बनाते हैं। वैश्वीकरण अनिवार्यत:
द्वुलवादी हैं यदि यह बाजारवाद का प्रणेता है तो यह नई संस्कृति के विकास का माध्यम भी है। इस
क्रेया की गतिशीलता परस्पर विरोधी है । यह जोड़ती है तो विखण्डित भी करती है। इन विरोधी
त्यों के होते हुए भी आज दुनिया भर में विश्व संस्कृति, विश्व समाज, के नारे जोर -शोर से दिये जा रहे
।

रत में वैश्वीकरणका प्रारम्भ 1991 ई0 में हुआ। यह आर्थिक नये युग का सूत्रपात था। इस
र्थव्यवस्था की विशेषता यह है कि यह अपने नये अवतार में संघीय बाजार अर्थव्यवस्था बन गई।
मित भादुड़ी और दीपक नैयर ने अपनी पुस्तक ''दि इन्टेलिजेन्ट परसंस गाइड टु लिबरलाइजेशन''
he Intelligent Persons guide to Liberalization) में भारत में वैश्वीकरण आने के कारणों
जोर दिया है- बाहरी कर्ज का संकट, अल्प अवधि कर्ज, उधारदाताओं में विश्वास की कमी, ढांचागत
ुकूलन, आदि महत्वपूर्ण कारण हैं। हमारे देश में सांस्कृतिक वैश्वीकरण के स्थान पर आर्थिक
वीकरण से बड़ा हो हल्ला मच रहा है वस्तुत: यहां संकट पहचान (Identify) का है। पाप संगीत के
मने हमारे शास्त्रीय संगीत का क्या होगा?

कृतिक वैश्वीकरण की दौड़ में हमारी कई विधाएं अपनी पहचान खो चुकी हैं। छत्तीसगढ़ की पंडवानी
श्य प्रदेश का आल्हा, उ0 प्र0 और बिहार की नौंटकी, पंजाब का गिद्दा समाप्ति की कगार पर है। इस
स्कृतिक संकट को हमने समाजशास्त्रीय सन्दर्भ में देखा नहीं है। योगेन्द्र सिंह की पुस्तक - 'कल्चर
इन इंडिया, 2000' (Culture change in India 2000) इस संन्दर्भ में एक उल लेखनीय
ावेज है। वैश्वीकरण ने भारत की स्थानीय संस्कृति को प्रभावित किया है यहां की स्थानीय संस्कृति
कतिपय विशेषताएं हैं। वैसे स्थानीय संस्कृति पर हमारे यहां सामाजिक मानवशास्त्र में प्रचुर साहित्य
ता है। भारतीय समाज बहुलवादी समाज है इसकी संरचना कुछ इस तरह है कि यह विभिन्नता
र्ण देश को एक दूसरे से बांधती है, इसे हम विविधता में एकता कहते हैं। जब हम वैश्वीकरण के
व को भारतीय संस्कृति पर देखते हैं तब हमारा सन्दर्भ बहुलवादी संस्कृति से है, यही हमारी
नीय संस्कृति की पहचान है।

2.1 वैश्विक बाजार और बाजार का सांस्कृतिक प्रभाव

ीकरण ने व्यापार और बाजार को हमारे यहां अत्याधिक प्रभावित किया है, इसके प्रभाव हमें
कृतिक क्षेत्र में भी देखने को मिलते हैं। जब मध्य और पूर्वी एशिया हमारे परम्परागत बाजार थे तो

इसका प्रभाव नाम मात्र का था। विदेशी व्यापार और बाजार ने 1990 ई0 के बाद हमारे सांस्कृतिक परिदृश्य को हिला दिया है। वाहन, फैशन आदि में बाजार ने नई उपसंस्कृतियां पैदा की है। इसे अब (Popular culture) कहा जाने लगा है।

6.2.2 उपभोग समाज (Consumer Society)

वैश्वीकरण के आगमन के बाद भारतीय समाज उपभोग समाज का स्वरूप ले रहा है। गांवों में विद्युत संचार व्यवस्था, यातायात व्यवस्था ने सब कुछ बदल दिया है। वे सभी उपभोग वस्तुएं जो पश्चिम की नकल से महानगरों की संस्कृति में घुलती जा रही हैं अब गांवों को भी अपने घेरे में ले रही हैं। उनकी प्रत्याशाओं को बढ़ाकर एक नवीन संकट खड़ा कर रहीं हैं । चाहे वे फैशन के प्रतिमान हों या फिर भोजन के, सब परिवर्तित हो रहे हैं जिसमें प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों की परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वैश्वीकरण की भूख मिट रही है।

6.2.3 मीडिया समाज (Media Society)

कई शताब्दियों तक भारतीय समाज पूर्णतया मौखिक समाज (Oral society) रहा है। बडे-बड़े व्यापार संदेश मौखिक ही होते थे, परन्तु वैश्वीकरण ने एक नई संचार क्रान्ति ला दी है, जिसमें इन्टरनेट, प्रेस, एवं मीडिया ने लोगों को वैश्विक स्तर जोड़ दिया है।

प्रेस लोकतन्त्र के चौथे स्तम्भ के रूप में और अधिक मजबूत हुआ है। फिल्में भी हिन्दी की व्यापकता का बहुत बड़ा आधार रही हैं। मीडिया के प्रभाव से एक और तथ्य प्रकाश में आया है कि स्थानीयता की पहचान के प्रति सुदृढ़ता बढ़ रही है। स्थानीय मुद्दों को, कला को वैश्विक स्तर पर पहचान मिल रही है, और वैश्विक परिघटनाएं स्थानीयता को प्रभावित कर रही हैं।

6.3 नव समाजशास्त्रीय आन्दोलन और परिस्थितिशास्त्रीय अध्ययन

नव समाजशास्त्रीय आन्दोलन वे आन्दोलन हैं जो सामान्य रूप से न तो सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति सकारात्मक सुधार की बात करते हैं और न ही पूर्णतया प्रतिक्रियावादी या अभिव्यंजक हैं, बल्कि समाज के किसी एक हिस्से में होने वाले परिवर्तन को रोकने या जड़ता में परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं ।

एम. एस. ए. राव ने यथास्थितिवादी आन्दोलन (Status quo movement) की चर्चा की है, जिसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के राम मन्दिर आन्दोलन को लिया जा सकता है। कुछ आन्दोलन ऐसे हैं जिन्हें प्रतिक्रियावादी आन्दोलन कहा जाता है जैसे अमेरिकीकरण के विरुद्ध आन्दोलन, वैश्वीकरण के विरुद्ध आन्दोलन । क्रान्तिकारी आन्दोलनों (Revolutionary Movements) की चर्चा टर्नर ने की है। इसके अन्तर्गत वर्तमान में ब्लैक पैंथर पार्टी, ब्लैक मुस्लिम, दलित पैंथर, पीपुल्स बार ग्रुप आदि को लिया जा सकता है, जो व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन चाहते हैं।

हर्बट ब्लूमर ने सामान्य सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा की है। दिन प्रतिदिन के जीवन में व्यक्ति जिन समस्याओं से प्रभावित होता है उनके विरुद्ध आन्दोलन इस श्रेणी में आते हैं जैसे - बिजली, पानी, प्रदूषण की समस्या के विरूद्ध आन्दोलन। साथ ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर अपने अधिकारों के संरक्षण को लेकर उपभोक्ताओं का आन्दोलन भी इसी के अन्तर्गत आता है। समाजशास्त्र की नवीन शाखा पर्यावरण का समाजशास्त्र इस क्षेत्र में नित नये अध्ययन कर रही है।

परिस्थितिकी के क्षेत्र में भारत में पहला प्रयास प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी का था, जिन्होंने जनसंख्या का

नुकूलतम सिद्धान्त (Optimum theory of population) प्रतिपादित किया, तथा 1950 के दशक में ाज के सर्वाधिक प्रासंगिक विषय पर "Social Ecology" नाम से पुस्तक लिखी, और उसकी गहन श्लेषण प्रक्रिया में "Autoecology" तथा "Synecology" को भी प्रतिस्थापित किया, तदुपरान्त इस त्र में किसी समाजशास्त्री ने बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया। 1990 के बाद जब पर्यावरण के मुद्दे ठने लगे तो इस क्षेत्र में समाजशास्त्रीय अध्ययन भी हुए, जिसमें अमिता बविस्कर, वन्दना शिवा के नाम हत्वपूर्ण है।

छ पारिस्थितिकी आन्दोलनों जैसे मेधा पाटकर द्वारा चलाया जा रहा नर्मदा बचाओ आन्दोलन तथा न्दरलाल बहुगुणा द्वारा चलाया जा रहा टिहरी बांध बचाओ आन्दोलन कुछ विधि के जानकारों द्वारा मुना, गंगा, गोमती को स्वच्छ रखने के लिए किये जाने वाले आन्दोलनों ने जनसामान्य के साथ साथ माज वैज्ञानिकों में भी इस विषय के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाई । साथ ही साथ इस मुद्दे में ौद्योगिक कारखानों की स्थापना से विस्थापन एवं प्रवास के मुद्दे भी जोड़कर अध्ययन किए जा रहे हैं।

.4 प्रजातिकता का विमर्श (Discourse on Ethnicity)

म्परागत अवधारणाएं वैश्वीकरण के दौर में अप्रासंगिक हो गयी हैं। वर्ग, जाति, आदि अवधारणाएं षण एवं प्रभुत्व से अभिप्रेरित लगती है। एथ्नीसिटी अपनी प्रकृति में सांस्कृतिक है। दूसरे विश्वयुद्ध बाद दुनिया भर में कई उतार - चढ़ाव आये, इन्हीं उतार चढ़ावों ने एशिया और यूरोप के देशों के मने राष्ट्र निर्माण का संकट खड़ा कर दिया। 1991 में सोवियत रूस का विघटन हो गया। भारत के भी र्ती राज्यों में भी लोग अपनी एथ्निक पहचान के लिए उत्साहित दिखाई देते हैं, जिसमें राष्ट्रीयता का द्दा गौण होता जा रहा है ।

क्तियों के ऐसे समूह को प्रजातिकता के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो स्वयं या दूसरों द्वारा यह नझा जाता है कि उनकी कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएं हैं जो उन्हें समाज के अन्य समूहों से अलग ती हैं। इस समूह का अपना अलग एक सांस्कृतिक व्यवहार होता है कभी-कभी नस्ल और ातिकता को एक ही समझ लिया जाता है। वास्तव में प्रजातिकता शब्द की रचना नस्ल शब्द के विरोध हुई है। नस्ल की पहचान के लिए नस्लीय लक्षणों का प्रयोग किया जाता है जबकि प्रजातिकता की चान के लिए नस्लीय लक्षणों के साथ-साथ सांस्कृतिक विशेषताओं को ध्यान में रखा जाता है। ावत 1998 : 109)

रत देश में एथ्निसिटी के अर्थ को खोजते हैं तब हमें इसे हमारे ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना होगा। ारी एथ्निक समस्या शक, हूण, पठान, मुसलमानों के आने से आरम्भ होती है। ब्रिटिश काल में थ्निक विरोध का कारण धर्म बन गया। भाषा का मामला हमारे देश में एथ्निसिटी का बहुत बड़ा आधार अत: हमारे देश में एथ्निसिटी के अन्तरगत हम भाषाई समस्याओं को शीघ्र स्थान देते हैं। धर्म और ा इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से हमारी एथ्निसिटी के अंग बनते हैं। इरावती कर्वे ने कहा कि वास्तव भारतीय समाज को समझने का निर्णायक आधार जाति, भाषा और परिवार है। साथ ही क्षेत्र (Region) एथ्निसिटी का आधार है । क्षेत्र एक आधार इसलिए है क्योंकि इसका आधार भाषा और सांस्कृतिक ानता होती है।

एस. सिंह ने एथ्निसिटी की व्याख्या बृहद सन्दर्भों में की है। एथ्निसिटी का अर्थ उन लोगों से लिया ा है, जिनमें निश्चित रूप से एक समान जैविकीय -सांस्कृतिक और जैविकीय सामाजिक लक्षण पाये े हैं।

उर्मिला फडनीस ने लिखा है कि सामान्यतया एथ्निसिटी का अर्थ वंशानुक्रम, प्रजाति और संस्कृति से लिया जाता है। फडनीस ने दक्षिण एशिया में जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रियाएं चल रही हैं इस सन्दर्भ में एथ्निसिटी को परिभाषित किया है। "एक एथ्निक समूह मोटे रूप में एक सामाजिक सामूहिकता है, जिसमें कुछ ऐतिहासिक अनुभवों की साझेदारी होती है, वस्तुनिष्ठ लक्षण होते हैं, जैसे प्रजाति, जनजाति, भाषा, धर्म, वेश भूषा । इन सभी लक्षणों का सम्मिश्रण कुछ इस तरह होता है, जो एक समूह को दूसरे समूह से विशिष्ट बना देता है।

पॉल ब्रास (Paul Brass) अपनी पुस्तक एथ्निसिटी और राष्ट्रवाद (Ethnicity and Nationalism) में भारत और रूस की एथ्निक स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं। पॉल ब्रास ने एथ्निसिटी के सिद्धान्त में यह तर्क दिया है कि पहला, समाज की एथ्निक प्रतियोगिता ही एथ्निक संघर्ष को जन्म देती है। बात यह है कि किसी भी समूह की सांस्कृतिक और एथ्निक पहचान पहले से निश्चित नहीं होती है। समय-समय पर समूह की परम्पराओं को ध्यान में रखकर संस्कृति या एथ्निसिटी का निर्माण बराबर होता रहता है। दूसरा यह कि एथ्निक अभिजात (Ethnic Elite) और राज्य (State) का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से बना होता है। होता यह है कि ये लोग एथ्निसिटी को आधार बनाकर अपनी पहचान राजनीति में स्थापित कर लेते हैं। अत: स्पष्ट है कि एथ्निसिटी एक ओर सांस्कृतिक प्रघटना है दूसरी ओर राजनैतिक शक्ति की साझेदारी में एक ताकतवर साधन भी है।

6.5 उपभोक्तावाद की संस्कृति (Culture of Consumerism)

भारतीय समाज तेजी से बदल रहा है। यह बदलाव उदारीकरण और भूमंडलीकरण के एक चरण पूरा करने के बाद अब साफ दिख रहा है। प्रत्येक समाज के कुछ स्थापित मूल्य होते हैं, जिनमें समय के साथ कुछ बदलाव की जरूरत महसूस होती है। इस प्रक्रिया में कुछ पुराने मूल्य खारिज कर दिये जाते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच एक संक्रमण का काल भी आता है जहाँ पुराने मूल्यों की प्रासंगिकता तो समाप्त हो जाती है लेकिन नये मूल्यों का निर्माण नहीं हो पाता, यह स्थिति कई तरह के संकट और भ्रमों को जन्म देती है। समाज दिशाहीनता की स्थिति भोगने के लिए अभिशप्त होता है (एस. सी. दुबे, 1996-172) ।

लगभग पांच छह वर्ष पूर्व भारतीय समाज मूल्यों के स्तर पर इसी संक्रमण और भ्रम की स्थिति में रहा, लेकिन अब लगता है कि चीजें साफ हो रही हैं। बहुत सारे पुराने मूल्यों का नकार और नये मूल्यों का स्वीकार दिखने लगा है। अब प्रश्न यह है कि भारतीय समाज में क्या बदलाव आया है इसका सीधा उत्तर है कि भारतीय समाज में बाजार उपभोग और पैसे का महत्व स्थापित रहा है। एक नई जीवन शैली अपना वर्चस्व स्थापित कर रही है । उसके साथ आ रहा है एक नया जीवन दर्शन- उपभोक्तावाद का दर्शन। उत्पादन बढ़ाने पर जोर है। चारों ओर, यह उत्पादन आपके लिए है, आपके सुख के लिए हैं। सुख की व्याख्या बदल गयी है। एक सूक्ष्म बदलाव आया है नयी स्थिति में। उत्पाद तो आपके लिए है, पर आप यह भूल जाते हैं कि जाने-अनजाने आज के माहौल में आपका चरित्र भी बदल रहा है और आप उत्पाद को समर्पित होते जा रहे हैं।

इस उपभोक्ता संस्कृति का विकास भारत में क्यों हो रहा है? सामंती संस्कृति के तत्व भारत में पहले भी रहे हैं। उपभोक्तावाद इस संस्कृति से जुड़ा है। आज सामंत बदल गये हैं, सामंती संस्कृति का मुहावरा बदल गया है। हम सांस्कृतिक अस्मिता की बात कितनी ही करें, परम्पराओं का अवमूल्यन हुआ है, आस्थाओं का क्षरण हुआ है। हमारी नयी संस्कृति अनुकरण की संस्कृति है। हम आधुनिकता के झूठे

प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं। प्रतिष्ठा की अंधी प्रतिस्पर्द्धा में जो अपना है उसे खोकर छद्म आधुनिकता की गिरफ्त में आते जा रहे हैं। समाज की नियन्त्रण शक्तियों में क्षरण के कारण हम दिग्भ्रमित हो रहे हैं।

अंतत: इस संस्कृति के फैलाव का परिणाम क्या होगा? यह गंभीर चिन्ता का विषय है। हमारे सीमित संसाधनों का घोर अपव्यय हो रहा है। जीवन की गुणवत्ता आलू के चिप्स से नहीं सुधरती है। पीन्सा और बर्गर कितने ही आधुनिक हों, हैं वे कूडा खाद्य। समाज में वर्गों की दूरी बढ़ रही है, सामाजिक सरोकारों में कमी आ रही है। बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है — अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियन्त्रित होने लगते हैं, यही उपभोक्तावाद की संस्कृति है।

6.6 जनसंचार का समाजशास्त्र

जनसंचार के एक स्वतंत्र विषय के रूप में आरम्भिक अध्ययन का श्रेय अमेरिका के समाज वैज्ञानिकों को है। 1930 में जर्मनी के नाजी शासकों द्वारा किये जा रहे प्रोपेगंडा के आम श्रोताओं पर पड़ने वाले प्रभावों तथा नाजी प्रचार के सशक्त प्रत्युत्तर की तलाश में यह अध्ययन प्रारम्भ हुआ था। इस अध्ययन का उद्देश्य उन उपायों की खोज करना था जिनके द्वारा आमजनों की मनोवृत्तियों तथा व्यवहार में आवश्यकतानुसार परिवर्तन तथा संशोधन हेतु जनसंचार माध्यमों का उपयोग किया जा सके। सामाजिक संचारशास्त्री जे. कानर के मत में जनसंचार संदेश के बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा वृहद स्तर पर विषम जातीय जनसमूहों में द्रुतगामी वितरण की प्रक्रिया है "जनसंचार के समाजशास्त्र" की दो आधारभूत मान्यताएं हैं-

1. जनसंचार एक सामाजिक घटना है। इसके सामाजिक गुणों, विशेषताओं तथा प्रभावों को समझे बिना इसका उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

2. जनसंचार और समाज का सम्बन्ध एकपक्षीय नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि मात्र जनसंचार का ही समाज पर प्रभाव पड़ता है या मात्र जनसंचार ही समाज को प्रभावित करता है। वास्तव में इन दोनों का प्रभाव पारस्परिक प्रभाव है। इस कारण जनसंचार के समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र जन संचार तथा समाज के पारस्परिक प्रभावों तथा सम्बन्धों की विवेचना व विश्लेषण तक विस्तृत है। वस्तुत: किसी समाज विशेष में जनसंचार माध्यमों की सामाजिक उपयोगिता का मूल्यांकन जनसंचार के समाजशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है।

ब्राजील के समाजविज्ञानी पाऊले फैयरे, भारत के महान चिन्तक महात्मा गांधी, चीन के माओत्से तुंग तथा यूनेस्को द्वारा प्रतिपादित अलग-अलग चिंतन ने यह सिद्ध किया कि जनसंचार माध्यमों के समाजशास्त्रीय अध्ययन और उनके परिणामों के व्यावहारिक प्रयोगों को गति प्राप्ति हुई।

1961 में प्रकाशित यूनेस्को की रिपोर्ट "मास मीडिया इन डेवलपिंग कन्ट्रीज" में कहा गया कि "किसी देश के राष्ट्रीय विकास के संकेतकों में प्रति व्यक्ति आय, साक्षरता, नगरीकरण तथा औद्योगीकरण के साथ साथ जनसंचार माध्यमों के संसाधन भी शामिल हैं।

प्रख्यात समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे का मत है कि वास्तविक विकास जनता में इस प्रकार के निवेश से जुड़ा होता है, जो उसे तथा समाज को अपनी आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद में क्रमश: उनके जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने की दिशा में अग्रसर होता है। डेनियल लर्नर आदि संचारशास्त्रियों ने जनसंचार साधनों को विकास के प्रत्यक्ष शक्तिशाली माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आधुनिक जनसंचार माध्यम ज्ञान के प्रसार द्वारा समाज को शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन

कर सकते हैं । ज्ञान का अर्थ यथार्थ के बोध से है। समाजशास्त्रियों के मत में किसी भी घटना या विषय के संबंध में सूचनाओं द्वारा विचार या चिंतन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

डब्लू. जे. एच. स्प्राट का मत था कि ज्ञान का सीधा सम्बन्ध विचारों पर सामाजिक तथ्यों के प्रभाव से है। प्रोफेसर लियो पी. चाल के अनुसार ज्ञान (मनोवृत्तियों, संवादों, विश्वासों, मतों) तथा समाज समूहों, सामाजिक स्तरों, वर्गों में परस्पर क्रमबद्ध सम्बन्ध होते हैं।

हर्बट मीड ने ज्ञान को एक सामाजिक उपज मानते हुए कहा है कि इसकी सामाजिक उत्पत्ति में संचार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है, संचार के माध्यम से सामाजिक प्रक्रिया तथा अनुभवों द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आधुनिक जनसंचार माध्यमों मुख्यत: रेडियो तथा टेलीविजन ने राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विचारों के आदान-प्रदान तथा नवीन विचारों के पोषण तथा उनके विस्तार को सरल बनाकर ज्ञान की प्रकिया को सहज तथा सुलभ बना दिया है। (चोपड़ा, 2002, 90-92)

समाजशास्त्र के दृष्टिकोण में जनसंचार माध्यमों का कार्य मात्र कोरी सूचनाएं देना या सतही मनोरंजन करना ही नहीं है, ये सामाजिक विकास के औजार हैं। इस कारण जनसंचार माध्यमों का उपयोग लोक कल्याणकारी सृजनात्मक जनसंवाद माध्यमों के रूप में किया जाना चाहिये ।

6.7 भारतीय समाज में उत्तर आधुनिक स्थितियाँ

जिस गति से उत्तर आधुनिक समाज उभर रहा है उसी गति से सांस्कृतिक बहुलवाद भी अपनी पहचान बनाने के लिए तीव्र गति से आन्दोलन कर रहा है। उत्तरआधुनिकसमाज स्थानीय समाज के विपरीत है और स्थानीय समाज अपनी पहचान बनाये रखना चाहता है। ऐसी स्थिति में उत्तर आधुनिकता की प्रासंगिकता का प्रश्न हमारे देश में बहस का मुद्दा है।

प्रो. योगेन्द्र सिंह ने आधुनिकता पर आधिकारिक रूप से सर्वश्रेष्ठ लिखा, पर इन्हें भी ऐसा लगता है कि यदि आधुनिकता वर्तमान समाज की आशाओं और अपेक्षाओं को अनदेखा करेगी, तो उत्तर आधुनिकता ही लोगों का एकमात्र विकल्प बनेगी।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार सांस्कृतिक आधुनिकीकरण के सिद्धान्त की अन्तर्निष्ठ धारणा सार्वभौमिक बुद्धिसंगतता रही है। लेकिन इस धारणा का भवन तब गिरता दिखाई देने लगा जब तकनीकी तन्त्र और औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप पर्यावरण का ध्वंस होने लगा, परिवार के मूल्य गिरने लगे, व्यक्तियों में अलगाव की भावना आने लगी और सामाजिक संरचना के साथ इस मोह भंग ने उत्तर आधुनिकता की बहस को जन्म दिया। क्या आज भारत में ऐसी स्थितियाँ हैं जिनके कारण उत्तर आधुनिकता आ सकती है।

प्रो. योगेन्द्र सिंह के विश्लेषण को इस सन्दर्भ में राजनीतिक नेतृत्व के बारे में रखेंगे इनका विश्लेषण है कि भारत में राजनैतिक नेतृत्व का संकट है। राजनीतिक दलों का पतन हो गया है, राष्ट्र राज्य की प्रशासनिक क्षमता कमजोर हो गयी है। अब हमें नई अर्थव्यवस्था में ऐसा प्रशासन चाहिये, जो किसी भी प्रबन्धक की तरह कार्य कर सके, प्रजातंत्र को ठीक से चलाने के लिए नागरिक समाज की सुदृढ़ता आवश्यक है । योगेन्द्र सिंह का तर्क है कि निम्न कारणों से उत्तरआधुनिक समाज के अविर्भाव की सम्भावना है—

1. यूरोप और अमेरिका की तरह यहां राजनीतिक स्थिति में संकट है। प्रजातन्त्र, राजनीतिक दल, बाजार और वैश्वीय स्तर के उत्पादन और संचार तकनीकी में परिवर्तन के कारण सम्पूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचा चरमरा गया है। ऐसा लगता है कि आधुनिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली विदेशों में होने

ाले परिवर्तन के साथ परिवर्तन नहीं कर पाई है। विदेशों में जहां उत्तर आधुनिक समाज ने आधुनिक मज को उखाड़ा है, वैसे ही भारत में व्यवस्था का संकट आएगा।

. आर्थिक सुधार के क्षेत्र में हमारे यहां का इतिहास कुछ असामान्य रहा है गांधी जी और नेहरू जी र्थव्यवस्था को अलग-अलग तरह से देखते थे। गांधीजी की दृष्टि में व्यक्ति स्वायत्त था और यह वतंत्रता राज्य के ऊपर थी। नेहरू जी आमूल चूल परिवर्तन लाने में राज्य की भूमिका को महत्वपूर्ण ानते थे। लेकिन अब तक अनुभव बताता है कि राज्य अपेक्षित परिवर्तन लाने में अक्षम रहा है। अत: हरू जी ने एक मध्यम मार्ग चुना और वह था सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) । 1991 ई0 में ार्थिक संकट के दबाव में ढांचागत परिवर्तन की नीति को अपनाया गया, जिसके प्रत्युत्तर में दारीकरण, वैश्वीकरण, निजीकरण आये। इस नई आर्थिक क्रान्ति के बाद परिवर्तन का रास्ता खुल गया , उत्तर आधुनिक समाज उस ओर खड़ा है।

त्तर आधुनिक समाज के भारत में अविर्भाव का कारण राज्य और सरकार का घटता प्रभुत्व, साथ ही क वैचारिकी का अभाव भी है । चूँकि पहले कई दशकों तक अपने सम्मेलनों में कांग्रेस समाजवादी एवं समतावादी समाज की प्रस्थापना की बात करती रही परन्तु पूँजीवादी विचारधारा वैश्वीकरण के भारत ागमन के बाद हावी रही है। आधुनिक समाज जनहित समाज नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस पर ाजार का कब्जा है। यह भी कहा जा सकता है कि बाजारी शक्तियों ने राज्य की स्वायत्ता को समाप्ति की गार पर पहुँचा दिया है। आज की अर्थव्यवस्था में मुक्त बाजार सर्वोपरि है। मुक्त बाजार में मुक्त कुछ भी हीं है. बल्कि यह यूरोपीय देशों की सीधी दखल है और तकनीकी और व्यापार के हस्तान्तरण में भी ही देश दखल रखते हैं।

ारत में उत्तर आधुनिकता है या नहीं इस विषय में तथ्यपूर्ण बात यह है कि यहां समाजशास्त्र मे ऐसा ोई सिद्धान्त नहीं है, जो इसकी व्याख्या करने में सहायक हो। एक बात और है— फ्रांस, जर्मनी और मेरिका में जहां भी उत्तर आधुनिकता के सिद्धान्त हैं उनमें इतनी सर्वसम्मति नहीं है कि वे इस तरह के माज का विश्लेषण कर सके। वास्तव में फूको और देरिदा के सिद्धान्त एक प्रकार से शून्यवाद (Nihil-sm) हैं। सिद्धान्तों की बात सही है लेकिन यह कहना कि सिद्धान्त नहीं है इसलिए उत्तर आधुनिकता हीं है यह भ्रमपूर्ण है। सही बात तो यह है कि उत्तर आधुनिकता तो है लेकिन समाजशास्त्र या इस अर्थ में माजवैज्ञानिक कोई सिद्धान्त बनाने में असफल रहे हैं।

5.8 सारांश

स इकाई में उन सब प्रासंगिक मुद्दों को उठाया गया है, उनकी समाजशास्त्रीय व्याख्या की गयी है जो किसी न किसी सीमा तक भारतीय समाज को प्रभावित करते हैं, और भारतीय समाजशास्त्र में विश्लेषण ा अपरिहार्य बिन्दु हैं। यह समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं क्योंकि वैश्वीकरण,

जातिकता नव समाजशास्त्रीय आन्दोलन, उपभोक्तावाद की संस्कृति, जनसंचार जैसे विषय जिनकी र्चा राष्ट्रीय और अन्तरौष्ट्रीय मंचों पर हो रही है।

ारत में इन विषयों पर संगोष्ठियाँ और सम्मेलन आयोजित हो रहे हैं इनमें से कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो अब क अनुत्तरित हैं उत्तर आधुनिकता के मसले पर सिद्धान्तकारों एवं विद्वानों मे बहस चल रही है। भारतीय माजशास्त्र में इन मुद्दों पर संवेदनशीलता के साथ कार्य हो रहा है, और इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए श्चिम के पैराडाइम के स्थान पर भारतीय समाज के अनुकूल जो माडल हो उसे विकसित किया जा हा है।

6.9 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 वैश्वीकरण से भारतीय समाज किस तरह प्रभावित हुआ है? व्याख्या करिये?

प्र. 2 भारत में प्रजातिकता (Ethnicity) की समस्या पर प्रकाश डालिये?

प्र. 3 भारत में उत्तर आधुनिक स्थितियों पर विचार करिये?

लघुउत्तरीय प्रश्न

प्र. 1 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये .

(अ) उपभोक्ता की संस्कृति

(ब) विघटित होते सामाजिक मूल्य

प्र. 2 नवसमाजशास्त्रीय आन्दोलनों पर प्रकाश डालिये?

प्र. 3 पर्यावरण आन्दोलनों पर संक्षेप में लिखिये ?

प्र. 4 "जनसंचार का समाजशास्त्र" समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। टिप्पणी करिये?

प्र. 5 प्रजातिकता (Ethnicity) को परिभाषित करिये ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 "दि कान्सिक्वेन्सेज आफ माडर्निटी" पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) एन्थोनी गिडेन्स (ब) लेवी स्ट्रास (स) ब्लूमर (द) ड्यूमा

प्र. 2 "ग्लोबल कल्चर" पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) फेदरस्टोन (ब) वेलरस्टीन (स) गिडेन्स (द) रोजेनाऊ

प्र. 3 "कल्चर चेन्ज इन इंडिया" पुस्तक के लेखक है?

(अ) योगेन्द्र सिंह (ब) सोरोकिन (स) जिमरमैन (द) उपर्युक्त मे से कोई नहीं

प्र. 4 "एक एथ्निक समूह मोटे रूप से एक सामाजिक सामूहिकता है" यह कथन किसका है?

(अ) के. एस. सिंह (ब) मजूमदार (स) पाल ब्रास (द) उर्मिला फ्डनीस

प्र. 5 "नर्मदा बचाओं आन्दोलन किसके द्वारा चलाया जा रहा है?

(अ) अरूधन्ती राय (ब) बहुगुणा (स) एम. सी. मेहता (द) मेधा पाटेकर

प्र. 6 "नर्मद्रा बचाओ आन्दोलन " का समाजशास्त्रीय पर्यावरणीय अध्ययन किसने किया?

(अ) वन्दना शिवा (ब) अमिता बविस्कर (स) रिटजर (द) ए. के. सिंह

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 अ

प्र. 2 अ

प्र. 3 अ

प्र. 4 द

प्र. 5 द

प्र. 6 अ

सन्दर्भ - सूची

नागरे,डी. एन. : थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव इन इण्डियन सोसियोलॉजी, रावत प्रकाशन जयपुर, 1998

भु, पी. एन. : हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, 1954

रन, अवध किशोर : सोशियोलॉजी इन इण्डिया न्यूयार्क, 1952

नीथान, टी. के. एन. : फार ए सोशियोलाजी इन इण्डिया प्रेन्टिस हाल आफ इण्डिया, 1965

खर्जी, आर. के. : दि रूरल इकानामी आफ इण्डिया लांगमैन ग्रीन एण्ड कं0 लन्दन 1926

जूमदार डी. एन. : रूरल प्रोफाइल्स, इथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी लन्दन, 1955

खर्जी आर. के. : इन्टरकास्ट टेन्सन्स, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 1951

खर्जी, डी. पी. : माडर्न इण्डियन कल्चर हिन्द किताब, बाम्बे, 1948

सिंह, योगेन्द्र : माडर्नाइजेशन आफ इण्डियन ट्रेडेशन दिल्ली, थामप्सन प्रेस, इण्डिया

टल, योगेश : सोशल साइन्सेज : दि इण्डियन सीन, नई दिल्ली, अभिनव प्रकाशन

ीनिवास, एम. एन. एण्ड : दि डेवलपमेन्ट आफ सोशियोलाजी एण्ड सोशल एन्थ्रोपोलाजी

णिनी एम. एन. इन इण्डिया: 1973: सोशियोलॉजिकल बुलेटिन 22(2)

षी व जैन : आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता और नवसमाजशास्त्रीय सिद्धान्त रावत प्रकाशन, जयपुर 2000

षी व त्रिवेदी : उच्चतर समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त रावत प्रकाशन जयपुर 1998

धी, नरेन्द्र कुमार : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : विवेचन एवं व्याख्या, रावत प्रकाशन जयपुर 1998

ीनिवास, एम. एन. : दि डामिनेन्ट कास्ट इन रामापुरा 1959, अमेरिकन एन्थ्रोपोलाजिस्ट

यूमा, एल. : होमो हाइरेरकस : दि कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इम्पिलिकेशन 1970 वीडनफील्ड एण्ड निकोलसन लन्दन

हान, बी. आर. : रूरल स्टडीज - ए ट्रेन्ड रिपोर्ट, इन आई. सी. एस. एस. आर. 1974

ब्बरवाल, एस. : मोबाइल मेन: लिमिट्स टु सोशल चेन्ज इन अरबन पंजाब विकास प्रकाशन दिल्ली, 1976

हूजा, राम : सामाजिक समस्याएं रावत प्रकाशन, दिल्ली, 2000

हूजा, राम : भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत प्रकाशन नई दिल्ली 1995

वत, हरिकृष्ण : समाजशास्त्र विश्वकोश , रावत प्रकाशन, जयपुर, 1998

बे, श्यामाचरण : समय और संस्कृति वाणी प्रकाशन 1996 दिल्ली

पड़ा, लक्ष्मेन्द्र : जनसंचार का समाजशास्त्र आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा 2002

ष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) : 11 नवम्बर 2000, बदलते जीवन

ल्यों पर विशेष अंक

NOTES

खण्ड

2

नु और कौटिल्य

काई 7

नु एवं मनुस्मृति : समकालीन परिदृश्य

काई 8

नु की सामाजिक विचारधारा

काई 9

नु के राजनीतिक विचार

काई 10

नु के व्यवहार निरुपण सम्बन्धी विचार

काई 11

ौटिल्य अर्थशास्त्र तथा चार विधाएं

काई 12

ौटिल्य के राज्य विषयक विचार

काई 13

ौटिल्य की प्रशासनिक तथा बाह्य नीति

न्दर्भ सूची

ुछ उपयोगी पुस्तकें

ब्रण्ड 2 परिचय : मनु और कौटिल्य

GSY-01 पाठ्यक्रम के इस दूसरे खण्ड में प्राचीन भारत में सामाजिक विचार, मनु एवं कौटिल्य के शेष सन्दर्भ में व्याख्यायित एवं विवेचित किए गए हैं।

चीन भारत में विचारों पर दृष्टिपात किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि समाज के चार पक्षों धर्म, अर्थ, ाम एवं मोक्ष पर सघन विचार किया गया है। धर्म के सन्दर्भ में आदिपुरुष मनु जो कि सामाजिक विधान ो प्रथम पुस्तक 'मनुस्मृति', के रचनाकार माने जाते हैं, महत्वपूर्ण धर्म विचारक हैं। धर्म के सन्दर्भ में चारों की जो धारा पुष्पित एवं पल्लवित होती रही है, उसे कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ के ध्यम से दिशा एवं पृष्ठभूमि प्रदान की। काम की विचारधारा वात्स्यायन के माध्यम से बढ़ी। जिसका ाधार अर्थ को माना गया मोक्ष जो मानव के सम्पूर्ण जीवन का अन्तिम लक्ष्य है की विचारधारा को दिशा ा का कार्य याज्ञवल्क्य एवं जाबालि ऋषि ने किया। परन्तु इन चारों विचारधाराओं में प्रारम्भिक दो विचार राओं धर्म और अर्थ का सामाजिक सरोकार है, और यो अधिक प्रासंगिक भी हैं, अतः इन्हें महत्व प्रदान रते हुए इन विचारधाराओं के प्रतिपादक मनु, एवं कौटिल्य के विचारों को विवेचित किया गया।

काई 7 में मनु की ऐतिहासिकता एवं समकालीन समाज दर्शन पर विचार किया गया है। साथ ही मनुस्मृति के रचनाकाल का निर्धारण भी किया गया है। इस इकाई में मनुस्मृति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर चर्चा की गई है।

काई 8 मनु के सामाजिक विचारों से सम्बन्धित है। इस इकाई में धर्म के सम्बन्ध में, आश्रम व्यवस्था व विवाह एवं परिवार के बारे में तथा समाम में नारी की स्थिति पर समीक्षात्मक वर्णन है।

गई 9 में मनु के राजनीतिक विचारों की व्याख्या की गई है। राज्य के स्वरूप, राजधर्म, एवं राज व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण इस इकाई में मिलता है। व्यवस्था बनाये रखने के लिए दण्ड व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।

गई 10 मनु के व्यवहार निरूपण सम्बन्धी विचारों से सम्बन्धित है। जिसमें जीव-ज़गत् के प्रति व्यवहार तथा स्वयं के प्रति व्यवहार, समाज के प्रति व्यवहार, प्रायश्चित्त निरूपण सम्बन्धी विचार, श्राद्ध के बारे में, चर-अचर के बारे में मनु के विचारों को व्याख्यायित किया गया है।

गई 11 कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा चार विद्याओं से सम्बन्धित है। अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड चार विधाएं जिनका गहन विश्लेषण मिलता है।

गई 12 में कौटिल्य के राज्य के सम्बन्ध में विचारों को रेखांकित किया गया है।

राज्य की उत्पत्ति, एवं राज्य सत्ता की सात प्रकृतियों के गुणों की चर्चा की गई है। मंत्रिपरिषद् का उल्लेख भी इस इकाई में किया गया है।

गई 13 कौटिल्य की प्रशासनिक तथा बाह्य नीति से सम्बन्धित है, इसमें राज्य के मण्डल सिद्धान्त की विशद चर्चा की गई है।

इकाई 7 : मनु एवं ... मृति : समकालीन परिदृश्य

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 समकालीन सामाजिक दर्शन

7.3 मनु आदिपुरुष : मत वैभिन्य

7.3.1 मनु स्मृति का रचना काल

7.4 ब्राह्मण युग का उत्कर्ष एवं मनुस्मृति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

7.5 सृष्टि व समाज की रचना

7.6 सारांश

7.7 बोध प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको आदिपुरुष मनु जिनको प्राचीन भारत का प्रथम सामाजिक विधानकर्ता माना जाता है, के बारे में तथ्यपरक एवं सारगर्भित जानकारी प्रदान करना है। साथ ही साथ 'मनु' द्वारा रचित सामाजिक एवं राजनीतिक विधान की महत्वपूर्ण पुस्तक 'मनुस्मृति' के बारे में आपको परिचित कराना है। उन स्थितियों एवं समकालीन परिदृश्य पर भी विहंगावलोकन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिनसे आप 'मनु' के विचारों को, उनके दर्शन को ठीक तरह से समझ सकें। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप,

- भारत में सामाजिक विचारधारा का विकास एवं 'मनु' के बारे में वर्णन कर सकेंगे।
- स्पष्ट कर सकेंगे कि मनुस्मृति की रचना किस पृष्ठभूमि में हुई।
- मनुस्मृति के रचना काल के बारे में विश्लेषण कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

विश्व की प्राचीनतम, न्यायिक और सामाजिक व्यवस्था को विश्लेषित करने वाली अमूल्य पुस्तक, 'मनुस्मृति' के रचनाकार मनु ही है। मनु जिन्हें स्वयंभू मनु, कहा गया है, मानव समाज के संस्थापक के रूप में सामने आये। इस सामाजिक विधान की प्रथम पुस्तक का आधार उस प्रलय-पूर्व की सामाजिक आचार संहिता है। इस संहिता का समय-समय पर प्राय: संशोधन और संक्षिप्तीकरण अवश्य होता रहा है और आज यह मनुस्मृति के रूप में प्राप्त है। बाइबिल में आदिपुरुष का नाम 'नूह' या 'नोहर' अवेस्ता में 'भीम', सुमेरियन साहित्य में 'जिउसुद्ध', बेबीलोनियन में 'जिसुथ्रास' और यूनानी साहित्य में 'डयूकालिय' है। मिस्र और यूनान ही नहीं हिब्रू साहित्य में भी प्रथम नियामक 'मूसा' भारतीय मनु के ही रूपान्तर हैं।(1)

इस प्रकार मनु दो स्वरूप स्पष्ट पोषित होते हैं। एक प्रजापति आदिमानव मनु और दूसरे विधि-नियामक स्मृतिकार मनु। ऋग्वेद में मनु एक ऋषि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। यह कहना कठिन है कि ये दोनों

नु एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, परन्तु इतना स्पष्ट है कि कालान्तर में दोनों कथाएं परस्पर मिल गयी हैं। नु की प्राचीन कथा में प्राचीन ऐतिहासिकता के चिह्न हैं। मनु के काल में एक नये प्रकार का समाज ठित हुआ था, सम्भवतया वर्णों पर आधारित। इसलिये मनु की सभ्यता को देव सभ्यता से पृथक् माना या है। सुप्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक पी० बी० काणे ने "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र" में कहा है कि यह ह सकना प्राय: असम्भव है कि मनुस्मृति की रचना किसने की? जिस पौराणिक मनु की चर्चा होती और जिनका वर्णन ऋग्वेद में है उन्होंने मनुस्मृति की रचना नहीं की है। काणे के अनुसार, मनुस्मृति की रचना किसी व्यक्ति के जीवन काल से सम्बन्धित न होकर एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक ाल एवं परम्परा से सम्बन्धित है जिसे हम वैदिक काल की संज्ञा दे सकत हैं। तर्क के आधार पर हा जा सकता है कि मनु एक नहीं अनेक हुए और बाद में उनका वंश बन गया। 'मनु' शब्द हमारे र्मशास्त्रों में कई स्थानों पर आता है।(2) तैत्तरीय संहिता में लिखा है कि "मनु: पुत्रेभ्यो दाय ाभजत" अर्थात् मनु ने अपने पुत्रों को अपनी सम्पत्ति दी। गौतम धर्मसूत्रों में मनु की व्याख्या की गई । "तीणी प्रथमानि तनि-दैश्यादि मनु:"। मनुस्मृति में सर्वप्रथम मनु की उत्पत्ति ब्रह्मा से होती है। सके पश्चात अन्य छह मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। मनु प्रजापतियों को उत्पन्न करने हैं और ये ाापति अन्य मनुओं को जन्म देते हैं, जिनके नाम भी दिये गये हैं—स्वारोचिथ, उत्तम, तामस, रवैत, क्षषु और महातेजस्वी वैवस्वत। इस प्रकार मनु को हम कोई एतिहासिक पुरुष न मानते हुए भी इतना न सकते हैं कि वैदिक सभ्यता के आरम्भिक चरण में सम्भवत: मनु नाम के कई पुरुष हुये हैं जो क्ति, बुद्धि और विद्वत्ता में तत्कालीन युग में श्रेष्ठ रहे हों और समय के परिवर्तन के साथ उनकी तेहासिकता, पौराणिकता ग्रहण करती गयी हो। उनके वास्तविक कार्य, आख्यान और दन्तकथा बनते ए हों और बाद की पीढ़ियों ने उन्हें श्रद्धावश आदि-पुरुष स्वीकार कर लिया हो। अत: मनु की सत्ता सम्बन्ध में सन्देह नहीं होता और न इसमें सन्देह है कि वह धर्म प्रवर्तक नहीं थे।

तपस्तरऽवासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विचारष्ट्र।

त मां वित्रास्य सर्वस्य स्रष्टांर द्विसत्रामा:॥ (3)

ुस्मृति के प्रथम पाठ सृष्टिनिरुपण में उल्लिखित इस श्लोक से मनु की ऐतिहासिकता पता चलती है।

ाचीन काल से ही समाज व्यवस्था को व्यावहारिक आधार देने तथा समाज को दिशा निर्देशन देने के ए ऋषियों, मुनियों एवं मनीषियों द्वारा सामाजिक नियम बनाये जाते थे, और सामान्य जन इन नियमों पालन करते थे सामाजिक नियमों के संग्रह को 'स्मृति' की संज्ञा दी जाती थी। जिस प्रकार विभिन्न थ विभिन्न देश-काल एवं परिस्थितियों की उपज होते थे, उसी तरह मनु द्वारा रचित मनुस्मृति भी ालीन परिस्थितियों की देन थी। हिन्दू धर्म शास्त्रों के अन्तरगत मनुस्मृति का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृति के पश्चात् मनु ने मानव संस्कृति का निर्माण किया। मनु, मानव का पूर्वानुसम्बन्धी प्रतीक 'मनुस्मृति' में व्यक्ति तथा समाज से सम्बन्धित अनेक तथ्यों की व्याख्या उपलब्ध होती है, जीवन विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विधान, विधि-निषेधों की चर्चा भी मनुस्मृति में मिलती है। ालीन समाजिक दर्शन, जिसके प्रभाव को मनुस्मृति पर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके में चर्चा भाग 7.2 में मिलती है। मनुस्मृति के रचना काल के बारे में विभिन्न स्मृतियों के समान ानों में एकमत्यता नहीं है। यहाँ तक कि जिन विद्वानों ने स्मृतियों के काल-निर्धारण का प्रयत्न ा है, उनमें से अधिकांश ने अपने निर्धारण को अनुमानित ही कहा है। इस अनिश्चितता के कई

कारण हैं इस सम्पूर्ण विवेचना पर भाग 7.3.1 में चर्चा की गई है। भाग 7.3 में विभिन्न विद्वानों के बीच मनुस्मृति के रचनाकार मनु की ऐतिहासिकता के बारे में मतवैभिन्य पर विचार किया गया है। मनुस्मृति के उद्भव की पृष्ठभूमि में जो सांस्कृतिक कारक हैं, एवं ब्राह्मण युग का उत्कर्ष तथा मनुस्मृति के सहसम्बन्ध पर चर्चा भाग 7.4 में है। इस इकाई के भाग 7.5 में सृष्टि एवं समाज की रचना के बारे में जो मिथक, जो मान्यताएं एवं निरूपण हैं उनका विवेचन किया गया है।

7.2 समकालीन समाजिक दर्शन

प्रत्येक युग का अपना दर्शन, समाजिक स्वरूप एवं ढाँचा होता है, उसकी अपनी विशेषताएं होती है। यह स्पष्ट है कि अपने युग के प्रभाव से कोई मनीषी अछूता नहीं रह सकता है। सम्भवत: जब मनु का जन्म हुआ उस युग में परिवर्तन शीघ्रता से हो रहे थे। मनु इस वास्तविकता के प्रति सचेत थे कि समाज में विभिन्न प्रकार के वर्ग विकसित हो रहे हैं, जिनका सम्बन्ध कहीं न कहीं अर्थ में हो रही उसरोत्तर प्रगति से है। इस संक्रमण काल में वैदिक विचारधारा कुछ डगमगाने लगी थी अत: मनु ने इन सम्पूर्ण दार्शनिक परम्पराओं को मनुस्मृति के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास किया। मनु ने व्यवहार व आचरण सम्बन्धी नियम बनाये। भिन्न-भिन्न स्थितियों में किस प्रकार के व्यवहार का पालन किया जाए या किस प्रकार के विधि-निषेधों को मान्यता दी जाए, इस सम्पूर्ण नियम-निरूपण प्रक्रिया को मनु ने इसलिए सृजित किया ताकि समाज संगठित रूप से कार्य कर सके। जितनी भी स्मृतियाँ विद्यमान हैं उनमें 'मनुस्मृति' का स्थान महत्वपूर्ण है। चूँकि 'मनुस्मृति' न केवल त्रयी के निकट है बल्कि मानव व्यवहार के लिए मनु ने एक नवीन व्यवस्था स्थापित की, विधि-निषेधों को बताया जिन्होंने व्यक्ति को नवीन दिशा दी, इसीलिए मनु हिन्दू कानूनी व्यस्था के पिता कहे जाते हैं। बृहस्पति ने भी मनु की प्रशंसा में कहा है कि मनु सामाजिक विचारकों की प्रथम श्रेणी में आते हैं क्योंकि उन्होंने अपने प्रबन्ध में वेदों के सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति की है जिसका खण्डन नहीं मिलता। 'मनुस्मृति' का महत्व इसलिए और अधिक बढ़ जाता है, कि उसमें विशुद्ध भारतीय विचारधारा पायी जाती है। मनु एक ऐसे सामाजिक एवं धार्मिक विचारक थे जिन्होंने व्यक्ति के जीवन के विविध भागों की इस तरह से व्याख्या की, जिससे समाज में व्यक्तियों के बीच एकता बनी रहे। मनु ने तत्कालीन स्थितियों से अनुभव लेते हुए एक सन्तुलित आदर्शात्मक व्यवस्था का सुझाव प्रस्तुत किया।(4)

मनुस्मृति के अध्याय-1 'सृष्टि निरूपण' में संसार की उत्पत्ति निरूपण, विवाह के लक्षण, महायज्ञ, जीविका के लक्षण, सक्षियों से प्रश्न पूछने की विधि, स्त्री-पुरुष के धर्म, विभाग, धर्म मार्ग के कंटक शोधन आदि का वर्णन, लोगों को जीवन के प्रत्येक स्तर पर किस प्रकार के व्यवहार का पालन करना चाहिए, आदि के सन्दर्भ में मार्ग दर्शाता है।

''दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्॥

(विवाह, विवाह के लक्षण, महायज्ञ का विधान, और नित्य श्राद्ध की विधि)

''वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च॥

[जीविका के लक्षण, स्नातक (गृहस्थी में प्रवेश करने वाला)]

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्म स्त्रीपुरूषयोरपि।

भागं धर्म द्यूतं च कण्टकानां शोधनम्॥

र्थात् तत्कालीन दर्शन ने मनुस्मृति को समाजिक विधान की एक महत्वपूर्ण पुस्तक बनाया। लोक वहार, व्यक्तिगत व्यवहार निरूपण में यह पुस्तक अतिमहत्वपूर्ण पुस्तक है।

3 मनु आदिपुरुष : मत वैभिन्य

ाणिक कथा महाभागवत पुराण के अनुसार भगवान के मत्स्य अवतार में प्रलय होने के समय राजर्षि व्रत ने भगवान की प्रेरणा से नौका को वासुकि नाग द्वारा भगवान के अवतार रूप मत्स्य से बाँध दिया : प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों व सप्त ऋषियों सहित सवार होकर महर्षियों की दिव्य ज्योति के प्रकाश के रे भगवान द्वारा आत्मतत्व का श्रावण करते हुए प्रयलकालीन महासागर में विचरण करते हुए जहाँ पानी हुआ, हिमालय में आकर आश्रय लिया। वर्तमान मन्वन्तर में वही महर्षि विवस्मान (सूर्य) के पुत्र के, में आकर भगवान द्वारा वैवस्त मनु बना दिया गया। मौजूदा दौर में मानव के जन्मदाता वैवस्वत मनु इनसे ही मानव वंश का जन्म हुआ प्रो० केवल मोटवानी, ब्लाव्वस्की, जैकोलियट प्रभृति विद्वानों के सर वेद-रचनाकाल, न्यूनतम 30,000 वर्ष पूर्व ठहरता है। इस स्थापना का प्रमुख आधार विश्व की न्न संस्कृतियों एवं धर्मों में स्थापित प्रलय की मान्यता की एक साथ भौगोलिक घटना के रूप में कृति है। अनेक भौगोलिक प्रमाण ऋग्वेद का रचनाकाल 30 हजार वर्ष पूर्व सिद्ध करते हैं और ऋग्वेद में मनु का उल्लेख प्राप्त होता है।(5)

भारत के 'शक्तिपूर्व' में भी ब्रह्मण द्वारा रचित एक लाख श्लोकों के धर्म शास्त्र के मनु के माध्यम से ऋषियों तक पहुँचने का उल्लेख है। डा० मोटवानी ने विश्व की प्राचीन संस्कृतियों पर मनु और ी संहिता के प्रभाव को अत्यन्त युक्तिपूर्वक तथा सप्रमाण सिद्ध करते हुए उस आधार पर उसकी नता सिद्ध की है।(6)

ा की सभी प्राचीन संस्कृतियों में मनु या उनसे मिलते-जुलते नाम के व्यक्तित्व को अत्यन्त सम्मानित पूर्वज के रूप में स्थान दिये जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। ऐसे में मनु की प्राचीनता तो असंदिग्ध है। स्मृति के टीकाकार मेघातीत के अनुसार "शास्त्र का अर्थ विधि निषेध समूह होता है। ये विधि निषेध द्वारा बतलाये जाने पर मनु द्वारा लिपिबद्ध किये गये। बाद में भृगु ऋषि ने इन्हें अन्य लोगों को ा। मनुस्मृति के एक अन्य टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि मनु शब्द अधिकारवाची है। न्न मन्वन्तरों में जिसको सृजन करने का अधिकार होता है, वही उस मन्वन्तर में मनु नाम से अभिहित जाता है। इस प्रकार मनु की ऐतिहासिकता तथ्य सिद्ध है, पर विद्वानों में मत भिन्नता विद्यमान है। री० वी० काणे के अनुसार जिस पौराणिक मनु की चर्चा मिलती है और जिसका वर्णन ऋग्वेद में है, ने मनुस्मृति की रचना नहीं की बल्कि उनके अनुसार मनुस्मृति की रचना किसी व्यक्ति के जीवनकाल बन्धित न होकर एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक काल और परम्परा से सम्बन्धित है। गौतम ने अपने धर्म में मनु के मत की व्याख्या की है "त्रीणि प्रथमानि तनिदैश्यादि मनुः"। जहाँ तक मनुस्मृत्ति का प्रश्न समें भी मनु कई स्थानों पर इस रूप में आते हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मनु एक नहीं वरन् एक जो कालान्तर में बढ़ता गया और समाप्त होता गया है।

सेमार वेसे (Seymar Vesey) और फिट्जराल्ड (Fitzgerald) ने भी इस समस्या पर विचार किया है, इन विद्वानों के अनुसार 'मनु' नाम का इतिहास ऋग्वेद के समान प्राचीन है। इतनी प्राचीनता को वे मिथकीय मानते हैं। किन्तु साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि इस नाम से जुड़ी सामाजिक नियमावली अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन काल से मौजूद रही होगी। इसका धर्मसूत्रों एवं वेदों में सम्मानपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है।

7.3.1 मनुस्मृति का रचनाकाल

विभिन्न स्मृतियों के रचनाकाल का निर्धारण एक ऐसा विषय है, जिस पर कोई भी दो विद्वान एक मत नहीं हो सकते। यहाँ तक कि जिन विद्वानों ने स्मृतियों के काल निर्धारण का प्रयत्न भी किया है, उनमें से अधिकांश ने अपने निर्धारण को अनुमानित या अन्तिम ही कहा है। यही बात मनुस्मृति के रचना-काल पर लागू होती है।

स्मृतियों के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयत्न सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया। इनकी अपनी सीमाएं थीं। ये भारतीय परम्पराओं विशाल साहित्य भण्डार, दर्शन, पद्धतिशास्त्र, ऐतिहासिक, परिप्रेक्ष्य आदि से सुपरिचित न थे। सामान्यत: अध्ययनकर्ता गहन अध्ययनों के आभाव में मनु का काल ईसा से पूर्व दूसरी से चौथी सदी के मध्य मानते हैं। इससे पूर्व के ग्रन्थों में उल्लिखित मनु को ये लोग भिन्न व्यक्ति मानते हैं किन्तु ऐसे भी विद्वान है जो इस मत से असहमति रखते हुए मनुस्मृति की रचना-अवधि को कहीं अधिक पुरातन मानते हैं।

धर्मशास्त्रों के अनुमानित रचना-काल को इंगित करते हुए विनय कुमार सरकार ने मनुस्मृति का रचनाकाल 150 ई० माना है। पी०वी० काणे के अनुसार- ''मनुस्मृति की रचना ई० पू० दूसरी शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच कभी हुई होगी।''

व्यूहलर — ने मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से द्वितीय शती ई० के मध्य अनुमानित किया गया है।

काशी प्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू पालिटी (Hindu Polity)और ए० के० सेन ने अपनी पुस्तक ''स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थाट' (STUDIES IN HINDU POLITICAL THOUGHT) में मनु पर पर्याप्त सामग्री दी है। ये विद्वान विद्वान मनु को ब्राह्मण वादी व्यवस्था का जनक मानते हुए ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र का समकालीन सिद्ध करते हैं। इनके अनुसार मनुस्मृति का रचनाकाल ई०पू० द्वितीय शताब्दी ठहरता है। विभिन्न विद्वानों का बहुविधि विश्लेषण कर डा० लक्ष्मीकान्त ठाकुर ने मनुस्मृति का रचनाकाल कम से कम 1000 ई० पू० माना है। बेंजमिन ने मनु का उल्लेख करते हुए उन्हें प्रश्नवाचक रूप में 600 ई०पू० से 300 ई० पू० के मध्य माना है। मनुस्मृति के रचनाकाल को इन्होंने 100 से 300 ई० के मध्य निर्धारित किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने मत प्रकट किये हैं। उन सब के विस्तार में न जाने का मूल कारण यह है कि अधिकांश ने काल निर्धारण विभिन्न ग्रंथों की पूर्वापरता के आधार पर किया है। अथवा इतिहास की किसी एक घटना को अपना आधार बिन्दु बना लिया है। जब आधार रूप ग्रहण किये गये ग्रन्थ या घटना का ही सुनिश्चित काल-निर्धारण नहीं होगा, तो उसके आधार पर अन्य ग्रन्थों के काल निर्धारण विभिन्न ग्रंथो की पूर्वापरता के आधार पर किया है। अथवा इतिहास की किसी एक घटना को अपना आधार बिन्दु बना लिया है। जब आधार रूप ग्रहण किये गये ग्रन्थ या घटना

ा ही सुनिश्चित काल-निर्धारण नहीं होगा तो उसके आधार पर अन्य ग्रन्थों के काल निर्धारण का प्रयत्न ी व्यर्थ है। ऐसे में मनुस्मृति के रचना काल को सुनिश्चित रूप से न निर्धारित करते हुए हमें इसके र्माण काल को हजारों वर्षों में फैला हुआ मानते हुए इसकी अति प्राचीनता को स्वीकार कर लेना चाहिए था सुनिश्चित निर्धारण को भविष्य में प्राप्त सुनिश्चित प्रमाणों की प्रतीक्षा में स्थागित रखना चाहिये।(7)

.4 ब्राह्मण युग का उत्कर्ष एवं मनुस्मृति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हाभारत ग्रन्थ के अनुसार शुंग युग में ब्राह्मणों का स्थान प्रथम था। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न विद्वान था ब्राह्मणों के विहित कर्मों को करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता था। इस प्रकार जन्म, विद्या और र्म - इन तीनों बातों से वर्ण का निर्धारण होता था। जाति से प्राप्त हो जाती थी। व्यवसाय या शिल्प के ाधार पर वर्ग थे, जो जिस व्यवसाय के परिवार में उत्पन्न होता था, वही उसका व्यवसाय होता था। इस मय जाति केवल कुल या वंश की परिचायिका थी, इससे अधिक उसका कोई महत्व न था। पंतजलि ने पने महाभाष्य में ब्राह्मणकारक और जाति ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है। जाति ब्राह्मण, ब्राह्मण से टा माना जाता था। आगे चलकर वर्णकारकत्व क्षीण होता चला गया। और जाति प्रमुख होती चली ी।

के वेद रक्षा का दायित्व ब्राह्मणों को दिया गया, और वेद अपौरुषेय माने जाते थे। वे ब्रह्मा के प्रतिरूप ने जाते थे। इसीलिये वेद और ब्रह्मा पर्याय रूप से भी प्रचलित थे। इस प्रकार ब्राह्मण साक्षात वेदपुत्र या ग्पुत्र माने जाने लगे थे। ब्राह्मण की रक्षा का अर्थ था वेद की रक्षा। तत्कालीन युग में ब्राह्मणों की इतनी ढ़ स्थिति केवल अंधविश्वास पर ही आधारित नहीं हो सकती इसका मूल आर्थिक संरचना में खोजा सकता है। एक महत्वपूर्ण कारक पंचाग पद्धति का अविष्कार था जो कि एक कृषि प्रधान देश के लिये ा वैज्ञानिक आवश्यकता थी। भारत के मानसूनी प्रदेश के लिये वर्षा इतनी आवश्यक थी कि एक साल लिए भी 'वर्ष' शब्द का प्रयोग होता था। कृषि की सम्पूर्ण प्रक्रिया वर्षा के प्रारम्भ एवं समापन पर र्र थी। इसलिये यह आवश्यक था कि वर्ष का समय निर्धारण इसी के अनुकूल हो आदिमयुगीन, ग्र-संचयन युग में, चन्द्र के आधार पर पक्षियों, पशुओं और पौधों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना तती थी। इससे ही चन्द्रमास पद्धति का जन्म हुआ। कृषि उत्पादों के लिए सूर्य वर्ष की आवश्यकता दोनों समय सारणियों में संतुलन भी आवश्यक था। यह कार्य ब्राह्मणों ने किया और ज्योतिष की नींव ी। अब कृषि के प्रत्येक कार्य के लिए ब्राह्मण की आवश्यकता थी। हल चलाने, बीज बोने से लेकर ा काटने तक प्रत्येक अनुष्ठान के लिये ब्राह्मण द्वारा ही समय निर्धारण होता था। इसी प्रकार इस युग में व जीवन को 'सोलह संस्कारों में बाँधकर' प्रत्येक अवसर पर जन्म से मृत्यु तक ब्राह्मण की ावार्यता सिद्ध हो गयी। इस समय तक जाति-व्यवस्था, वर्ग संरचना में परिवर्तित हो चुकी थी। लिये ब्राह्मणों को विशेष सुविधायें प्रदान की गयी हैं, यहाँ तक कि ब्राह्मण राजकर से भी मुक्त थे।(8)

पी० कौशाम्बी ने अपनी पुस्तक "An Introduction to the study of Indian History" में ोक्त कारकों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि इसीलिये इसे ब्राह्मण युग कहा जा सकता है। स्मृतियों में मृति का महत्व केवल इसलिये नहीं है कि वह त्रयी की विचारधारा के निकट है, वरन् मनु ने मानव हारों के लिये एक व्यस्थित व्यवस्था बनाई, जिसने व्यक्तियों के लिये नवीन मार्ग प्रशस्त किया।

इसलिये मनु, हिन्दू कानूनी व्यवस्था के पिता कहे जाते हैं। ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ की कोई न कोई सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अवश्य होती है। मनुस्मृति में जो समाजिक विचार व्यक्त किये गये हैं व सर्वप्रथम ईश्वरीय विधान द्वारा निर्मित है। समाजिक विचारधारा जिसका समय के अनुसार प्रसार हुआ, वह मनु की अपनी विचारधारा न होकर स्वंयभू की विचारधारा थी। सर्वप्रथम मनु ने उसे स्वयंभू से प्राप्त किया इसके पश्चात् मनु द्वारा उत्पन्न यह ज्ञान का क्रम दस प्रजापतियों को हस्तान्तरित होने लगा। हम देखते हैं कि मनुस्मृति में मनु के नाम से भृगु मुनि व्यक्तियों को उपदेश देते हैं। इस प्रकार मनु के समाजिक विचार वहीं हैं जो ब्रह्मा ने उन्हें दिये। मनुस्मृति में व्यक्त सामाजिक विचार, धर्म, कर्म, आदि दैवी कृत्य ऋषियों के द्वारा हस्तान्तरित होते रहे हैं। ब्राह्मण धर्म के उत्थान के साथ ही संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान भी एक महत्वपूर्ण आधार है, जिसने मनुस्मृति के अग्रिम लेखन में आधारशिला का कार्य किया।(9)

7.5 सृष्टि व समाज की रचना

सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई, इसका विशद उल्लेख हमें मनुस्मृति में मिलता है। मनु का मत है कि प्रारम्भ में सात पुरुषों के संयोग से विराट पुरुष की उत्पति हुई है। ये सात पुरुष अहंकार, महत्व, और आकाश आदि पाँच तत्व हैं। ये बड़े सामर्थ्यवान और शक्तिशाली मान गये हैं। मनु के अनुसार अव्यक्त तथा स्वयंभू परमात्मा जो इस आदि अवस्था को प्रकाशित करता है शान्त न रह सका, और उसी से ये प्रकृति प्रेरित हुई यह सम्पूर्ण जड़ तथा चेतन जगत उसी महत्व परमात्मा से कार्यरूप में स्वयं प्रकट हुआ और विभिन्न प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि हुई।(10) (मनु स्मृति, 2-5, 6 व 7)।

इस प्रकार यह महत्वपूर्ण जड़ तथा चेतन जगत् उसी महत्तत्व परमात्मा, जो अतीन्द्रिय अव्यक्त तथा सनतन है, की अभिव्यक्ति है। मनु का मत है कि यह परमात्मा कार्यरूप में स्वयं प्रकट हुआ और विभन्न प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि की। अतः जगत् के प्राणियों के असंख्य मुख मिलाकर उस विराट पुरुष का मुख. जगत के प्राणियों के असंख्य बाहुओं के समावेश की उस विराट पुरुष की दोनों बाहुओं में माना गया है। इसी प्रकार जगत् के प्राणियों के अन्य अवयवों का समावेश उस विराट पुरुष के तत्सम्बन्धी अवयवों में कल्पना की गयी है। इस दृष्टि से जगत एक सावयव है जिसका निर्माण अनेक कोष्ठों के संयोग से हुआ। इस सावयव में यदि एक भी कोष्ठ का आभाव होगा तो वह विराट पुरुष अपूर्ण माना जायेगा। विराट पुरुष से नर और नारी जगत् का निर्माण किस प्रकार हुआ, इस विषय का वर्णन करते हुए मनु ने लिखा है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहगर्धेन पुरुषोभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

अर्थात् "उस विराट पुरुष ने अपने शरीर के दो भाग किये-उसके अर्द्धभाग से नर और शेष अर्द्धभाग से नारी जगत् की उत्पत्ति हुई।" मनु ने यह भी लिखा है "उसी विराट पुरुष ने तप करके जिसको उत्पन्न किया वह सबको उत्पन्न करने वाला मुझे जानो। मनु के अनुसार उस अनन्त पराक्रमी ईश्वर द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि और मुक्ति को इस प्रकार उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल से नाश करते हुए अपने में छिपा लिया जाता है। अर्थात् वह प्राणियों के कर्मवश से पुनःपुनः सृष्टि व प्रलय करता है। जब प्रजापति जागता है अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा करता है तो उस समय यह सम्पूर्ण जगत् चेष्टायुक्त हो जाता है और जब निवृत्ति की इच्छा होती है, तब सम्पूर्ण प्रलय हो जाता है। मनु स्मृति के अनुसार ईश्वर तथा जगत का सम्बन्ध कारण तथा कार्य का है। साथ ही यह जगत् मायामय तथा सारहीन नहीं अपितु मानव जीवन के लिये धर्म तथा कर्मक्षेत्र है। इसी संसार में अपने धर्मानुसार आचरण के द्वारा ही जीवन के परमलक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता है।(11)

6 सारांश

इकाई का सार इस ओर संकेत करता है कि मनु कौन थे ? सामाजिक विधान की महत्वपूर्ण पुस्तक स्मृति का रचना काल क्या है, इसके मतवैभिन्य पर इस इकाई में प्रकाश डाला गया है। मनु की हासिकता, एवं मनुस्मृति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर इस इकाई में प्रकाश डाला गया है। मनु को ंभू कहा गया है। अनेक भौगोलिक प्रमाण ऋग्वेद का रचनाकाल 30,000 वर्ष पूर्व मानते हैं और ग्वेद में हमें मनु का उल्लेख मिलता है। डा० मोटवानी ने विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों पर मनु उनकी संहिता के प्रभाव को अत्यन्त युक्तिपूर्वक तथा सप्रमाण सिद्ध करते हुए इस आधार पर उसकी ोनता सिद्ध की है। विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में 'मनु' या उनसे मिलते जुलते नाम के कत्व को अत्यन्त सम्मानित आदि पूर्वज के रूप में स्थान दिये जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति के ाकाल को विभिन्न मत-मतान्तरों के बाद भी ई० पू० दूसरी शताब्दी से द्वितीय शती ई० के मध्य ानित किया गया है।

7 बोध प्रश्न

। प्रश्न :

मनु स्मृति के रचना काल पर प्रकाश डालिये ? उत्तर 15 पंक्तियों में लिखिये।

नुस्मृति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर टिप्पणी लिखिये ? उत्तर आठ पक्तियों में लिखिये।

इकाई 8 : मनु की सामाजिक विचारधारा

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 धर्म के सम्बन्ध में विचार

8.3 आश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार

8.4 वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म

8.5 विवाह व परिवार के बारे में विचार

8.6 समाज में नारी की स्थिति

8.7 कर्म का सिद्धान्त

8.8 संस्कार

8.9 सारांश

8.10 बोध प्रश्न

8.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

मनु के सम्पूर्ण विचारों के विश्लेषण में क्रमिक रूप से प्रथम इकाई में मनु की ऐतिहासिकता, मनुस्मृति का रचनाकाल निर्धारण, तथा समकालीन दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई में आप—

- मनु के द्वारा विश्लेषित सामान्य एवं विशिष्ट धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के बारे में उल्लेख कर सकेंगे।
- वर्ण व्यवस्था, पुरुषार्थ, कर्म के सिद्धान्त के बारे में मनु के विचारों का वर्णन कर सकेंगे।
- विवाह व परिवार तथा मनु ने जिस वैश्विक समाज के बारे में कल्पना की थी, का वर्णन कर सकेंगे।
- समाज में नारी की स्थिति, कर्म के सिद्धान्त के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

मनु ने विप्लव बाद की अवस्था में एक आदर्श समाज-व्यवस्था की परिकल्पना की थी, तथा वह ऐसे आदर्श प्रतिमान स्थापित करना चाहते थे जिनसे समाज की विभिन्न इकाइयों एवं उपव्यवस्थाओं का विश्लेषण किया जा सके, तथा उन्हें इस सम्पूर्ण वैश्विक समाज पर अनुप्रयोगित किया जा सके।

समाज के आधार भूत अंगों जैसे-परिवार, धर्म, नारी की स्थिति, कर्म के सिद्धान्त का सारगर्भित एवं विस्तृत विश्लेषण मनु ने किया है। उसका आंशिक विवेचन यहाँ करेंगे।

इस इकाई में श्राद्धविधि निरुपण, मनु द्वारा प्रतिपादित सामान्य धर्म की अवधारणा, मनु द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को विभिन्न सामाजिक निषेधों द्वारा नियन्त्रित कर समाजानुकूल व्यवहार के लिए निरूपित नियमों

मनु द्वारा प्रदत्त एक आदर्श समाज की संकल्पना को व्याख्यायित किया गया है। इस इकाई में पति व ी के पारस्परिक तुलनात्मक सम्बन्धों का भी विवेचन मनु ने किया है। वर्ण धर्म एवं अनुकूलन आचरण भी विश्लेषित किया गया है। मनु के अनुसार समस्त आश्रमों में गृहस्थ आश्रम सर्वोपरि है क्योंकि इस श्रम में रहकर व्यक्ति पंचऋण से मुक्त हो सकता है इसके निमित्त पंच महायज्ञों को सम्पन्न करने का ान है।

ामय भोग हिन्दू संस्कृति व सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता है। जीवन का उद्देश्य केवल ा ही नहीं बल्कि इस रूप में जीवन यापन करना है कि इस जीवन के पश्चात् जन्म और मृत्यु के चक्र ुटकारा मिल जाये-परमब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो। ऐसी आश्रम व्यवस्था की संकल्पना मनु ने थी।

2 धर्म के सम्बन्ध में विचार

स्मृति के दूसरे अध्याय में मनु ने धर्म की व्याख्या की है।

ान्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वश:।

रप्रभ च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥

लोक में मुनिगणों ने मनु महाराज से धर्मव्यवस्था के बारे में विचार व्यक्त करने का निवेदन किया।

न्यमूल: काम्यो वै यज्ञा : संकल्प संभवा:।

ने यज्ञधर्माश्च सर्वे संकल्पजा: स्मृत:॥

ना का मूल संकल्प ही होता है और यज्ञ संकल्प से ही होते हैं। व्रत, यज्ञादि सभी धर्म का आधार न्य ही कहा गया है। वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय सन्तोष ये चार साक्षात् धर्म के ा हैं।

ंधं तु यत्रं स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

ापि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभि:॥

पर श्रुतियों में ही विरोध है वहाँ पर मनु ने दोनों ही अर्थों को धर्म माना है। महर्षियों ने भी दोनों के ुए धर्मों को धर्म माना है। मनु ने कहा है कि सभी द्विजातियों का धर्म के लिये पहले या तीसरे वर्ष डन करना चाहिये ऐसा वेद में कहा है। मनु ने स्त्री धर्म, संन्यासी धर्म, राजधर्म व गृहस्थ धर्म की र से चर्चा की है।(11)

र्म के बारे में मनु ने लिखा है कि स्त्री को सदा प्रसन्न रह कर दक्षता के साथ घर के कामों को ाना चाहिये। नित्य व्यवहार में आने वाली सामग्रियों को साफ करना चाहिये और जहाँ तक हो सके, ब्रर्च करना चाहिये। साथ ही यह भी कहा है कि पिता, पति या पुत्र से पृथक रहने की इच्छा रखने स्त्री दोनों कुलों (पति-पितृ) को निन्दित करती है।

ा नाभिचरति मनोवाग्देहसयता।

लोकमाप्नोति सद्धि: साध्वीति चोच्यते॥

ा, वचन और क्रिया से पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती वह पतिलोक को पाती हैं और इस लोक छे लोग पतिव्रता कहकर उसकी प्रसंशा करते हैं।

गृहस्थ के बारे में मनु का कहना है कि —
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्समातको द्विजः।

वने वसेत्तु नियतो यथावद्धि जितेन्द्रिय :॥

इस प्रकार स्नातक द्विज विधिवत गृहधर्म का पालन कर, तत्पश्चात् जितेन्द्रिय होकर नियमपूर्वक धर्म का अनुष्ठान करता हुआ वन में निवास करे। यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाए हुए क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजाओं की रक्षा करनी चाहिये।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कार क्षत्रियेण यथाविधि।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥

अपने - अपने धर्म में स्थित रहने वाले सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा ने राजा को बनाया है।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा दृष्टोडभिरक्षिता॥

नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षित किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है "नष्ट हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे" इसलिये धर्म का कभी नाश न करना चाहिये।

जो राजा कामक्रोध का संयम करके धर्म से सब कामों को देखता है उसका अनुकरण प्रजा भी उस प्रकार करती है जैसे नदियाँ समुद्र का। न लेने योग्य वस्तु के लेने से और लेने योग्य वस्तु को न लेने से राजा की दुर्बलता प्रकट होती है, उसके लोक-परलोक दोनों नष्ट होते हैं। राजा को अपने राज्य की सीमाओं से सम्बन्धित राज्यों के राजाओं और उनके सेवकों क शत्रु प्रकृति जानना चाहिये। इनसे मिले राजाओं के जो राज्य हों उन्हें मित्र प्रकृति जानना चहिये और इन दोनों पर जो राजा हो उन्हें उदासीन प्रकृति जानना चाहिये। नीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा करें जिससे उसके मित्र, उदासीन, और शत्रु की संख्या न बढ़ने पावे।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।

तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिन॥

जैसे खेतिहर तृण को उखाड़कर फेंक देता है और धान्य की रक्षा करता है, वैसे राजा शत्रुओं का नाश करें और राष्ट्र की रक्षा करें।

8.3 आश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार

भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण जीवन को एक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार विभाजित करने का प्रयास किया गया है। भौतिक सुख एवं अध्यात्मिक सुख सन्तुलित रूप से आश्रम व्यवस्था के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। दोनों का समन्वयात्मक रूप हमें इस व्यवस्था के अन्तर्गत देखने को मिलता है। मनु के अनुसार, 'आश्रम', शब्द संस्कृत की 'श्रम', धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना इस अर्थ में आश्रम एक ऐसा स्थान है जहाँ हम अपने जीवन के एक विभाग के लिये निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं। मनु के अनुसार चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में जीवन के प्रथम 25 वर्ष तक गुरूकुल में

रहकर विद्याध्ययन तथा धर्म का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। गृहस्थाश्रम में विवाह करके परिवार तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों को पूरा करके अर्थ व काम सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। वानप्रस्थ आश्रम में घर त्यागकर वन में जाकर तपस्या व ध्यान द्वारा सांसारिक इच्छाओं और बन्धनों से मुक्त होने के प्रयास किये जाते हैं और संन्यास आश्रम में समस्त सांसारिक इच्छाओं को त्यागकर मोक्ष की प्राप्ति के लिये यत्न किये जाते हैं। मनु के अनुसार गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ 36 वर्ष तक या 18 वर्ष या 9 वर्ष में ही तीनों वेद को पढ़े या नियत समय से पहले या पीछे जितने दिनों में वेद पढ़ना समाप्त कर सके उतने ही दिनों तक पढ़े। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ क्रम से तीनों वेय या दो वेद, या एक ही वेद पढ़कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। मनु महाराज के अनुसार गुरु से आज्ञा पांकर विधिपूर्वक समापवर्तन संस्कार, स्नानादि करके द्विज शुभ लक्षणयुक्त सजातीय कन्या से विवाह करें। चारों वर्णों के इस लोक और परलोक में हिताहित के साधन करने वाले आठ प्रकार के विवाहों को मनु ने बताया है— 1-ब्रह्म 2- दैव 3-आर्ष 4-प्रजापत्य 5-आसुर 6-गान्धर्व 7-राक्षस 8-पैशाच। ब्राह्मण को आदि से छः प्रकार से विवाह, क्षत्रिय को आसुरादि क्रम से 4 प्रकार के और वैश्य तथा शूद्र को राक्षस सहित तीन प्रकार के विवाह धर्मानुकूल हैं।

जिस प्रकार प्राण वायु का आश्रय लेकर सब जीव जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सभी आश्रम चलते हैं। मनु के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहकर व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम के उत्तरदायित्व को पूर्ण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे और देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋतु से उऋण होने का प्रयत्न करे। वानप्रस्थाश्रम में दिनचर्या को ऋतु के अनुसार ढालने का प्रयत्न करे, अपनी तपस्या को बढ़ाते हुए ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि ले, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहे और शीत-ऋतु में गीला वस्त्राधारण करे । अन्तिम आश्रम में मोक्ष ही व्यक्ति का लक्ष्य है।(13)

8.4 वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म

वर्ण व्यवस्था का भारतीय समाजिक संरचना में विशेष महत्व एवं स्थान है। अन्य देशों की संस्कृतियों में जहाँ आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा की गई है, भौतिकवादी जीवन की अधिक सराहना की गई है, वहीं प्रत्येक भारतीय, सुख के साथ मोक्ष की प्राप्ति भी करना चाहता है। मनुस्मृति में देखते हैं कि ब्रह्मा लोक वृद्धि हेतु विभिन्न वर्णों को जन्म देते हैं। उनके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पदों से शूद्र उत्पन्न हुए । वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से है, जिसका अर्थ होता है वरण करना। वर्ण शब्द का कहीं-कहीं पर रंग के अर्थों में भी प्रयोग होता है। कहीं पर 'वृ' धातु का प्रयोग जीविका के लिये भी किया जाता है। अर्थात् शाब्दिक दृष्टि से वर्ण शब्द के तीन सम्भावित अर्थ लगाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(i) वरण या चुनाव करना (ii) रंग (iii) वृत्ति के अनुरूप

शाब्दिक अर्थ के आधार पर वर्ण के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है। जिन व्यक्तियों के गुण तथा कर्म समान थे, अर्थात् जो समान स्वभाव के थे वे सब एक वर्ण के सदस्य माने जाते थे। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।''

मनुस्मृति में मनु ने ब्राह्मणादि के लिये पृथक्-पृथक् कर्मों की सृष्टि की। ब्राह्मण का गुण है स्वाध्याय, व्रत,

होम, यज्ञ, क्षमा, शील, धैर्य, निर्मलता आदि। ब्राह्मण अन्य वर्णों की अपेक्षा ज्ञान में श्रेष्ठ है। ब्राह्मण अपने आत्मज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है। ब्राह्मण की श्रेष्ठता बताते हुए मनु कहते हैं "जिस ब्राह्मण के मुख से देवता लोग हव्य तथा पितर लोग द्रव्य खाते हैं, उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ प्राणी कौन होगा? वह प्राणी पंचमहाभूतों में श्रेष्ठ है। प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है और बुद्धिजीवियों में अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।"

जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है उसे वह अन्य लोगों से भी ग्रहण करे, भले ही वह शत्रु क्यों न हो विष से भी अमृत को, बालक से भी सुभाषित को, शत्रु से भी सदाचार को और अपवित्र से भी सुवर्ण को ग्रहण करना चाहिए। ब्राह्मण का यह परम कर्तव्य है कि वह अध्यापन व अग्निहोत्र के माध्यम से जीविका अर्जित करे। वह कभी भी भोग विलास के लिये धन अर्जित न करे वरन् प्राणरक्षा हेतु ही अर्जन करे। ब्राह्मण जीविका के लिये निन्दित कार्य का आश्रय कभी न ले। शुद्ध ब्राह्मण की जीविका का ही आश्रय ले, जिसमें शठता एवं कुटिलता न हो। ब्राह्मण और क्षत्रिये के बिना परस्पर सहायता की भी व्यवस्था मनुस्मृति में प्राप्त होती है। ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण समृद्धि नहीं पा सकते, किन्तु परस्पर सहयोग के द्वारा दोनों ही इस लोक तथा परलोक में पर्याप्त समृद्धि प्राप्त करते हैं। प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषय में लिप्त न होना क्षत्रिय के धर्म हैं। वैश्य का काम पशुओं की रक्षा करना है। मनुस्मृति में शूद्र की स्थिति, उसके कर्तव्य आदि बड़े ही अजीबोगरीब हैं। शूद्र का परम कर्तव्य है कि वह तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, की सेवा करें। ब्राह्मण अगर शूद्र को अन्नदान देता है तो उसका कर्म फल निष्फल हो जाता है।(14)

8.5 विवाह व परिवार के बारे में विचार

विवाह दो विषमलिंगियों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक या कानूनी स्वीकृति है। स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों को विभिन्न सामाजिक व आर्थिक क्रियाओं में सहगामी बनाना, सन्तानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन-पालन एवं समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं। मनुस्मृति के अनुसार गुरु की आज्ञा पाया हुआ द्विज अपनी गृहोक्त विधि (व्रत समाप्ति सूचक) से स्नान कर अपने समान वर्णवाली शुभ लक्षणों से युक्त कन्या के साथ विवाह करें। जो कन्या माता के या पिता के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक) की न हो और पिता को गोत्र की न हो, ऐसी कन्या द्विजातियों के स्त्री कर्म के लिये श्रेष्ठ होती हैं।

असपिण्डा च य मातुरसगोत्रा च या पितुः।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

मनु के अनुसार जो क्रियाहीन हो, जिससे पुरुष सन्तति न होती हो, जो वेद के पठन-पाठन से रहित हो, जिस स्त्री के शरीर पर बहुत और लम्बे केश हों, जिसमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, मृगि, श्वेत दाग, और कुष्ठ रोग जैसे रोग होते हैं, उससे विवाह नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को पहले सवर्णा (स्वजाति की कन्या) से विवाह करना श्रेष्ठ होता है। कामवश विवाह करने वाले को क्रम से ये स्त्रियाँ भी श्रेष्ठ होती हैं यथा—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।

ते च स्वा चैव राज्ञश्य ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

शूद्र की शूद्रा ही स्त्री होती है। वैश्य को वैश्य वर्ण की और शूद्रा, क्षत्रिय को क्षत्राणी, वैश्य व शूद्र, ब्राह्मण को चारों वर्णों की कन्या से विवाह करने का अधिकार है। मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं-ब्राह्मण, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। (ये आठ प्रकार के स्त्री-विवाह हैं) इन विवाहों को वर्णों के अनुसार भी संयोजित किया गया है। ब्राह्मण वर्ण के लिये हैं छह प्रकार के विवाह (ब्राह्मण, दैव, आर्ष, प्रजात्य, आसुर, गान्धर्व)। क्षत्रियों के लिये अन्तिम चार विवाह (आसुर, पैशाच, राक्षस, गन्धर्व) वैश्य तथा शूद्र के लिये राक्षस को छोड़कर अन्तिम तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गन्धर्व, पैशाच) का विधान है। विवाह के यह नियम सामान्य एवं साधारण हैं, कठोर नहीं क्यों कि मनु आगे चलकर प्रशस्त एवं अप्रशस्त विवाहों का उल्लेख करते हैं। प्रशस्त विवाह के अन्तगर्त ब्राह्म व दैव आते हैं तथा अप्रशस्त में आसुर, प्रजापत्य, गन्धर्व, राक्षस तथा पैशाच विवाह हैं।

अर्थात् अन्त के पाँच प्रकार के विवाहों (प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस, और पैशाच) में से 3 प्रकार के विवाह (प्रजापत्य, गन्धर्व, राक्षस) धर्म युक्त हैं। दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त हैं। अतः आसुर एवं पैशाच विवाहों को कभी नहीं करना चाहिए मनु ने अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह की व्याख्या की है। उच्च वर्ण के पुरुष का अपने वर्ण या अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह अनुलोम विवाह के अन्तरगत आता है। निम्न वर्ण के पुरुष तथा उच्च वर्ण की स्त्री के विवाह सम्बन्ध को प्रतिलोम विवाह की संज्ञा दी गयी है। ब्राह्मण पुरुष एवं वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र 'अम्बष्ट' कहलाता है। क्षत्रिय से विवाहित शूद्र वर्ण वाली स्त्री से उत्पन्न पुत्र, 'उग्र' नामक होता है। क्षत्रिय से ब्राह्मण वर्ण की कन्या से उत्पन्न पुत्र 'सूतपुत्र' कहलाता है। वैश्य से क्षत्रिय वर्ण की कन्या के उत्पन्न पुत्र 'मागध' और ब्राह्मण वर्ण की कन्या से उत्पन्न पुत्र 'वैदेह' होता है। शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आयोगव' 'क्षत्ता' और मनुष्यों में नीच 'चंडाल' होता है।

परिवार में स्त्री-पुरुष की तुलनात्मक स्थिति को भी मनु ने स्पष्ट किया है। उनके अनुसार स्त्री कभी स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे। बाल्यावस्था में पिता के, यौवन में पति के तथा पति के मरने के बाद पुत्रों के अधीन रहे। पिता, भर्ता पुत्र से अलग होने की बात स्त्री न सोचे, क्योंकि इनसे अलग होने से स्त्री दोनों कुलों को निन्दित करती है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति को ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे और शेष छोटे भाइयों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो, जैसा पिता के जीवनकाल में था। ज्येष्ठ पुत्र ही पिण्डदान देकर पितृऋण से उऋण होता है। इस कारण वह सम्पूर्ण धन लेने योग्य है। ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है वहीं लोगों में अति पूज्य है। बँटवारा करते समय बड़े भाई का सब द्रव्यों में उत्तम बींसवां, बीच वाले का 40वाँ तथा छोटे का 80वाँ भाग होना चाहिये। जो बचे उसको बराबर बाँट लें। मनु ने वस्तुतः वैश्विक समाज की परिकल्पना की तथा सम्पूर्ण विश्व में एक अन्तः सम्बन्ध तथा सद्भाव को धारित किया।[15]

8.6 समाज में नारी की स्थिति

मनु स्त्रियों को समाज में उचित स्थान देने के पक्षधर हैं। सांसारिक एवं आत्मिक प्रसन्नता के लिये स्त्री एवं पुरुष का परस्पर सहयोग आवश्यक है। स्त्री को सदा प्रसन्न रहकर दक्षता के साथ घर के कामों को संभालना चाहिये। नित्य व्यवहार में आने वाली सामग्रियों (आभूषण, बर्तन, इत्यादि) को साफ रखना चाहिए और जहाँ तक हो सके कम खर्च करना चाहिए।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।

सुसंस्कृतो पस्करया व्यये चामुक्त हस्तया॥

स्त्रियों के लिये अलग यज्ञ नहीं है, न व्रत है और न उपवास है, पति की सेवा से ही वह स्वर्गलोक में पूजित होती है।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रत नाप्युपोषणम्।

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

जहाँ तक स्त्रियों के लिये सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है, मनु ने लिखा है कि भाई अपने - अपने भाग का चौथाई भाग अपनी अविवाहित बहनों को दें। स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था और न ही वे इनके मन्त्रों को गा सकती थीं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्रियाँ अशिक्षित रखी जाती थीं। उनकी सामान्य शिक्षा पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं लगाया जाता था। वे पति के साथ धार्मिक क्रियाओं में भाग ले सकती थीं। विधवा स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मनु ने लिखा है कि जिसका विवाह एक बार हो चुका है, वह जीवन पर्यन्त इस बन्धन से बंधा रहता है अर्थात् वह विवाह कभी टूट नहीं सकता है। स्त्री-पुरुष का परम धर्म है कि वे अपने धर्म का पालन जीवन पर्यन्त करते रहें। यही उनका सर्वश्रेष्ठ धर्म है।(16)

8.7 कर्म का सिद्धान्त

कर्म के सिद्धान्त की मौलिक मान्यता है कि व्यक्ति ने जिस प्रकार का कर्म अतीत में किया है उसी के अनुरूप फल उसे वर्तमान में मिलेगा, और जैसा कर्म वह वर्तमान में कर रहा है, उसी के अनुरूप कर्मफल उसे भविष्य में प्राप्त होगा। प्रत्येक कर्म का फल उसे कर्म की प्रकृति के अनुरूप ही मिलेगा। मनु के अनुसार शरीर के कर्म-दोषों या पाप-कर्मों से मनुष्य वृक्षादि योनि, वाणी के कर्म-दोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्म-दोष से चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है। एक व्यक्ति शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ-अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्यभाव को प्राप्त करता है तथा अशुभ कर्मों से नीच योनि में जन्म लेता है। मनु ने यह लिखा है कि मनुष्य को सत्वगुण वाले कर्मों को सर्वाधिक, रजोगुण वाले कर्मों को उससे कम, तथा तमोगुण वाले कर्मों को सबसे कम करना चाहिए।

शुभ या उत्तम कर्म कौन-कौन से हैं तथा उनको करने से क्या फल मिलता है इसका भी उल्लेख मनु ने किया है। उनके अनुसार वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों को रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा करना, ये परमकल्याणकारी कर्म हैं। इन सबमें आत्मज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि उससे मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उसको मनु के अनुसार 'प्रवृत्त' कहते हैं, और जो निष्काम तथा ज्ञानपूर्वक किया जाता है उसे 'निवृत्त' कहते हैं।(17)

8.8 संस्कार

संस्कार का सामान्य अर्थ है परिष्कार करना। संस्कार से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, एवं सामाजिक कार्यों के निरन्तर परिष्कार या शुद्धि करने का अर्थ लिया जाता है। मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मूलतः शूद्र के रूप में ही जन्म लेते हैं। उसके पश्चात् ''संस्कारात् द्विज उच्यते'' अर्थात् धार्मिक संस्कारों द्वारा वे द्विज बनते हैं, अर्थात् जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कुछ संस्कारों को पूरा करते हैं तभी वह द्विज कहलाते हैं।

मनुस्मृति में तेरह संस्कारों का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार हैं—

1- गर्भाधान संस्कार 2- पुंसवन संस्कार 3- सीमन्तोन्नयन संस्कार
4- जातकर्म संस्कार 3- नामकरण सस्कार 6- निष्क्रमण संस्कार
7- अन्नप्राशन संस्कार 8- चूड़ाकर्म संस्कार 9- कर्णच्छेदन संस्कार
10- विद्यारम्भ संस्कार 11- उपनयन संस्कार 12- विवाह संस्कार
13- अन्त्येष्टि संस्कार

1- गर्भाधान संस्कार : इस संस्कार द्वारा गर्भ का शुद्धिकरण, हवन आदि के द्वारा किया जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य पुत्रोत्पादन है।

2-पुंसवन संस्कार : यह संस्कार गर्भधारण हो जाने के चौथे मास में किया जाता है। इस संस्कार में पुत्र की कामना की जाती है।

3- सीमान्तोन्नयन संस्कार : दुष्ट शक्तियों से रक्षा के लिये इस संस्कार द्वारा गर्भवती स्त्री के केशों को ऊपर उठाकर सँवारने का विधान है। यह काम पति गर्भधारण के चौथे मास करता है।

4- जातकर्म संस्कार : यह संस्कार सन्तान के जन्म के समय किया जाता है। और भी स्पष्ट रूप से बच्चे के नाभि छेदन के पूर्व जात कर्म संस्कार होता है। जब बालक का जन्म होता है तो उस संमय अनेक अनिष्टकारी प्रभावों का भय होता है। उन्हीं से बचने के लिये यह संस्कार किया जाता है।

5- नामकरण संस्कार : 'मनुस्मृति, में लिखा है कि दसवें या बाहरवें दिन में शुभतिथि, नक्षत्र, एवं मुहूर्त देखकर बच्चे का नामकरण संस्कार किया जाना चाहिए।

6- निष्क्रमण संस्कार : बच्चे के जन्म के बाद उसे एकदम घर से बाहर नहीं निकाला जाता है। निष्क्रमण संस्कार के बाद ही उसे बाहर निकाला जाता है। मनुस्मृति के अनुसार यह संस्कार जन्म के चतुर्थ सप्ताह में होना चाहिए।

7- अन्नप्राशन संस्कार : छह मास की आयु तक बच्चा अन्न खाने योग्य हो जाता है तो इस संस्कार को किया जाता है। अन्नप्राशन संस्कार बच्चे के द्वारा सर्वप्रथम अन ग्रहण करने का सूचक है। इस अवसर पर बच्चों को अन्न के साथ घृत एवं मधु आदि खिलाया जाता है।

8- चूड़ाकर्म संस्कार : इसे मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। इस संस्कार में बच्चे के बाल पहली बार मूँडे जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि चूड़ाकर्म से दीर्घायु प्राप्त होती है। 'मनुस्मृति' के अनुसार चूड़ाकर्म जन्म के प्रथम वर्ष या तीसरे वर्ष किया जाना चाहिए।

9-कर्णच्छेदन संस्कार : इस संस्कार के द्वारा बच्चे का कान छेदा जाता है पर इस संस्कार का प्रचलन सभी हिन्दू परिवारों में नहीं है।

10- विद्यारम्भ या पट्टीपूजन संस्कार : इस संस्कार द्वारा विधिवत पट्टी को पूजा जाता है और बच्चे का हाथ पकड़कर उसी पट्टी पर परिवार का कोई मान्य सदस्य या शिक्षक या अन्य कोई देवी-देवता का नाम और उसके बाद वर्णमाला के कुछ अक्षर लिखवाता है।

11- उपनयन संस्कार : ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराना चाहिए।

12- विवाह संस्कार : हिन्दुओं के लिये विवाह एक धार्मिक संस्कार है क्योंकि हिन्दू विवाह को एक पवित्र एवं ईश्वर द्वारा निश्चित बंधन माना जाता है। अत: इस विवाह पद्धति के अन्तर्गत कुछ ऐसे धार्मिक तरीके या धार्मिक कृत्य होते हैं, जिनका सम्पादित किया जाना विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में होम, पाणिग्रहण इत्यादि प्रमुख हैं।

13- अन्त्येष्टि संस्कार : यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है जिसे कि एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र आदि करते हैं। इसका उद्देश्य मृत व्यक्ति की आत्मा को परलोक में शान्ति प्रदान करना है।(18)

8.9 सारांश

इस इकाई में आपने परिवार, धर्म, नारी की स्थिति तथा कर्म के सिद्धान्त के विषय में मनु के विचारों का ज्ञान प्राप्त किया। मनु ने स्त्री धर्म, संन्यासी धर्म, राजधर्म तथा गृहस्थ धर्म की विस्तृत चर्चा की है।

मनु जीवनकाल को चार आश्रमों में व्यतीत करने के पक्षधर थे। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन आश्रमों में मनु ग्रहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। मनुस्मृति में मनु वर्णाश्रम व्यवस्था को महत्वपूर्ण मानते हुए प्रत्येक वर्ष पृथक-पृथक कर्मों की व्याख्या करते हैं।

मनु आठ प्रकार के विवाह की चर्चा करते हैं वे इनमें चार विवाहों ब्राह्म, दैव, अर्ष तथा प्रजापत्य को प्रशस्त तथा अन्य चार असुर, पैशाच, राक्षस तथा गन्धर्व को अप्रशस्त विवाह मानते हैं। मनु के कर्म तथा संस्कार सम्बंधी विचार समाज के प्रति उनके दायित्वबोध को प्रदर्शित करते हैं।

8.10 बोध प्रश्न

8.10.1 दीर्घ उत्तरीय

(1) मनु के धर्म सम्बंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।

(2) मनु के आश्रम सम्बंधी विचारों की व्याख्या करते हुए गृहस्थाश्रम के महत्व पर प्रकाश डालिए।

8.10.2 लघुउत्तरीय प्रश्न

(1) निवृत्त तथा प्रवृत्त कर्म किसे कहते हैं ?

(2) प्रशस्त तथा अप्रशस्त विवाहों में अन्तर बताइए ?

(3) मनु ने कितने संस्कारों की चर्चा की है?

8.10.3 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) मनु निम्न में से किस विवाह को प्रशस्त मानते हैं —

(a) असुर (b) पैशाच

(c) गन्धर्व (d) प्रजापत्य

(2) मनु ने कितने संस्कारों का उल्लेख किया है —

(a) 12 (b) 11

(c) 10 (d) 13

8.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(1) d 2 (d)

इकाई 9 : मनु के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 राज्य का स्वरूप
9.2.1 राजा व राजधर्म
9.3 राज व्यवस्था
9.4 न्याय व्यवस्था
9.4.1 दण्ड व्यवस्था
9.5 सारांश
9.6 सम्बन्धित प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप मनुस्मृति में मनु द्वारा वर्णित राज सिद्धान्तों एवं न्यायिक व्यवस्था से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- राज्य के स्वरूप एवं राजा तथा राजधर्म के बारे में वर्णन कर सकेंगे।
- स्पष्ट कर सकेंगे कि राज्य मण्डल सिद्धान्त एवं सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था क्या है।
- मनुस्मृति में वर्णित न्याय व्यवस्था एवं दण्ड व्यवस्था पक्ष का उल्लेख कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

मनुस्मृति को सामान्यतया एक धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु मनु ने राजनीति पर भी कुशलता से विचार व्यक्त किए हैं। मनु ने राज्यव्यवस्था के लगभग सभी अंगों पर अपना मत व्यक्त किया है।

राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति, दण्ड व्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था पर विशद एवं विस्तृत विश्लेषण मिलता है।

मनु की मान्यता है कि बिना राजा के इस लोक पर भय से चारों ओर जल विचल हो जाता है, इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर को राजा ने उत्पन्न किया। मनु ने राजव्यवस्था को ठीक से चलाने के लिये मन्त्रि परिषद् के गठन की बात कही। मनु ने न्यायपालिका में चर्चा करने वाले 18 विषयों पर विचार किया है। धर्मसभा के विधान को सर्वपरि माना गया है जिसका धर्माध्यक्ष राजा होता है।

इस इकाई में 9.2 शीर्षक के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है। इसके उपशीर्षक 9.2.1 में राज्य के स्वरूप, राजा एवं राजधर्म की व्यवस्था मिलती है।

शीर्षक 9.3 के अन्तरगत सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था का विश्लेषण किया गया है।

शीर्षक 9.4 में दण्ड व्यवस्था एवं न्याय व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।

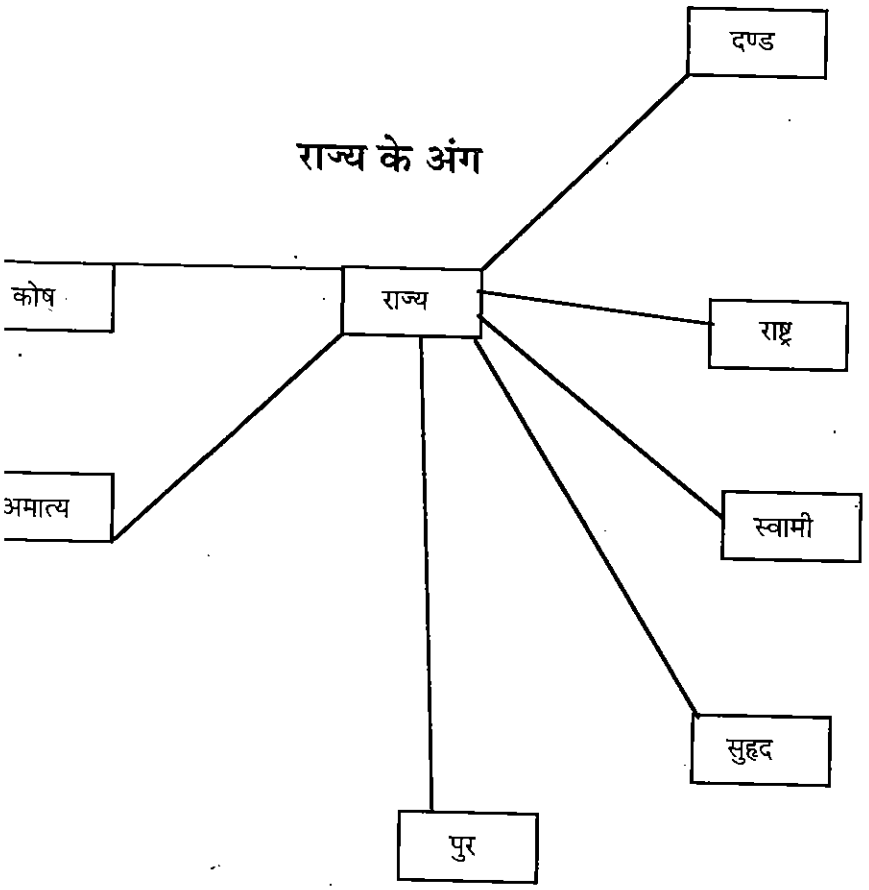

2 राज्य का स्वरूप

ाज्य के अवयव सिद्धान्त के पक्षधर हैं। मनु द्वारा स्थापित राज्य संसांग है। अर्थात राज्य के सात श्यक अंग हैं। ये राज्य की सात प्रकृतियाँ हैं। ये हैं- स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और । राज्य की सातों प्रकृतियाँ स्वाभाविक रूप से कार्य करती हैं। इनमें से किसी एक प्रकृति में विकार न होने से सम्पूर्ण राज्य विकारग्रस्त हो जाता है। इसलिए राज्य को विकारों से दूर रखना चाहिए।

के अवयव सिद्धान्त का स्वरूप पाश्चात्य सिद्धान्त से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है बल्कि उससे मनु न्त्रवादी हैं। अत: राज्य की उत्पत्ति के लिये मनु दैवी सिद्धान्त को महत्व देते हैं।(19)

.1 राजा व राजधर्म

संसार के बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के भगवान ने राजा की सृष्टि की। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का त अंश लेकर राजा की सृष्टि की। चूंकि राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से रचा गया है इस वह तेज से सब जीवों को अभिभूत करता है।

र्य की भांति नेत्र और मन को तपाता है। इसलिए संसार में कोई उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं कता।

पि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप:।

देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

अर्थात, राजा बालक भी हो तो भी उस साधारण मनुष्य समझकर अपमान न करें, क्योंकि वह कोई विशेष देवता नर रूप में स्थित है। अग्नि केवल असावधानी से स्पर्श करने वाले को ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि चिरसंचित पशु तथा धन के सहित समस्त कुल को जला देती है। अज्ञानवश जो राजा के साथ शत्रुता करता है, वह नि:संदेह नाश को प्राप्त होता है।

ईश्वर ने सभी प्राणियों के रक्षक राजा के सभी कार्यों की सिद्धि के लिये ब्रह्मतेजोमय, धर्म पुत्ररूप दण्ड का निर्माण पहले किया। उस दण्ड के भय से सभी चर-अचर सभी प्राणी सुख भोगने में समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते। दण्ड सभी प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, दण्ड ही सोते हुए को जगाता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष दण्ड को ही धर्म कहते हैं। विचारपूर्वक दिया हुआ दण्ड सभी प्रजाओं को प्रसन्न करता है। पर बिना विचार किए हुए दण्ड का विधान करने से वह सब प्रकार से नाश करता है।(20)

दण्ड का यथार्थ रीति से विधान करता हुआ राजा धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों में वृद्धि को प्राप्त होता है। जो राजा विषयासक्त, क्रोधी, खोटे विचार का होता है वह उसी दण्ड से मारा जाता है। जो राजा मन्त्री, सेनापति आदि सहायकों से रहित है, मूर्ख है, लोभी है, शास्त्र ज्ञान विहीन है और विषयासाक्त है वह इस दण्ड को न्यायपूर्वक नही चला सकता है।

अपने-अपने धर्म में स्थित रहने वाले सभी वर्गों एवं आश्रमों की रक्षा करने के लिए ब्रह्मा ने राजा को बनाया है। जो अपने यहां वंश परम्परा से सेवा करते आ रहे हों, शास्त्रज्ञ हों, शूर हों, युद्ध विद्या में कुशल हों, जिनका कुल शुद्ध हो, ऐसे परखे हुए सात या आठ मन्त्रियों को राजा नियुक्त करे। राजा मन्त्रियों के साथ नित्य सामान्य सन्धि, विग्रह स्थान (दण्ड, कोष पुर राष्ट्र विषयक), समुदाय (अर्थात् धान्य और सुवर्ण आदि के उत्पत्ति - स्थान) रक्षा और प्राप्त वस्तुओं को सत्पात्रों में अर्पण करने का विचार करे। उन मंत्रियों में सबका-अलग-अलग अभिप्राय एकान्त स्थान में जानकर फिर एक साथ सबका अभिप्राय जाने, इसके बाद जिसमें अपनी भलाई देखे वह कार्य करे। मंत्रियों में जो ब्राह्मण विशेष विद्वान और विशिष्ट हो, राजा उसके साथ संधि विग्रह आदि छह गुणों से युक्त परम मंत्रणा करे। राजा को अपने कार्यों का सम्पादन करने के लिए जितने मनुष्यों की आवश्यकता हो, उतने आलस्यरहित, कार्यदक्ष, प्रवीण व्यक्तियों को रखे। राजा शास्त्र के अनुसार राज कर्मचारियों द्वारा प्रजाओं से वार्षिक कर वसूल करावे और उनके साथ पिता के समान व्यवहार करे। राजा को चाहिए कि प्रजा का पालन करता हुआ, क्षात्र धर्म के अनुसार समबल, अधिक बल या कम ही बल वाले राजा से युद्धार्थ बुलाये जाने पर युद्ध से मुँह न मोड़े। युद्ध में पीठ न दिखाना, प्रजाओं का पालन और ब्राह्मणों की सेवा, ये राजाओं के लिए परम कल्याणकारक हैं। युद्ध में लड़ते हुए शत्रुओं को कूट शस्त्रों से, कर्णिका के आकार सदृश फलक वाले, विष से बुझे और अग्निदीप्त बाणों से न मारे। युद्ध में जीते हुए हाथी, घोड़े, रथ आदि सब कुछ राजा को अर्पित कर दे। यह वेद का वचन है। सभी सैनिकों द्वारा एक साथ जीता हुआ जो धन हो उसे राजा सैनिकों में बाँट दे। जो पदार्थ प्राप्त न हो, उसे पाने की इच्छा करे, जो सम्पत्ति जीत कर लाया हो, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे। रक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करे और बढ़ा हुआ धन सुपात्रों में बाँट दे।(21)

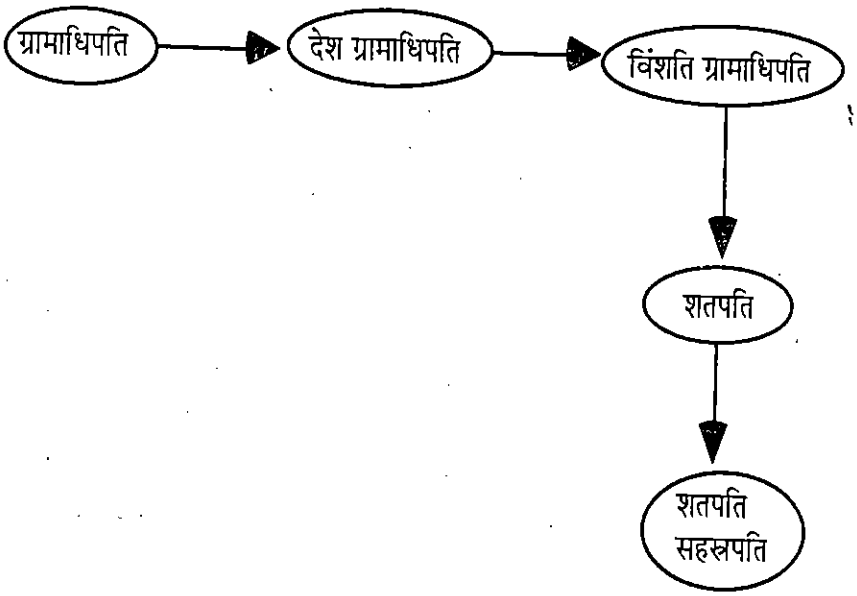

ग्राम व्यवस्था

.3 राजव्यवस्था

नु के अनुसार राज-व्यवस्था को उचित रूप में चलाने के लिए राजा को एक मन्त्रि परिषद् का गठन रना चाहिए। उन मन्त्रियों की अलग-अलग राय और सम्मिलित राय को जानकर ही कार्य करना हिए। ब्राह्मण मन्त्री में पूर्ण विश्वास करता हुआ सब काम उसको सौंपे और उसके साथ परामर्श करके ाम करे। राजा को चाहिए कि वह पवित्र, बुद्धिमान, चतुर, कुलीन, परीक्षित तथा द्रव्य के उपार्जन की क्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे।

ु के अनुसार तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करना चाहिये।

) शासन कार्य की बहुलता एवं विविधता

) राजा की स्वेच्छाचारिता

) शासन-सम्बन्धी कार्यों में वह मन्त्रियों से परामर्श कर सके।

त्र-परिषद् में सदस्य संख्या 7-8 होनी चाहिये। मंत्रि-परिषद् का सदस्य बनने के लिये व्यक्ति में अनेक यताएं होनी चाहिए। जैसे वह शास्त्रों का ज्ञाता हो, दृढ़ संकल्प, कार्य कुशल, साहसी, बौद्धिक और ानसिक रूप से स्वस्थ हो।

रक्षा के लिए राजा सदैव यह उपाय करे। भली - भाँति अपने राष्ट्र की रक्षा करने वाला राजा सुख ाता है। दो या तीन या पाँच या सौ गाँवों के बीच में राज्य की रक्षा के लिए रक्षक -समूह को नियुक्त । प्रत्येक गाँव में एक -एक ग्राम अधिकारी नियुक्त करे। फिर दस, बीस, सौ और सहस्र गाँवों का -एक अधिकारी पृथक् नियुक्त करे। उत्पन्न हुए ग्राम के दोष को, यदि ग्रामाधिपति उसके निवारण में मर्थ हो तो उसके शासन के लि देश ग्रामाधिपति से कहे। वह विशंति ग्रामाधिपति से कहे, उसी ार उत्तरोत्तर विंशतिपति शतपति से और शतपति सहस्रपति से निवेदन करे।

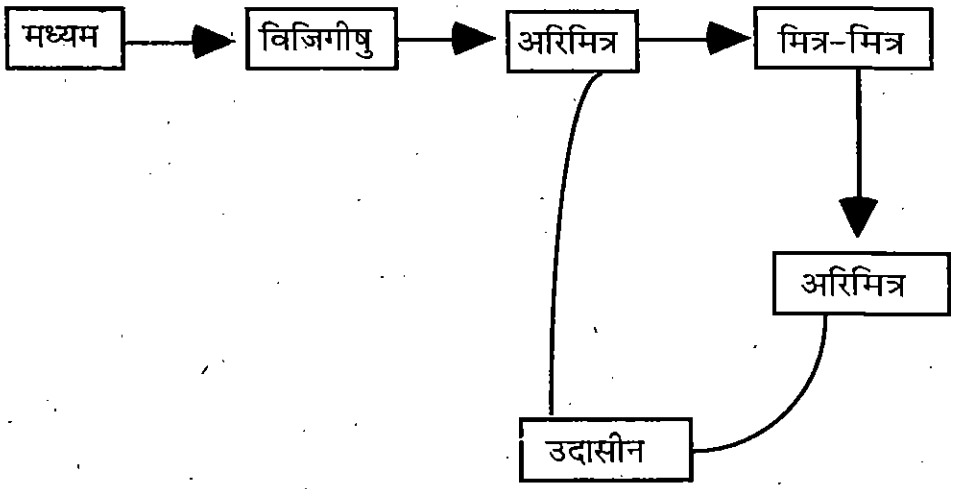

दूसरे राज्यों में दूत भेजना और प्रत्येक कार्य के समाप्त करने के विषय में राजा विचार करे। मुहल्ले में रहने वाली स्त्रियों के कार्यों पर निगाह रखे और दूसरे राज्य में भेजे हुए गुप्त दूतों का भेद लगाने के लिए दूसरे दूतों को नियुक्त करे।

मध्यमास्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम
उदासीन प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नः

मध्यम का प्रचार, विजिगीषु की चेष्टा और उदासीन तथा शत्रु का प्रयत्न, इन बातों को बड़े यत्न से सोचे। ये मध्यम आदि प्रकृतियाँ राजमण्डल की मूल हैं। इनके अतिरिक्त आठ और प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार मिलाकर दोनों 12 प्रकृतियाँ शास्त्र में कही गयी हैं।

प्रत्येक भेदों के मंत्री, देश, कोष और सैन्य ये पाँच प्रभेद और होते हैं संक्षेप में सब मिलकर 72 कहे गए हैं। राजा को अपने राज्य की सीमाओं से संबन्धित राज्यों के राजाओं और उनके सेवकों को शत्रु-प्रकृति जानना चाहिए। इनसे मिले राजाओं के जो राज्य हों उन्हें मित्र-प्रकृति जानना चाहिए। इन दोनों के ऊपर जो राजा हों उन्हे उदासीन-प्रकृति जानना चाहिए। युद्ध मार्ग में राजा, दण्ड व्यूह, शकट व्यूह, वराहव्यूह, कर व्यूह, सूची व्यूह रच कर चले। जिधर से राजा को भय की आशंका हो, उस ओर अपनी सेना को विशेष रूप से नियोजित करे और स्वयं पद्म व्यूह रचकर उसमें रहे।(22)

9.4 न्याय व्यवस्था

समुचित न्याय व्यवस्था के लिये 'मनुस्मृति' में एक धर्म सभा का विधान है जिसका धर्माध्यक्ष राजा होता है। राजा की अनुपस्थिति में उसके द्वारा नियुक्त एक विद्वान ब्राह्मण इस आसन को ग्रहण करता है। धर्म सभा के सदस्यों को विद्वान, चतुर, सौम्य एवं पवित्र आचरण युक्त होना चाहिए। किसी भी विषय में न्याय करने से पूर्व उचित साक्षी को भी ध्यान में रखना चाहिए।

जिसने घटना को अपनी आँखों से देखा और कानों मे सुना है उसे सच बात साक्षी के रूप में बतानी चाहिए। धर्म सभा के सदस्यों को इतना ज्ञानवान होना चाहिये कि वे धर्म और अधर्म एवं सत्य और असत्य के वास्तविक रूप को जान सकें। उनका चरित्र पवित्र एवं उच्च होना चाहिए कि वे किसी प्रकार के प्रभाव में न आएं और सदैव धर्म को धर्म, अधर्म को अधर्म, सत्य को सत्य, असत्य को असत्य घोषित करने की सामर्थ्य रखते हुए धर्मपूर्ण निर्णय देते रहें। यदि धर्म सभा में किसी विषय पर

न्यायालय के प्रमाण

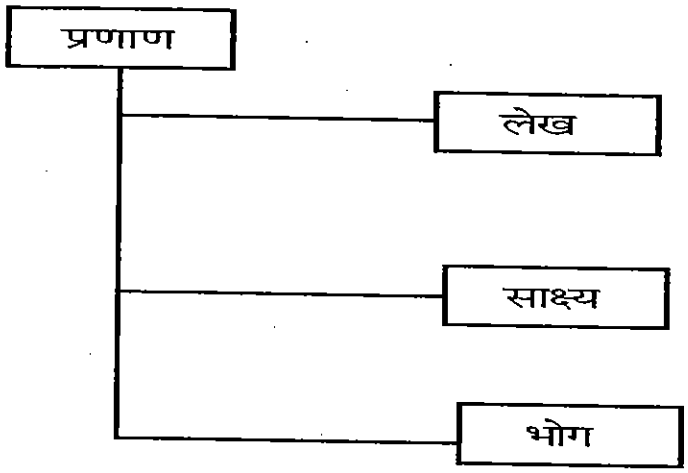

नुचित अथवा अधर्म पूर्ण निर्णय दिया जाता है तो जो पापाचरण हुआ उसका चौथाई भाग मात्र पापकर्ता । होता है, शेष तीन भागों में से एक राजा का, एक भाग झूठा साक्ष्य देने वाले का और एक भाग भासदों का होता है।

ु के अनुसार, साक्षी को सर्वधर्मविद् होना चाहिए अर्थात देश धर्म, वर्ण धर्ण, श्रेणीधर्म, गुणधर्म, लधर्म आदि का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को साक्षी बनाना उचित होगा। मनु का मत है कि यदि हो सके ब्राह्मण का साक्षी ब्राह्मण, क्षत्रिय का साक्षी क्षत्रिय, वैश्य का वैश्य, शूद्र का शूद्र साक्षी होना चाहिए। ी प्रकार मनु ने साक्ष्य कार्य के लिये कुछ व्यक्तियों को अयोग्य बतलाया है। जैसे वह पुरुष जो असत्य षी हो, रोगी हो, नट या संन्यासी हो, दु:खी, पागल, थका हुआ, काम से पीड़ित हो—ऐसे लोगों को क्षी बनाना वर्जित माना गया है। मिथ्या साक्ष्य देने के अपराध में साक्षी को उचित दण्ड देने की बात भी ु ने कही है।

; के अनुसार, न्यायपालिका में 18 विषयों पर विचार किया गया है। ये 18 विषय इस प्रकार हैं—ऋण कर न देना अथवा ऋण के अदा किये बिना पुन: ऋण माँगना, धरोहर स्वामी के अभाव नें वस्तु को ना, साझे का व्यापार, दिए हुए धन को वापस लेना, वेतन न देना, प्रतिज्ञा तोड़ना, क्रय-विक्रय सम्बन्धी ड़े, पशु-स्वामी और पशुपालन के झगड़े, सीमा-विवाद, कठोर शब्दों का प्रयोग, मारपीट, चोरी, डाका, रे की स्त्री का अपहरण करना, स्त्री-पुरुष के धर्म की व्यवस्था, दाय भाग।

ाद ग्रस्त मुकदमों में प्रमाणों को विशेष महत्व दिया जाता था। इन प्रमाणों में तीन चीजें मुख्य हैं—

लेख प्रमाण (Documentary evidence)

साक्ष्य प्रमाण (Witness evidence)

भोग प्रमाण (Possession evidence)

तीनों प्रकार के प्रमाणों में मनु ने प्रथम स्थान लेख, द्वितीय साक्षी और तृतीय भोग को दिया है। क्षेयों के सम्बन्ध में मनु का विचार है कि विवादग्रस्त मामलों में कम से कम तीन साक्षी होने चाहिए. ात् जिसने घटना को देखा हो अथवा मुकदमा सम्बन्धी बातों को सुना हो। मनु ने प्रमाणों को दो भागों वेभाजित किया है—

1- मानव प्रमाण

2- दिव्य प्रमाण

1- मानव प्रमाण - इसमें लेख, साक्षी और भोग प्रमाण सम्मिलित किए जाते हैं।

2- दिव्य प्रमाण - इसमें शपथ लेना तथा कठोर परीक्षा द्वारा सत्य और असत्य को ज्ञात करने का प्रयास किया जाता था जैसे अग्नि को ग्रहण करना अथवा पानी में डुबो देना।

मनुस्मृति में इस बात का भी वर्णन मिलता है कि मुकदमे पर एक निर्णय के पश्चात् पुनः उस पर विचार करने के लिए प्रार्थना पत्र दिया जा सकता है। जैसे आज हम मुकदमें में अपील करते हैं, वैसे ही मनु ने भी इसे स्वीकार किया अर्थात् अपील करने का अधिकार व्यक्ति को प्राप्त था।

विभिन्न अपराधों के लिये विभिन्न प्रकार के दण्ड की व्यवस्था थी। अपराध की प्रकृति के अनुसार अपराधी को दण्ड दिया जाता था। इस तरह विवाद ग्रस्त मामलों पर न्यायपालिका निर्णय अवश्य देती थी।

मनु के राज्य में न्याय-कार्य का अधिक से अधिक स्थानीय न्यायालय द्वारा सम्पन्न होता था। इन न्यायालयों में विशेष प्रकार के न्यायधीशों की नियुक्ति होती थी। विशेषतया जिनका सम्बन्ध तत्ससम्बन्धी संस्थाओं से होता था। ये संस्थायें, जाति, कुल गुण आदि थीं और इन्हीं के माध्यम से न्यायधीश की नियुक्ति की जाती थी। ये जाति धर्म, कुल धर्म, गुण धर्म आदि को ध्यान में रखकर निर्णय देते थे। इस तरह न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा विधायिका के प्रभावों से मुक्त रहकर अपना न्याय सम्बन्धी कार्य करती थी।(23)

9.4.1 दण्ड व्यवस्था

मनुस्मृति में प्रत्येक अपराध के लिये निश्चित दण्ड व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। दण्ड के अनेक प्रकार हैं। जैसे वाग्दण्ड, धिगदण्ड, धनदण्ड, कारागारदण्ड, प्रायश्चित्त दण्ड, निर्वासन दण्ड आदि। मनु के अनुसार यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड देने योग्य अपराधी को यथार्थ दण्ड न दे तो बलवान दुर्बलों को लोहे के कांटे में पकड़ी हुई मछलियों की तरह भूनकर खा जाएं। सारा संसार दण्ड के अधीन है। शुद्ध साधु मनुष्य विरला ही होता है, दण्ड के भय से ही संसार के प्राणी अपना-अपना भोग भोगने में समर्थ होते हैं। देवता, दानव, गंधर्व, राक्षस, पक्षी और नागगण ये सभी दण्ड भय से पीड़ित होकर नियम का पालन करते हैं।

जब व्यक्ति को उसके अपराध के लिये समझा बुझाकर छोड़ दिया जाता है उसे **वाग्दण्ड** कहते हैं, अपराधी द्वारा किये गये अपराध को लक्ष्य कर बुरा-भला कहना और मुक्त कर देना **धिगदण्ड** कहा गया है, जब अपराधी से दण्ड के रूप में धन ग्रहण कर उसे छोड़ दिया जाता है तो उसे **धन-दण्ड** कहते हैं, अपराधी को जब कारागार में कुछ समय या वर्ष भर के लिये रखा जाता है तो उसे कारागार दण्ड कहते हैं।

मनु ने कुछ अपराधों के लिये **प्रायश्चित्त** दण्ड का विधान किया है। मनु का विश्वास है कि व्यक्ति प्रायश्चित द्वारा आत्मशुद्धि करता है। अपराधी जब बहुत गंभीर प्रकार के अपराध करता था तो निर्वासन दण्ड दिया जाता था। मनु ने अन्ततः स्पष्ट किया कि अपराधी को देशकाल लघुता, एवं गुरुता तथा वर्ण और परिस्थिति को ध्यान में रखकर दण्ड देना चाहिए। जो राजा हृदय का पवित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्र के अनुसार चलने वाला, बुद्धिमान और अच्छे सहायकों वाला हो, वह इस दण्ड धर्म को चला सकता है।(24)

.5 सारांश

:संदेह मनु के राजनीतिक विचार कालजयी हैं। राजधर्म के जिन सिद्धान्तों, नियमों की चर्चा मनु ने की, आज भी प्रासंगिक हैं। यद्यपि राजा को ईश्वर का प्रतीक मानना तो उचित लगता है परन्तु उसकी पत्ति मिथकीय लगती है। चूँकि भय व दण्ड के माध्यम से ही सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाये रखा जा कता है, अत: राजा को ईश रूप मानना भी अवश्यम्भावी था। राज व्यवस्था सुदृढ़ थी। मनु ने पड़ोसी ज्यों से स्वस्थ एवं जागरूक सम्बंध एवं संधियों के लिये सप्त मंडल सिद्धान्त की व्याख्या की जो कि ाज भी किसी राष्ट्र की विदेश नीति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। मित्र अरिमित्र → मित्र-मित्र → अरिमित्र → पार्ष्णिग्राह → आक्रन्द → पार्ष्णिग्राहासार → आक्रन्दासार।

क सुदृढ़ न्यायिक व्यवस्था के लिए मनु ने धर्म सभा का विधान प्रस्तावित किया है। जिसका धर्माध्यक्ष जा ही होता था। मनु के अनुसार साक्षी को श्रेणीधर्म, कुलधर्म, वर्णधर्म की जानकारी होनी चाहिए। ाद ग्रस्त मुकदमों में प्रमाणों को विशेष महत्व दिया जाता था और प्रमाणों में तीन चीजें मुख्य मानी यी हैं—लेख, साक्ष्य एवं भोग। मनु ने अपराध के प्रकार को देखकर उसके लिये उसी प्रकार के दण्ड को ा प्रस्तावित किया है।

.6 सम्बन्धित प्रश्न

०-1 मनु द्वारा प्रतिपादित राज व्यवस्था की व्याख्या करिये ?

०-2 मनु की न्याय व्यवस्था की विवेचना करिये ?

०-3 दण्ड व्यवस्था के बारे में 15 पंक्तियां लिखिये ?

०-4 वाग्दण्ड एवं धिग्दण्ड क्या है आठ पक्तियों में लिखिये?

०-5 मनु द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की विवेचना करिये ?

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- मनु द्वारा प्रतिपादित व्यवहार निरूपण विशेषकर जीव-जगत् के प्रति व्यवहार, समाज के प्रति व्यवहार के मानकों का वर्णन करना।
- प्रायश्चित निरूपण अशौच निरूपण, श्राद्ध विधि सम्बन्धी व्यवहारों पर प्रकाश डालना।
- मनु के मानव द्वारा पर्यावरण के प्रति व्यवहार, द्रव्यशुद्धि एवं शरीर शुद्धि निरूपण सम्बन्धी व्यवहारों का उल्लेख करना।

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत मानव जीवन के लिए दिन प्रतिदिन में व्यवहार के जो आवश्यक तरीके हैं, उनकी चर्चा की गयी है। आज भी मनु द्वारा बताये गये व्यवहार निरूपण के नियम उतने ही प्रासंगिक हैं एवं न केवल व्यक्ति बल्कि समाज के लिए भी उपयोगी हैं।

इसके भाग 10.2 में जीव-जगत के प्रति व्यवहार की जानकारी मिलती है। इसके उपभाग 10.2.1 एवं 10.2.2 में स्वयं के प्रति एवं समाज के प्रति व्यवहार के बारे में जानकारी प्रदान की गयी है।

इस इकाई के भाग 10.3 में समाजानुकूल कार्य न करने के कारण प्रायश्चित के नियम बताये गये हैं। इस इकाई के भाग 10.4 एवं 10.5 में अशौच निरुपण एवं श्राद्ध विधि के सन्दर्भ में नियमों को बताया गया है। इकाई के भाग 10.6 एवं 10.7 में पर्यावरण के प्रति एवं द्रव्य शुद्धि एवं शरीर शुद्धि निरूपण सम्बन्धी नियमों की जानकारी मिलती है।

10.2 जीव-जगत् के प्रति व्यवहार

स्मृतियों में सर्वत्र दया, प्रेम, करूणा अंहिसा, आदि मानवीय गुणों पर बल दिया गया है। यही दृष्टिकोण व्यक्ति के जीव-जगत् के व्यवहार के नियमन में भी प्रभावी दिखता है। जीवों की अकारण हिंसा तथा ताड़ना का निषेध किया गया है। इसमें जीवों पर मानव की निर्भरता भी एक प्रभावी कारक के रूप में विद्यमान रही है। इसलिए मनुस्मृति में विशेष रूप से गोधन के संरक्षण हेतु नियमों की रचना की गयी है। गाय को पवित्रतम सेवायोग्य तथा संरक्षणीय और यहाँ तक कि पूज्य पशु के रुप में प्रस्तुत किया गया है। यह उचित भी है, क्योंकि जहाँ गाय से दूध के रूप में पुष्टिकारी आहार प्राप्त होता था, वहीं बैल तात्कालिक कृषि व्यवस्था का आधार था। किन्तु गाय ही नहीं वरन कीड़े-मकोड़े तक की हत्या को अनुचित माना गया था।(25)

विभिन्न जीवों की हिंसा करने के दुष्परिणामों का भी उल्लेख किया गया है। जीव के विशिष्ट लक्षण मानव में आ जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुस्मृति के अनुसार हाथी की हत्या करने वाले के सभी कार्य निष्फल रहते हैं। ऊंट की हत्या करने वाले का स्वर विकृत हो जाता है। गधे को मारने वाला रोगी हो जाता है। हरिण के वध से लंगड़ापन होता है। बिल्ली को मारने से पीतिपाणि होता है। इसी तरह विभिन्न जीवों के वध के सन्दर्भ में प्रायश्चित्त का विधान हैं। गौ वध करने वाला उपपातकी एक मास पर्यन्त यावगू को पीवे और शिखा सहित मुंडन कराकर उसी मरी हुई गौ के चमड़े को ओढ़कर गोशाला में वास करे। जितेन्द्रिय होकर दो मास नित्य गोमूत्र में स्नान करे, तीन शाम उपवास करे, चौथी शाम को खावे। दिन में गौओं के पीछे-उनके पैर से उड़ती हुई धूलि को पीता हुआ घूमे। रात में उनकी सेवा कर और उन्हें प्रणाम

करके वीरासन से उनके पास बैठे। जो गाय रोगग्रस्त हो, चोर, व्याघ्र आदि दुष्टों के भय से भयभीत हो, गिर पड़ी हो या कीचड़ में फँसी हो उसका सब उपायों से उद्धार करे। गर्मी, वर्षा जाड़े में और जिस समय बड़ी तेजी से हवा बह रही हो, उस समय अपनी शक्ति भर गौ की रक्षा किये बिना अपनी रक्षा न करे। इस विधि से जो गौ को मारने वाला गौ की सेवा करता है, वह तीन मास में ही गोहत्या के पाप से छूट जाता है।

10.2.1 स्वयं के प्रति व्यवहार

स्मृतियों में व्यक्ति के सर्वोच्च जीवन-लक्ष्य के रूप में मोक्ष और जीवन-पद्धति के निर्धारक तत्व के रूप में धर्म को प्रस्तुत किया गया है। इनके ही अनुरूप व्यक्ति के व्यवहार का प्रतिमानीकरण भी हुआ है। मोक्ष जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति है। यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का अहं तिरोहित हो जाये और परमात्मा की सर्वव्यापकता की अनुभूति वह कर सके। इस दिशा में व्यक्ति के अग्रसर होने हेतु उसकी इन्द्रिक बर्हिमुखता पर नियन्त्रण आवश्यक माना गया है। मनु का मत है कि व्यक्ति को अतिकामी नहीं होना चाहिये।(25)

मनु कामनाहीन भी नहीं हुआ जा सकता है। अतएव वे कामनाओं के उदात्तीकरण की बात करते हैं। मनु के अनुसार वैदिक ज्ञान और कर्म ही काम्य होना चाहिए। मनु के मतानुसार व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने वाला व्यक्ति दोनों लोकों में सुख को प्राप्त करता है। मन को वश में करने से शेष दस इन्द्रियाँ स्वयं ही नियन्त्रित हो जाती हैं। कामनाओं की पूर्ति से वे शान्त नहीं होती हैं, बल्कि असन्तुष्टि और बढ़ जाती है। श्रेष्ठ व्यक्ति वह व्यक्ति है, जो इन्द्रियों को वश में कर ले। जितेन्द्रिय को खाकर, सूँघकर, स्पर्शकर हर्ष या विषाद नहीं होता है। यदि एक इन्द्रिय भी नियंत्रित हो जाये तो प्रज्ञा का नाश हो जाता है जैसे-घड़े में छेद होने से पानी बह जाता है। मनु का मत कि सुखी रहने हेतु सन्तोषी होना आवश्यक है। व्यक्ति को अभाव की स्थिति में भी अनुचित साधनों से अर्जन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए मनु का मत है कि व्यक्ति के व्यवहार की पराधीनता ही समस्त कष्टों का मूल है। अत: व्यक्ति को स्वतन्त्र आचरण करना चाहिए।

10.2.2 समाज के प्रति व्यवहार

भारतीय परम्परा में सदैव स्वार्थ पर परार्थ को वरीयता दी गयी है और परार्थ को ही परमार्थ का साधन माना गया है। स्मृतियों का तो समस्त व्यवस्थात्मक निरूपण ही कर्तव्यों पर आधारित है। व्यक्ति जो कुछ भी अर्जित करता है उसमें समाज का सहयोग होता है। अत: व्यक्ति का उतने पर अधिकार है, जितनी उसकी आवश्यकता है और शेष समाज के लिए है। इस अतिरिक्त अर्जन के पुनर्वितरण हेतु दान, अतिथि सत्कार जैसी धारणाओं को पुष्ट किया गया। मनु के अनुसार अतिथि के आगमन पर उसका आसन, जल और भोजन से सत्कार करना चाहिये। नित्य आने वाला, कई दिन तक रहने वाला या पड़ोसी अतिथि नहीं कहा। अतिथि तो वह है, जो अनायास ही आ जाये। अतिथि किसी भी समय आ जाये, उसके भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। मनु का निर्देश है कि अभाव की स्थिति में भी यथाशक्ति अतिथि-सत्कार करना चाहिए। तृण, भूमि, जल और मधुर वाणी का तो अभाव हो ही नहीं सकता। मनु ने सामाजिक व्यवहारिकता को दृष्टिगत रखते हुए कहा है कि विद्वान् (ब्राह्मण), शक्तिमान (क्षत्रिय) एवं सर्प का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। साथ ही विकलांग, मूढ़, आयु से बड़े विपन्न और कुरूप व्यक्ति के ऊपर आक्षेप का भी वे निषेध करते हैं। दैनिक जीवन में शान्ति व सहजता तथा प्राथमिक समूहों के स्तर पर सम्बन्धों की सुदृढ़ता के उद्देश्य से मनु ने क्षमाशीलता का उपदेश दिया है।(26)

10.3 प्रायश्चित्त निरूपण सम्बन्धी व्यवहार

मनुस्मृति में समाजानुकूल व्यवहार न करने के कारण मनु ने प्रायश्चित का विधान रखा है। कुछ पण्डित लोग अज्ञान से किये गये पाप का प्रायश्चित करने को कहते हैं और कुछ आचार्य ज्ञान से किये गये पाप में भी श्रुति को देखने से प्रायश्चित करने को कहते हैं।

मनु के अनुसार अन्न का चोर मन्दाग्नि रोगी, गुरू के बिना पढ़ाये पढ़ने वाला मूक (गूँगा), कपड़े का चोर-श्वेत रोगी, घोड़ों का चोर लँगड़ा होता है। इस प्रकार कर्म विशेष से सज्जनों से निन्दित जड़, गूंगे, अन्धे, बहरे और कुरूप उत्पन्न होते हैं। पाप निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

जाति श्रेष्ठता के लिए असत्य भाषण, राजा से चुगलखोरी, गुरु से असत्य कहना-ब्राह्मणहत्या के समान है।

ब्राह्मण का वध करने वाला मनुष्य अपने पाप की शुद्धि (निवृत्ति) के लिए कुटिया बनाकर उस के सिर को चिन्ह स्वरूप लेकर भिक्षान्न के भोजन को करता हुआ वचन के अनुसार मुण्डित बारह वर्षों तक वन में निवास करे। 'यह ब्रह्मघाती है, यह जानने वाले शस्त्र धारियों के बाण का स्वेच्छा से निशाना बने या जलती हुई अग्नि में नीचे शिर करके तीन बार अपने को डाले या अश्वमेघ यज्ञ करे तथा स्वर्जित गोमेध, अभिजित, विश्वजित, इनमें से कोई एक यज्ञ ब्राह्महत्या करने वाला द्विजाति करे। ब्राह्मण को धर्म का मूल तथा क्षत्रिय को धर्म का अग्रभाग कहा है। इस कारण उनके एकत्रित होने पर अपने पाप का निवेदन कर शुद्ध हो जाता है।(27)

10.4 अशौच निरुपण सम्बन्धी विचार

मनु ने अशौच निरूपण सम्बन्धी नियम विस्तृत एवं सुष्पष्ट तरीके से मनुस्मृति में उल्लिखित किए हैं।

जो प्रत्येक वर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता है, जो बिल्कुल ही माँस नहीं खाता, इन दोनों का पुण्यफल बराबर है। फल, मूल, और मुनियों के विष्यान्न खाने से वह फल नहीं मिलता है, जो केवल माँस छोड़ देने से मिलता है। माँस खाने, मद्य पीने और स्त्री-प्रसंग करने में दोष नहीं है, क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति ही ऐसी है। परन्तु उससे निवृत्त होना महाफलदायी है। दाँत निकल जाने पर और दाँत निकलने के पीछे चूड़ाकरण और उपनयन के अनन्तर बालक की मृत्यु होने पर सपिण्ड और समानोदक बान्धव अशुचि होते हैं और किसी का जन्म होने पर भी उन्हें अशौच होता है। अस्थिसंचय के पूर्व तीन दिन या एक दिन अशौच होता है। सातवें पुस्त सेपिण्डता निवृत्ति होती है। जन्म और नाम के न जानने पर समानोदक भाव निवृत्त होता है। मृताशौच सभी सपिण्डों का होता है, जनाना शौच माँ बाप को ही होता है किन्तु माता रात तक अवपित्र रहती है और पिता स्नान मात्र से ही शुद्ध होता है। इच्छा से वीर्यस्खलन कर पुरुष स्नान करने से शुद्ध होता है। बीज के सम्बन्ध से पर स्त्री में सन्तानोत्पति होने पर तीन दिन तक अशौच होता है। गुरु के मरने पर उनका विगोत्र शिष्य दाहादि क्रिया करे तो वह उनके दाहक-वाहक सपिण्डों के समान दस रात में शुद्ध होता है। सहपाठी की मृत्यु से एक दिन अशौच होता है। समानोदकों के यहाँ पुत्रजन्म होने से तीन दिन अशौच होता है।

असपिण्ड बालक के देशान्तर में मर जाने की वार्ता पाकर तुरन्त वस्त्र सहित स्नान करने से शुद्ध होता है। आचार्य के मरने पर तीन दिन अशौच कहा है किन्तु उनके पुत्र या स्त्री की मृत्यु होने पर एक अहोरात्र (एक दिन-रात) अशौच होता है शास्त्र की आज्ञा है कि मृत शूद्र को नगर के दक्षिण द्वारा से, वैश्य को पश्चिम, क्षत्रिय को उत्तर और ब्राह्मण को पूर्व द्वारा से श्मशान ले जाय। क्षमा से विद्वान्, दान से अकर्म करने वाले, जप से गुप्तपातक और तप से वेद जानने वाले शुद्ध होते हैं।(28)

ो प्रत्येक वर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता है, जो बिल्कुल ही माँस नहीं खाता, इन दोनों का ण्यफल बराबर है। फल, मूल, और मुनियों के विष्यान्न खाने से वह फल नहीं मिलता है, जो केवल ँस छोड़ देने से मिलता है। माँस खाने, मद्य पीने और स्त्री-प्रसंग करने में दोष नहीं है, क्योंकि प्राणियों ी प्रवृत्ति ही ऐसी है। परन्तु उससे निवृत्त होना महाफलदायी है। दाँत निकल जाने पर और दाँत निकलने पीछे चूड़ाकरण और उपनयन के अनन्तर बालक की मृत्यु होने पर सपिण्ड और समानोदक बान्धव शुचि होते हैं और किसी का जन्म होने पर भी उन्हें अशौच होता है। अस्थिसंचय के पूर्व तीन दिन या क दिन अशौच होता है। सातवें पुस्त सपिण्डता निवृत्ति होती है। जन्म और नाम के न जानने पर मानोदक भाव निवृत्त होता है। मृताशौच सभी सपिण्डों का होता है, जनाना शौच माँ बाप को ही होता किन्तु माता रात तक अवपित्र रहती है और पिता स्नान मात्र से ही शुद्ध होता है। इच्छा से वीर्यस्खलन र पुरुष स्नान करने से शुद्ध होता है। बीज के सम्बन्ध से पर स्त्री में सन्तानोत्पति होने पर तीन दिन तक शौच होता है। गुरु के मरने पर उनका विगोत्र शिष्य दाहादि क्रिया करे तो वह उनके दाहक-वाहक पिण्डों के समान दस रात में शुद्ध होता है। सहपाठी की मृत्यु से एक दिन अशौच होता है। समानोदकों यहाँ पुत्रजन्म होने से तीन दिन अशौच होता है।

सपिण्ड बालक के देशान्तर में मर जाने की वार्ता पाकर तुरन्त वस्त्र सहित स्नान करने से शुद्ध होता है। चार्य के मरने पर तीन दिन अशौच कहा है किन्तु उनके पुत्र या स्त्री की मृत्यु होने पर एक अहोरात्र एक दिन-रात) अशौच होता है शास्त्र की आज्ञा है कि मृत शूद्र को नगर के दक्षिण द्वारा से, वैश्य को श्चिम, क्षत्रिय को उत्तर और ब्राह्मण को पूर्व द्वारा से श्मशान ले जाय। क्षमा से विद्वान्, दान से अकर्म ने वाले, जप से गुप्तपातक और तप से वेद जानने वाले शुद्ध होते हैं।(28)

0.5 श्राद्ध विधि के सन्दर्भ में मनु के विचार

द्धकर्म उपस्थित होने पर श्राद्ध के पहले दिन या उसी दिन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त (वेद का अर्थ जानने ला, वेदवक्ता, ब्रह्मणचारी, सहस्त्रों गायों का दान करने वाला) तीन ब्राह्मणों को विनयपूर्वक निमन्त्रण श्राद्ध में निमंत्रित ब्राह्मण संयतेन्द्रिय होकर रहे। नित्य के कर्म जपादि के अतिरिक्त अन्य वेदपाठ न ।। श्राद्धकर्ता भी इस नियम का पालन करे। उन निमन्त्रित ब्राह्मणों में पितर गुप्त रूप से निवास करते हैं। गवायु की भाँति उनके चलते समय वे चलते हैं और बैठते हैं।

ण्यगर्भ के पुत्र मनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र हैं उन सब ऋषियों के पुत्र ही पितर कहे गये हैं। ब्राह्मणों को तिल और कुश से अर्ध्य देकर, उनसे आज्ञा लेकर, श्राद्धकर्ता अग्नि में मन्त्रपूर्वक होम करे। ले अग्नि, सोम, और यम के निमित्त विधिपूर्वक पर्युक्षण करके हविष्य देकर पीछे पिण्डदानादि से ारों को तृप्त करे।

ारों की तृप्ति के लिए कुशों के मूल में लेप करके उन पिण्डों को विधिपूर्वक कुशों पर रखकर अपना ा पोछ लेवें। इसके बाद आचमन कर उत्तराभिमुख तीन बार प्राणायाम करके पितरों को नमस्कार करे। ; कन्या का पुत्र ब्रह्मचारी हो तो उसे श्राद्ध में यत्नपूर्वक भोजन करावे। ब्राह्मण या भिक्षुक कोई जनार्थ उपस्थित हो तो निमन्त्रित ब्राह्मणों से आदेश पाने पर श्राद्धकर्ता उन्हें यथाशक्ति भोजन देकर कार करे।(29)

0.6 पर्यावरण के प्रति व्यवहार निरूपण सम्बन्धी विचार

नेयों का पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य अपरिग्रह पर आधारित है। सर्वत्र व्यक्ति को अपरिग्रह-अत्यावश्यक से

पण्डितों ने कहा है। सोने का बर्तन, चिन्ना कलई का जल से उत्पन्न होने वाला शंख और मूँगा आदि, पत्थरों के बने पात्र, चाँदी के सादे बर्तन केवल पानी से ही शुद्ध होते हैं।

अग्नि और जल के संयोग से सोना और चाँदी उत्पन्न होता है। इसलिए दोनों की शुद्धि अपने उत्पादक के द्वारा ही श्रेष्ठ होती है। ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और सीसा, इनकी यथायोग्य खार, खटाई और जल से शुद्धि करना चाहिए।

अन्न और वस्त्रों का ढेर स्पर्शादि दोषसे दूषित होने पर जल छिड़कने से शुद्ध होता है और थोड़ा रहे तो उनकी शुद्धि धोने से होती है। शंख और सींग, हड्डी तथा हाथी के दाँतों की शुद्धि तासी के सन निर्मित वस्त्र के समान ही है। इसमें गोमूत्र या जल का योग करना चाहिए।

झाड़ने, बुहारने, लीपने - पोतने, गोमूत्र या गंगाजल आदि छिड़कने, ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर फेंक देने और गायों को रखने से-इन पाँच प्रकार से भूमि शुद्ध होती है। धरती का जल, यदि अपवित्र वस्तुओं से मिला हुआ न हो, गन्ध, वर्ण और रस से युक्त हो और जो इतना हो कि गाय अपनी प्यास बुझा सके तो उसे शुद्ध समझना चाहिये।

माली का हाथ, बाजार में पसारकर रखे हुए पदार्थ और ब्रह्मचारियों को प्राप्त भिक्षा ये सदा शुद्ध हैं। मूल-मूत्र त्याग करने पर देह से उत्पन्न बारह मलों की शुद्धि के लिए प्रयोजन के अनुसार मिट्टी और जल लेना चाहिए। दूसरों को आचमन कराते समय पैरों पर जल के छीटें पड़े तो उन्हें भूमिष्ठ जल के समान जाने, उससे शरीर अशुद्ध नहीं होता है।(32)

10.8 सारांश

सम्पूर्ण खण्ड की यह इकाई नि:संदेह महत्वपूर्ण है, चूँकि इसके अन्तर्गत मानव के सम्पूर्ण व्यवहार सिद्धान्तों, नियमों, परिनियमों की चर्चा मिलती है। ये वे नियम हैं, जिनका परावर्तन अन्ततोगत्वा सामाजिक संरचना, एवं व्यवस्था के स्वरूप निर्धारण में होता है। मनु ने मानव के स्वयं के प्रति व्यवहार, समाज के प्रति व्यवहार, पर्यावरण के प्रति व्यवहार पर विशेष उपबन्धों की चर्चा की है। जो बिन्दु आज के समय में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के केन्द्र में हैं, उनकी सटीक परिकल्पना एवं निदान मनु ने प्रस्तावित किया था। जीव-जगत् के प्रति व्यवहार एवं श्राद्ध विधि तथा शरीर शुद्धि तथा अशौच निरूपण के नियमों की विस्तृत व्याख्या मनुस्मृति में मिलती है।

द्रव्यशुद्धि व शरीर शुद्धि के जिन नियमों की चर्चा मनु ने की है, वह मिथकीय नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक पद्धति एवं तरीकों पर आधारित है, जिसमें समाज व्यवस्था एवं उसकी उप व्यवस्थाओं को सुव्यवस्थित रखने की अपार क्षमता है।

10.9 सम्बन्धित प्रश्न

प्र०-1 पर्यावरण के प्रति व्यवहार की जो व्याख्या मनुस्मृति में मिलती है, रेखांकित करिए?

प्र०-2 द्रव्यशुद्धि सम्बन्धी व्यवहार निरुपण के नियमों का सार 15 पंक्तियों में लिखिए?

प्र०-3 समाज के प्रति जैसा व्यवहार करना चाहिये मनुस्मृति के सन्दर्भ में व्याख्या करिए?

प्र०-4 अशौच निरुपण के नियमों को बताइए ?

प्र०-5 प्रायश्चित निरुपण के नियम बताइए ?

इकाई 11 कौटिल्य, अर्थशास्त्र तथा चार विधाएं

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 कौटिल्य

11.3 अर्थशास्त्र

11.4 चार विधाएं

11.5 सारांश

11.6 सम्बन्धित प्रश्न

11.7 प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद :

- प्राचीन मनीषी कौटिल्य के विषय में वर्णन कर सकेंगे।
- प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र का उल्लेख कर सकेंगे।
- चार विधाओं की विवेचना कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आचार्य कौटिल्य, उनके अर्थशास्त्र तथा चार विधाओं के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे। आचार्य कौटिल्य का महाव्यक्तित्व एक पारंगत राजनीतिज्ञ के रूप में मौर्य साम्राज्य के विपुल यश के साथ संप्राण होकर, एक ओर तो भारत के राजनैतिक-सामाजिक इतिहास में अपनी कीर्ति-कथा को अमर बनाये है और दूसरी ओर अपनी अतुलनीय , अद्भुत कृति के कारण अपने विषय का अद्वितीय विद्वान् होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। इस इकाई के प्रारम्भ में हम आचार्य कौटिल्य पर चर्चा करेंगे।

कौटिल्य अर्थ प्रधान विचारक हैं। कौटिल्य के लिए अर्थ का अभिप्राय मनुष्यवती भूमि से है। यह अद्भुत संयोग है कि जहां कौटिल्य, धर्म प्रधान विचारक मनु के सामाजिक नियमों को अर्थशास्त्र में मान्यता देते हैं, वहीं वात्स्यायन अपने कामसूत्र का आधार अर्थशास्त्र को स्वीकार करते हैं। अर्थशास्त्र पर भी हम आगे चर्चा करेंगे।

इस इकाई के अंत में हम चार विधाओं की चर्चा करेंगे। इन विधाओं को हम ज्ञान के समाज शास्त्र से भी सम्बन्धित कर देख सकते हैं। ये विधाएँ आज भी समाज को एक वैज्ञानिक भविष्योन्मुखी दृष्टिकोण प्रदान करने में सक्षम हैं।

11.2 कौटिल्य

कौटिल्य को चाणक्य एवं विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता है। इनके पिता का नाम चणक था अत: इन्हें चाणक्य के नाम से भी जाना जाता है। अर्थशास्त्र में ऐसे संकेत मिलते हैं कि कौटिल्य ने राजा चन्द्रगुप्त

मौर्य के लिये शास्त्रों का अध्ययन और लोक-प्रचलित अनेक प्रकार के शासन सम्बंधी प्रयोगों का मनन कर शासन-विधि का निर्माण किया।[1] उन्होंने अर्थशास्त्र की बिखरी हुई सामग्री को एकत्र कर अर्थशास्त्र की रचना की। कतिपय विद्वान् यह मानते हैं कि कुटिल विचारक होने के कारण इनका नाम कौटिल्य पड़ा। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री कौटिल्य शब्द को अशुद्ध मानते हैं। उन्होंने इसके स्थान पर 'कौटल्य' शब्द का प्रयोग किया है जिसका संबंध कौटल गोत्र से है। इस गोत्र के प्रवर्तक कौटल ऋषि हैं। आचार्य विष्णु गुप्त इसी गोत्र से सम्बंधित थे।

विष्णु पुराण में प्रसंग आया है कि कौटिल्य नाम का ब्राह्मण नंदवंश का अंत करेगा और नंदवंश का अंत होने पर मौर्य नरेश पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का राजपद पर अभिषेक करेंगे।[2] इन्हीं कौटिल्य ने जो चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु तथा नंदवंश का अंत करने वाले थे, अर्थशास्त्र की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के पथ-प्रदर्शन हेतु की। विष्णु गुप्त नाम कौटिल्य को नामकरण संस्कार के समय दिया गया था। दशकुमार चरित के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक दण्डी मानते हैं कि आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्यों के निमित्त दण्डनीतिशास्त्र को छह सहस्र श्लोकयुक्त ग्रन्थ में संक्षिप्त किया।[3] अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में भी इस बात का उल्लेख है कि अर्थशास्त्र में छह सहस्र श्लोक हैं।[4] उक्त श्लोक संख्या अक्षरों की गणना से की गई है। बत्तीस अक्षरों का एक अनुष्टुप छन्द होता है। यदि इस कौटिल्यीय अर्थशास्त्र के अक्षरों को अनुष्टुप, छन्द में बाँध दिया जाय तो छह हजार श्लोक बनते हैं।

दण्डी उन विष्णुगुप्त को अर्थशास्त्र का प्रणेता मानते हैं जिन्होंने चन्द्रगुप्त को राजा बनाकर नन्दवंश को निर्मूल किया था। यह विष्णुगुप्त विष्णुपुराण और अर्थशास्त्र के कौटिल्य ही हैं। कादम्बरी ग्रन्थ के रचनाकार बाणभट्ट ने भी कौटिल्य को अर्थशास्त्र का रचनाकार माना है।[5]

शास्त्रों में मनु को धर्म प्रधान विचारक, वात्स्यायन को काम प्रधान विचारक तथा कौटिल्य को अर्थ प्रदान विचारक माना गया है। पंचतंत्र में भी इस बात का उल्लेख है—

ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि अर्थशास्त्राणि

चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि।

प्रामाणिक सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के गुरु कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता हैं। कौटिल्य के चाणक्य तथा विष्णुगुप्त लोक प्रचलित नाम हैं। प्राचीन भारत में एक व्यक्ति के कई नामों प्रचलन था। अस्तु चाणक्य, विष्णुगुप्त और कौटिल्य एक ही महान विचारक के नाम हैं, जिन्होंने 'अर्थ' सम्बंधी विचारों के ज्ञान भण्डार को समृद्ध किया।

11.3 अर्थशास्त्र

प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार की सामाजिक राजनीतिक विचारधाराएं प्रचलित थीं। ये विचारधाराएं तत्कालीन तथा भावी समाज को दिशा देने में समर्थ थीं। अर्थ प्रधान विचार के विचारकों में एकमात्र कौटिल्य ही ऐसे विचारक हैं जिनके विचार आज हमें सुलभ हैं। कौटिल्य अर्थ को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे—

अर्थ मूलौ हि धर्मकामौ।[6]

कौटिल्य के मतानुसार मनुष्य की वृत्ति (जीविका) को अर्थ कहते हैं। वह मनुष्यवती (मनुष्य से बसी हुई) भूमि को भी अर्थ मानते हैं। कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें मनुष्यवती भूमि के लाभ और उसके पालन करने से उपायों का वर्णन किया गया है।[7] मनुष्यवती भूमि को प्राप्त करने और इस भूमि निवासियों का पालन-पोषण करने के उपायों एवं साधनों का सम्यक् ज्ञान देना इस शास्त्र का उद्देश्य है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र का प्रसार मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति और उस भूमि के सम्यक् पालन करने के उपायों और साधनों तक होता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का सम्बंध मनुष्य के केवल आर्थिक जीवन तक ही सीमित नहीं है। आजकल प्रचलित विषय अर्थशास्त्र (इकोनामिक्स) उत्पादन, उपभोग और वितरण का अध्ययन करने वाला अनुशासन है। परन्तु कौटिल्य का अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के इन क्षेत्रों की सीमा से कहीं आगे तक अपना क्षेत्राधिकार स्थापित करता है। वह मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति के उपाय एवं साधन बतलाता है। उन उपायों द्वारा जनता के भरण-पोषण और वाणिज्य के साधनों की भी प्रस्तुत करता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र आधुनिक राजनीति शास्त्र, आधुनिक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को अपने क्षेत्राधिकार में मानता हैं। यह तत्कालोन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का दर्पण है।

प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र-विषयक साहित्य का निर्माण कल्पसूत्र काल में हो गया था। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र के शब्दों एवं लेखन शैली पर कल्पसूत्रों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूत्रकाल की समाप्ति (200 ई० पू०) के लगभग अर्थशास्त्र एक प्रमाणिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में आदित्य नाम के अर्थशास्त्रविद् आचार्य का उल्लेख मिलता है।[8]

समस्त पूर्ववर्ती आचार्य-परंपरा के सिद्धान्तों और उनकी वे कृतियाँ, जो कि सम्प्रति अनुपलब्ध हैं,उन सब का एक साथ निष्कर्ष हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाते हैं। कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रविद् आचार्यों का उल्लेख किया है जिनसे विचार ग्रहण कर उन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण किया था।

चित्र क
विद्या विषयक विचार

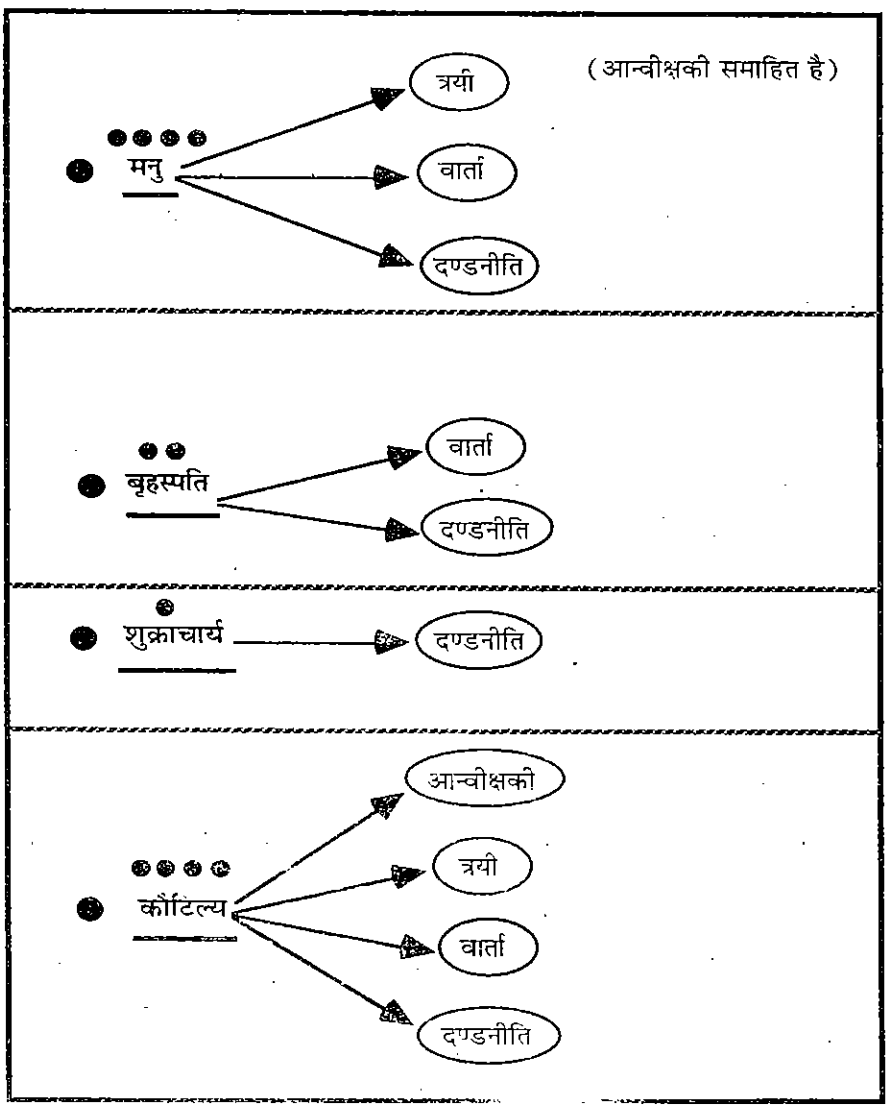

11.4 चार विधाएं

कौटिल्य तक्षशिला विश्वविद्यालय में आचार्य रह चुके थे। अत: वह जानते थे कि समाज के लिए उपयोगी विधाएं कौन सी हैं, जिनके अभाव में कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता है। कौटिल्य के अनुसार विद्या द्वारा विनय धारण करने वाला राजा ही प्रजा में विनय तथा अनुशासन की स्थापना कर सकता है। वह सर्व-लोक-हित में तत्पर रहता हुआ, शत्रु रहित होकर, पृथ्वी का भोग करता है।

कौटिल्य के अनुसार विधाएं चार हैं— आन्वीक्षकी (सूक्ष्म तत्वों का अन्वीक्षण कराने वाली, दर्शन विद्या), त्रयी (वेद विद्या), वार्ता (वृत्ति अथवा जीविका को सिखाने वाली, अर्थ विद्या) तथा दण्ड नीति (राज्य में दंड व्यवस्था रखने वाली, शासन-विद्या)।[9]

मनु के अनुयायी मानते हैं कि विधाएं तीन है—त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। आन्वीक्षिकी को वे त्रयी के अन्तर्गत मानते हैं। बृहस्पति आचार्य के मतानुयायियों की धारणा है कि विधाएं दो हैं- वार्ता तथा दण्डनीति। शुक्राचार्य के अनुगामी केवल एक ही विद्या मानते हैं-दण्डनीति। उनके अनुसार इसी में अन्य सब विधाओं का अन्तर्भाव हो जाता है।

कौटिल्य के अनुसार चार विधाओं से धर्म-अधर्म का ज्ञान हो सकता है। इन्हीं से अभ्युदय तथा नि:श्रेयस, का बोध होता है। इन्हें जाने बिना इहलोक और परलोक में उन्नति नहीं की जा सकती है। (चित्र-क) आन्वीक्षिकी समाज की भविष्य की आवश्यकताओं की व्याख्या एवं उनके समाधान प्रस्तुत करने वाला विज्ञान है। जो समाज आन्वीक्षिकी का विकास नहीं करता है अथवा विज्ञान की रूपरेखा निर्मित नहीं करता है वह समाज नष्ट हो जाता है। सांख्य, योग तथा न्याय दर्शन, आन्वीक्षिकी के मुख्य अंग हैं। यह आन्वीक्षकी विद्या सर्वदा ही सब विधाओं का प्रदीप, सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गयी है।[10]सांख्य, योग और लोकायत (नास्तिक दर्शन) ये अन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं।

त्रयी में धर्म तथा अधर्म की व्यवस्था है। वार्ता में धन तथा धनागम के साधनों की चर्चा है। दण्डनीति में राजनीति का वर्णन है। इनमें आन्वीक्षिकी सब विद्याओं की दीपक, सब कार्यों की साधक तथा सब धर्मों की सर्वदा आश्रयभूत मानी जाती है। यह तर्कशक्ति, वाक्यचातुरी, बुद्धिमत्ता एवं क्रिया-कुशलता को उत्पन्न करती है।

ऋक्, साम, तथा यजुर्वेद-इन तीन वेदों को त्रयी विद्या करते हैं।[11] शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष- ये वेद के छह अंग हैं। कौटिल्य के अनुसार इन वेदों से समाज की सांस्कृतिक मूल्य परम्परा स्थापित होती है। किसी भी कार्य अथवा नियम के निर्माण के समय करणीय अथवा अकरणीय का प्रश्न अथवा औचित्य का प्रश्न खड़ा हो जाता है, जिसका समाधान त्रयी के माध्यम से किया जा सकता है। कौटिल्य को मतानुसार उचित, अनुचित के विवेचन का सन्दर्भ वेदों से लेना चाहिए।

वेद चारों वर्णों और आश्रम के धर्म का प्रतिपादन करते हैं। ब्राह्मण का अपना धर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना और लेना है क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यजन, शस्त्र से जीविका करना तथा प्रजा की रक्षा करना है। वैश्य का धर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य है। शूद्र का धर्म द्विज जाति-सेवा, कृषि, पशुपालन तथा शिल्प है।

गृहस्थ का कार्य धर्मानुसार जीवकोपार्जन करना, तुल्य तथा भिन्न गोत्र की स्त्री से विवाह कर ऋणों से मुक्त होकर पुरुषार्थों को प्राप्त करना है। गृहस्थ आश्रम को त्रयी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित रूप से स्वाधाय करे; अग्निहोत्र रचे; नित्य स्नान करे; भिक्षाटन करे।

वानप्रस्थी का धर्म है कि ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए जीवन यापन करे व भूमि पर शयन करे; जटा, मृगचर्म को धारण किये रहे, अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करे; देव, पितर तथा अतिथियों की सेवा-पूजा करते हुए वन के कन्द-मूल-फल पर सादगी पूर्णजीवन निर्वाहन करे।

न्यासी का धर्म भी इसी प्रकार है— जितेन्द्रिय होना, वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे; निष्किंचन
ना रहे; एकाकी रहे; मात्र प्राण की रक्षा हेतु ही स्वल्प आहार करे; सामाजिक कार्यों से दूर रहे अर्थात्
माज में न रहे; जंगल में भी वह एक ही स्थान पर न रहता रहो, मन, वाणी, कर्म से स्वयं को आन्तरिक
वं बाह्य रूप से पवित्र एवं शुद्ध बनाए रखे।

त्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रम का यह धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे; सदा सत्य बोले;
चिता बनाये रहे; किसी से ईष्यालु आचरण न करे; दयावान् और क्षमावान् बना रहे।

ौटिल्य के अनुसार राजा को चाहिये कि वह सब पापियों को स्वधर्म में प्रेरित करे। वर्ण तथा आश्रम की
ापना करे और आर्य-मर्यादाओं को नष्ट न होने दे।

षि, पशुपालन और व्यापार- ये वार्ता के अन्तर्गत आते हैं।[12]धान्य, सुवर्ण, ताम्रादि धातु एवं सेवकों की
ि कराने के कारण यह वार्ता नामक विद्या संसार का उपकार करने वाली है। इसी वार्ता की सहायता से
ा अपना कोश भरता है और शत्रुओं को दण्ड द्वारा वश में रखने में समर्थ होता है। दण्ड व्यवस्था से ही
न्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ता की समृद्धि होती है। कौटिल्य का दण्ड अनेकार्थी है और साथ ही शासन तंत्र
अमूर्त स्वरूप भी है। एक ओर यह दण्ड-संहिता का तात्पर्य देता है तो दूसरी ओर शासन को अमूर्त
क्ति के रूप में स्थापित करता है। वास्तविक शासक राजा नहीं दंड होता है।

टिल्य के अनुसार राजा मनुष्य होने के कारण सीमित क्षमता वाला व्यक्ति होता है। जो खण्ड और सुप्त
सकता है परन्तु दण्ड नहीं। राजा केवल संचालक होता है शासक नहीं। भली-भांति सोच विचार कर
क्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है। काम-क्रोध के वशीभूत होकर अज्ञानतापूर्वक
ुचित रीति से प्रयुक्त किया हुआ दण्ड वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित
देता है; फिर गृहस्थ लोगों पर ऐसे दण्ड की क्या प्रतिक्रिया होगी विचार ही नहीं किया जा सकता है।
के विपरीत यदि दण्ड से व्यवस्था सर्वथा ही तोड़ दी जाय तो उसका कुप्रभाव यह होगा कि जिस
ार छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, उसी प्रकार बलशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्ति का समाज में
ा ही दुष्कर कर देगा। दण्ड व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र ही अराजकता का साम्राज्य हो जाता है और
क्तिहीन को शक्तिशाली प्रताड़ित करने लगता है; किन्तु दण्डधारी राजा से रक्षित निर्बल भी बलवान् रहता
।[13]

दण्ड नीति ही अप्राप्त धन को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त धन की रक्षा करने वाली और रक्षित धन की
द्धि कराने वाली है। कौटिल्य ने दण्ड की व्याख्या के साथ ही इसकी व्यावहारिक समीक्षा की है।
तेकारों में दण्ड को लेकर मतभेद रहा है। कुछ कठोर शासन के पक्षधर थे जबकि दूसरे मृदु को उचित
ते थे। कौटिल्य का मत है कि उपयुक्त दण्ड ही समीचीन कहा जा सकता है। कौटिल्य का कथन है
तीक्ष्ण दण्ड देने वाला राजा प्रजा में अप्रिय हो जाता है। जो राजा नर्म दण्ड देता है उसे प्रजा दबा लेती
अतः राजा के लिए उचित है कि वह यथायोग्य दण्ड का प्रयोग करे। यदि सोच समझकर दण्ड का
ग किया जाय तो वह प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि प्रदान करता है। राग, द्वेष, अथवा
ान से प्रयोग किया हुआ दण्ड विरक्त व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है। अतः राजा यथायोग्य दण्ड
व्यवहार करे ऐसा करने से सब लोग स्वधर्म तथा स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए अपने-अपने मार्ग पर
ा रहते हैं।[14]

1.5 सारांश

इकाई के प्रारंभ में हमने कौटिल्य तथा अर्थशास्त्र के संदर्भ में चर्चा की है। इसके पश्चात् चार
ाओं के विषय में समझने का प्रयास किया है। कौटिल्य के लिए अर्थ का अभिप्राय है मनुष्यों की

बस्ती, अर्थात् वह प्रदेश जिसमें मनुष्य बसते हों। अर्थशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो।

कौटिल्य चार विधाओं आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति को महत्वपूर्ण मानते हैं। आन्वीक्षिकी समाज की भविष्य की आवश्यकताओं की व्याख्या एवं इनके समाधान प्रस्तुत करने वाला विज्ञान है। तीन वेदों को त्रयी कहा गया है। वार्ता में धन तथा धनागम के साधनों की चर्चा है। कौटिल्य के अनुसार वास्तविक शासक राजा नहीं दंड होता है। इस प्रकार इस इकाई में हमने कौटिल्य, अर्थशास्त्र तथा चार विधाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया है।

11.6 सम्बन्धित प्रश्न

11.6.1(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) कौटिल्य के अनुसार 'अर्थ' क्या है –

(i) धन (ii) अभिप्राय (iii) कोश की सम्पति (iv) मनुष्यवती भूमि

(2) कौटिल्य के अनुसार 'अर्थ शास्त्र' है–

(i) उत्पादन के सम्बंधित विज्ञान (ii) उपभोग से सम्बंधित विज्ञान

(iii) वह शास्त्र जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन में उपायों का वर्णन हो

(iv) राज्य के आय-व्यय के सम्बन्धित विज्ञान

(3) कौटिल्य किस विचारधारा के चिन्तक हैं —

(i) अर्थ प्रधान (ii) कांम प्रधान

(iii) धर्म प्रधान (iv) मोक्ष प्रधान

(4) त्रयी विद्या का सम्बंध है —

(i) तीन द्विज वर्णों से (ii) तीन गुणों से

(iii) तीन पुरुषार्थों से (iv) तीन वेदों से

(5) कौटिल्य के अनुसार वास्तविक शासक कौन हैं—

(i) राजा (ii) प्रजा (iii) दण्ड (iv) अमात्य

11.6.2(ब) बोध प्रश्न

निम्न प्रश्नों का उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए —

(1) कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु के सन्दर्भ में आपके क्या विचार हैं ?

(2) कौटिल्य के अनुसार चार विधाएं क्या है ?

(3) आन्वीक्षिकी से आप क्या समझते हैं ?

(4) त्रयी विद्या से आप क्या समझते हैं ?

11.7 प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

(1) मनुष्यवती भूमि (iv)

(2) वह शास्त्र जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो (iii)

(3) अर्थ प्रधान (i)

(4) तीन वेदों से (iv)

(5) दण्ड (iii)

इकाई 12 : कौटिल्य के राज्य विषयक विचार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राज्य की उत्पत्ति

12.3 राज्य सत्ता की सात प्राकृतियों के गुण

12.3.1 स्वामी (राजा) के गुण

12.3.1.1 राज्य का उत्तराधिकार

12.3.2 अमात्य, जनपद तथा दुर्ग के गुण

12.3.2.1 अमात्य के गुण

12.3.2.2 जनपद के गुण

12.3.2.3 दुर्ग के गुण

12.3.3 कोष, दंड तथा मित्र के गुण

12.3.3.1 कोष के गुण

12.3.3.2 दंड (सेना) के गुण

12.3.3.3 मित्र के गुण

12.4 मंत्रि परिषद्

12.5 मंत्रिमंडल

12.6 सारांश

12.7 बोध प्रश्न

12.8 प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

स इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचारों की विवेचना कर सकेंगे।
- राज्य सत्ता की सात प्रकृतियों के गुणों का उल्लेख कर सकेंगे।
- मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमंडल के विषय में कौटिल्य के विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

स्तुत इकाई में हम कौटिल्य के राज्य विषयक विचारों का अध्ययन करेंगे। राज्य के संदर्भ में कौटिल्य ा ज्ञान शास्त्रीय तथा आनुभाविक दोनों रूपों में पूर्ण था। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों ं राज्य के अनेक पक्षों के सन्दर्भ में विचारों का वर्णन किया है। साथ ही मगध के व्यावहारिक अनु त्र

भी चाणक्य को प्रभावित करते हैं। कौटिल्य के राज्य सम्बंधी विचार कल्पना नहीं हैं बल्कि इनका व्यावहारिक आधार अत्यंत पुष्ट है।

इस इकाई के प्रारंभ में कौटिल्य के राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचारों पर हम चर्चा करेंगे। इसके पश्चात् हम राज्य सत्ता की सात प्राकृतियों स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड तथा मित्र के गुणों की चर्चा करेंगे जिनका विवेचन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के मण्डल योनि अधिकरण में किया है।

प्राचीन भारत में राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से मंत्रिपरिषद् का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य यद्यपि एक राज्य शासन प्रणाली का समर्थक है, जिसमें एकमात्र राजा ही कर्ता-धर्ता होता है, किन्तु मंत्रिपरिषद् की अनिवार्यता को उन्होंने स्वीकार किया है। मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमण्डल की चर्चा कौटिल्य ने विनयाधिकरण के मंत्राधिकार अध्याय में की है। इसका अध्ययन हम इस इकाई के अंत में करेंगे।

12.2 राज्य की उत्पति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के एक सिद्धान्त समाज-अनुबंधवाद की ओर संकेत किया है। कौटिल्य ने इस संबंध में एक प्रसंग में अपना मत इस प्रकार व्यक्ति किया—पूर्व काल में एक ऐसा युग था जब प्राणियों में मात्स्य न्याय का प्राबल्य था। जल में जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी और निर्बल मछलियों को निरन्तर नष्ट करती रहती हैं, उसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्यों के नाश में निरन्तर संलग्न रहते थे। इस मात्स्यन्याय से दुखी मनुष्यों ने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। उन लोगों ने अन्न की उपज का छठवाँ भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और हिरण्य की आय का कुछ भाग (कर रूप में) राजा के लिए देने का निश्चय किया। परन्तु इन लोगों ने उसी समय यह भी स्पष्ट कह दिया कि इस भाग (कर द्वारा प्राप्त धन धान्य) का अधिकारी वही राजा होगा जो उस धन-धान्य से प्रजा के योग-क्षेम की समुचित व्यवस्था करता रहेगा।

अर्थशास्त्र में आये हुए उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि आदि काल में एक ऐसा युग था जब राजा एवं राज्य -व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ था। वह युग मानव की बर्बरता की अवस्था थी। मानव अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु दूसरे के अहित एवं नाश में संलग्न था। मानव जीवन अत्यधिक कष्टप्रद, शोषित एवं असुरक्षित अर्थात् पशुवत था। सँबल प्राणी निर्बल प्राणियों का नाश करते थे। इस प्रकार कौटिल्य के प्राकृत युग के लक्षण लगभग वही हैं जो भीष्म के प्राकृत युग में उस समय उत्पन्न हो गये थे जब मनुष्य में आसुरी प्रवृत्तियां जाग्रत अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं। ये लक्षण लगभग वहीं हैं जो इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हाब्स के प्राकृत युग में बतलाये गये हैं।

प्राकृत युग में मनुष्य अत्यधिक दु:खी एवं असहाय था और जीवन की इस अवस्था से मुक्ति के लिए विह्वल था। इस परिस्थिति में लोगों ने यह विचार किया कि कोई ऐसा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति होना चाहिए जो उनके समाज से मतस्यन्याय की प्रवृत्ति का दमन कर न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था स्थापित कर सके। इसलिए उन्होंने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। इस प्रकार मनुष्य ने प्राकृत अवस्था को त्याग कर राजनीतिक व्यवस्था के अधीन रहना स्वीकार किया। इस प्रकार से राजा और राज्य का निर्माण हुआ।

कौटिल्य ने, इस प्रकार राजा एवं राज्यवस्था के निर्माण में समाज अनुबंधवाद सिद्धान्त का आश्रय लिया है जिसका स्वरूप अधिक अंश तक वही है जैसा कि भीष्म ने वर्णन किया है और जो महाभारत के शान्तिपर्व में दिया गया है। परन्तु कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त में एक नवीनता है जो इस युग में जनतांत्रिक राज्यों में विशेष रूप से पायी जाती है और वह है लोक वित्त पर जनता का अधिकार। इस सिद्धान्त के अनुसर प्रजा की पूर्व अनुमति के बिना उस पर कर लगाने, तत्संबंधी धनसंचय करने और उसका व्यय

रने का निषेध किया गया है। इस प्रकार प्रजा ने इस वित्तीय अधिकार को अपने अधीन सुरक्षित कर जा की निरंकुशता पर बहुत बड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

2.3 राज्य - सत्ता की सात प्रकृतियों के गुण

नु और भीष्म के अनुसार ही कौटिल्य ने भी राज्य का आवयविक स्वरूप माना है। इन्होंने राज्य को सप्त-कृति-युक्त माना है। राज्य की यह सात प्रकृतियां स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड सेना) और मित्र हैं।[15] कौटिल्य ने इन प्रकृतियों को राज्य के अवयव कहकर सम्बोधित किया है। परन्तु समें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य का आवयविक स्वरूप नितान्त भारतीय । इसका उद्गम - क्षेत्र ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। कौटिल्य ने मण्डल योनि नामक छठे अधिकरण में सात कृतियों के गुणों की चर्चा प्रकृति सम्पद: नामक प्रकरण में की है।

2.3.1 स्वामी (राजा) के गुण

ौटिल्य की धारणा है कि मनुष्य एवं उसके समाज का परम कल्याण वर्णाश्रम धर्म की स्थापना और उसके विधिवत् पालन में निहित है। इस व्यवस्था के द्वारा निर्धारित स्वधर्म का पालन करने से मनुष्य आनन्द पूर्वक इस जीवन-लीला को पूर्ण करता हुआ मृत्यु के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष को जीवन का ध्येय माना गया है। परन्तु मनुष्य के स्वधर्मपालन के मार्ग में उसकी आसुरी वृत्तियाँ जिन्हें ौटिल्य ने षड्वर्ग के नाम से सम्बोधित किया है बाधक होती हैं और उसे धर्ममार्ग से विचलित करती ती हैं। इससे अराजकता तथा अव्यवस्था की स्थापना होती है। मनुष्य का उसके इस पतन से उद्धार रने के लिए दण्ड और दण्ड प्रयोग के नियमों का निर्माण किया जाता है। वर्णाश्रम के अनुसार स्वधर्म के यमों का उल्लंघन करने वाले को उसके दोष की मात्रा के अनुरूप दण्ड देकर धर्म-पथ पर चलने के ए एक विशेष सत्ता के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गयी। यह सत्ता राजा और उसका पद नपद कहलाये। इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा राज्य की कार्य-पालिका का सर्वोच्च अधिकारी वह दण्ड का प्रतीक हैं और अपने अधीन प्रजा के कल्याण के निमित्त दण्ड धारण करता है। और र्धारित नियमों के अनुसार उसका प्रयोग करता है। इन नियमों का न तो वह निर्माता ही है और न उनमें ोधन, परिवर्धन अथवा उनका लोप करने का ही अधिकारी है। इसके अतिरिक्त राजा अपने अधीन प्रजा लिये आदर्श चरित्र की मूर्ति है। उसका आचरण उसकी प्रजा के लिये अनुकरणीय एवं प्रेरणा और साह का साधन माना गया है। राजा अपनी प्रजा का परम हितू है। उसकी समस्त क्रिया अपनी प्रजा के ल्याण हेतु होती है। प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण माना गया है।

प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा दण्डधारी यम है जो अपने अधीन प्रजा में, निर्धारित नियमों के नुसार, दण्ड प्रयोग कर उसे स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करता है। वह सदाचार की साक्षात् मूर्ति झा जाता है। अपनी प्रजा के मध्य आदर्श पुरुष बनकर उसमें आदर्श चरित्र की प्राप्ति के लिये प्रेरणा का क करता है एवं उसका उत्साहवर्धन करता है। इसीलिये कौटिल्य ने राजा के निमित्त कुछ ऐसे गुणों व यताओं का निर्धारण किया है जिनकी प्राप्ति राजा को राज पद के योग्य बनाती है। कौटिल्य इन गुणों योग्यताओं को आत्मसम्पद् अथवा स्वामिसम्पद् के नाम से सम्बोधित करते हैं। व व्यवस्था देते हैं कि ा को इन योग्यताओं व गुणों को धारण करना चाहिए। आत्मसम्पद् अथवा स्वामिसम्पद् के अन्तर्गत ीरिक, आत्मिक, मानसिक, एवं बौद्धिक उन योग्यताओं एवं गुणों का उल्लेख किया है जो आदर्श राजा लिये वांछनीय हैं। ऐसा बहुधा देखा गया है कि राजा अपने समय का दुरुपयोग करने के कारण अपने व्यों का पालन करने में प्रमादी और प्राय: व्यसन ग्रस्त भी हो जाते हैं। संभव है कि इसी कारण टिल्य ने राजा की दिनचर्या निर्धारित कर यह व्यवस्था दी है कि राजा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार

इस दिनचर्या के अनुकूल अपना दैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिए।

12.3.2.1 राज्य का उत्तराधिकार

राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके मत से सामान्यत: शासन करने वाले राजा के ज्योष्ठ पुत्र को राजपद का अधिकारी मानना चाहिए। परन्तु वह तभी राजपद का अधिकारी है जब राजोचित गुणों एवं योग्यताओं को धारण करे। इन गुणों एवं योग्ताओं के अभाव में राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकार से च्युत समझा जाएगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं- ''राजा की मृत्यु हो जाने पर जो राजकुमार उत्तम गुणों से सम्पन्न हो, उसको ही रिक्त पद देना चाहिए। यदि राजकुमार राजाओं के लिये जो निर्धारित गुण है, उनसे सम्पन्न है तो उस राजकुमार को सेनापति अथवा युवराज पद पर नियुक्त कर देना चाहिए।'' इस दृष्टि से कौटिल्य ने राजकुमारों को बुद्धिमान, आहार्यबुद्धि और दुर्बुद्धि इन तीन श्रेणियों में परिगणित किया। जो राजकुमार सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा को विधिवत् ग्रहण कर लेता है और उसका आचरण भी करता है, वह बुद्धिमान, कहलाता है। जो धर्म और अर्थ को समझ लेता है, परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करता, वह आहार्यबुद्धि राजकुमार कहलाता है। परन्तु जो राजकुमार नित्य विपत्ति लाने के उपाय सोचा करता है और धर्म और अर्थ के विरुद्ध आचरण करता है, वह दुर्बुद्धि होता है। कौटिल्य ने दुर्बुद्धि राजकुमार को राजपद देने का निषेध किया है। प्रथम दो प्रकार के राजकुमारों में सर्वप्रथम बुद्धिमान को और उसके अभाव में आहार्य बुद्धि को राज्याधिकार प्राप्त है। यदि राजा का दुर्बुद्धि मात्र ही राजकुमार हो तो ऐसी परिस्थिति में उसके योग्य पुत्र को वह अधिकार प्राप्त हो सकेगा। इसके अभाव में राजा की पुत्री के योग्य पुत्र को अधिकार प्राप्त होगा।

इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा के गुणवान एवं योग्य राजकुमार को ही राज्याधिकार प्राप्त है, ऐसे पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को राज्याधिकार प्राप्त है।

कौटिल्य ने राजकन्या और राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी माना है, वह व्यवस्था देते हैं-राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राजपद के लिये अभिषिक्त करना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य उत्तराधिकारी की सीमा का विस्तार राजवंश की स्त्रियों तक करते हैं।

राजा के पुत्र, पौत्र अथवा पुत्री का पुत्र नहीं हो तो ऐसी परिस्थिति में कौटिल्य राज्य का शासन, राजवंश के संरक्षण में रखना उचित समझते हैं। इस विषय में वह अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं-''कुल संरक्षित राज्य का शत्रु द्वारा जीता जाना अति कठिन होता है। इस राज्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होने पाती। राज्य-व्यवस्था विधवत् चलती रहती है।

कौटिल्य ने रक्त की शुद्धता पर विशेष बल दिया है उनके मतानुसार राजा का वह पुत्र, जो राजा की जाति में उत्पन्न नहीं हुआ है, राजा की वास्तविक सन्तति नहीं है। इस आधार पर वह राजा के इस पुत्र को राज्याधिकारी नहीं मानते। राजा का यह पुत्र मंत्रणा देने मात्र का अधिकारी माना गया है।

इस प्रकार उत्तराधिकार प्रश्न पर कौटिल्य के जो विचार हैं, उनका संक्षिप्त रूप यह है--राज्य का सर्वप्रथम अधिकारी राजा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है। उसके अभाव में राजा के अन्य योग्य राजकुमार को यह अधिकार प्राप्त है। इस राजकुमार के अभाव में, राजकुमार के योग्य पुत्र अथवा राजा की पुत्री के पुत्र को राजपद का अधिकारी समझा गया है। इनके अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राज्याधिकारी बतलाया गया है। यदि इनका भी अभाव हो तो राजकुल के संरक्षण में राज्य का शासन होना चाहिए। राज्य का अकुलीन पुत्र चाहे कितना भी योग्य क्यों न हो, राज्याधिकार से बहिष्कृत माना गया है.

केवल मंत्रणा दोने का अधिकार दिया गया है।

!.3.2 अमात्य, जनपद तथा दुर्ग के गुण

.3.2.1 *अमात्य के गुण*

टेल्य ने विनयाधिकरण (अर्थशास्त्र के एक अधिकरण के प्रकरण 3) में अमात्यों की नियुक्ति की चर्चा है। आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकरण में आचार्य भारद्वाज, आचार्य विशालाक्ष, आचार्य पाराशर, आचार्य गपदन्त तथा आचार्य वातव्याधि के अमात्य के सन्दर्भ में विचारों का परीक्षण किया है। आचार्य भारद्वाज अभिमत है कि राजा को अपने सहपाठियों को अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहिए, जबकि आचार्य ालाक्ष उन लोगों को अमात्य बनाने के लिए पैरवी करते हैं जो गुप्तकार्यों में राजा का साथ देते रहे हों।

ार्य पाराशर तथा आचार्य पिशुन आपत्तियों में साथ देने वाले को अमात्य नियुक्त करने के लिए शित करते हैं। जबकि आचार्य कौणपदन्त और आचार्य बाहुदन्तीपुत्र अमात्यपद को वंशानुगत मानते आचार्य कौटिल्य के मतानुसार भारद्वाज से लेकर बाहुदन्तीपुत्र तक भी विचार-परम्परा अपने-अपने न पर ठीक है। किसी भी राजा के लिए आवश्यक है कि वह विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, त और पात्र का विचार कर अमात्यों की नियुक्ति करे।[16]

.3.2.2 *जनपद के गुण*

टेल्य के अनुसार जनपद की स्थापना ऐसी होनी चाहिए कि जिसके बीच में तथा सीमान्तों में किले बने जिसमें यथेष्ट अन्न पैदा होता हो, जिसमें विपत्ति के समय वनपर्वतों के द्वारा आत्मरक्षा की जा सके। द में शत्रुराजा के विरोधियों की संख्या अधिक होनी चाहिए तथा उसके पास के राजा दुर्बल होने इए। उस स्थान को नदी-तालाबों से सज्जित होना चाहिए, उसमें खेती, खान तथा हाथियों के जंगल चाहिए, ऐसे स्थान में मेहनती किसान तथा समझदार मालिक होने चाहिए। जनपद में बहुमूल्य ुओं का विक्रय होना चाहिए जो कर को सहन कर सकें। यहाँ के लोग शुद्ध स्वभाव वाले होने इए। कौटिल्य के अनुसार इन गुणों से युक्त जनपद सम्पन्न कहा जाता है।[17]

.3.2.3 *दुर्ग के गुण*

टेल्य के अनुसार जनपद सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा को युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण ना चाहिए। दुर्ग चार प्रकार के होते हैं— 1. औदक, 2. पार्वत, 3. धान्वन और 4. वनदुर्ग। चारों पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थल-प्रदेश औदकदुर्ग कहलाता है, बड़ी-चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग पार्वतदुर्ग कहलाता है। जल तथा घास द से रहित अथवा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वनदुर्ग कहलाता है। चारों ओर काँटेदार सघन झाड़ियों रिवृत दुर्ग वनदुर्ग कहताला है। औदक तथा पार्वत दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में जाते हैं। धान्वन और नवदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं।[18]

.3.3 कोष, दण्ड एवं मित्र के गुण

3.3.1 कोष के गुण

टेल्य के अनुसार राजकोष ऐसा होना चाहिए जिसमें पूर्वजों की तथा अपनी धर्म की कमाई संचित हो, प्रकार जो धन-धान्य, सुवर्ण, चाँदी और नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से भरा हो। राजकोष को त्ति एवं दुर्भिक्ष के समय सारी प्रजा की रक्षा में समर्थ होना चाहिए।[19]

3.3.2 दण्ड (सेना) के गुण

टेल्य के अनुसार सेना ऐसी होनी चाहिए जिसमें वंशानुगत स्थायी तथा वश में रहने वाले सैनिक भर्ती सेना को युद्ध के समय आवश्यक सामग्री परिपूर्ण होने लायक होना चाहिए । सेना में ऐसे सैनिक

होने चाहिए जो कहीं भी हार न खाते हो, दुख को सहने वाले हों, युद्ध कौशल से परिचित हों, राजा के लाभ तथा हानि में हिस्सेदार हों। इन गुणों से युक्त सेना दण्ड सम्पन्न कहीं जाती है।[20]

12.3.3.3 मित्र के गुण

मित्र ऐसे होने चाहिए जो वंश परम्परागत हों, स्थायी हो, अपने वश में रह सकें, जिनसे विरोध की संभावना न हो। मित्र प्रभु-मंत्र, उत्साह आदि शक्तियों से युक्त होने चाहिए जो समय आने पर सहायता कर सकें।

12.4 मंत्रिपरिषद्

कौटिल्य का मत है कि प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ तद्विषयक मंत्र निर्णय के उपरान्त होना चाहिए। राज्य में विविध विषयक कार्य होते हैं और उसी प्रकार मंत्रणा के भी विविध विषय होते हैं। परन्तु वास्तविक मंत्र निर्णय, एक व्यक्ति द्वारा चाहे वह मंत्र-निर्णय में जितना कुशल क्यों न हो, संभव नहीं है। इसलिए मंत्र-निर्णय में विविध विषयों के ज्ञाता अनेक पुरुषों से परामर्श लेने की आवश्यकता होती है। इसलिये राजा के समीप कुछ ऐसे विशेष योग्य व्यक्ति होने चाहिए, जो शासन सम्बन्धी समस्याओं के वास्तविक मंत्र-निर्णय में राजा को पूर्ण सहयोग दे सकें और उसे आवश्यकतानुसार समय-समय पर सत्परामर्श से लाभान्वित करते रहें। इस हेतु राज्य में मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता व्यक्त की गयी है।

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता के विषय में दूसरा हेतु यह दिया गया है कि आमात्यगण कर्तव्य-पालन में प्रमादी होने से राजा की रक्षा करते हैं। इस विषय में कौटिल्य ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं- अमात्य गण समय-विभाग रूपी चाबुक से प्रमादग्रस्त राजा को सावधान करते हैं। मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता एवं उपयोगिता की पुष्टि में कौटिल्य ने एक और हेतु दिया है और वह यह है कि अमात्यगण विपत्ति से राजा की रक्षा करते हैं। इसलिये राज्य को अनेक प्रकार की विपदाओं से बचाने के लिए मंत्रिपरिषद् परम आवश्यक है।

कौटिल्य राज्य को दो पहिये वाली गाड़ी मानते हैं। इस गाड़ी के दो पहिये राजा और उसके मंत्री हैं। गाड़ी एक पहिये के सहारे चल नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार राज्य का विधिवत् संचालन केवल राजा के सहारे नहीं किया जा सकता। इस प्रकार राज्य के सुसंचालन के लिये मंत्रि परिषद् की अनिवार्यता सिद्ध की गयी है।

कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद के सदस्यों को सामान्यतः आमात्य नाम से सम्बोधित किया है। इन अमात्यों में कुछ विशिष्ट सदस्य भी बतलाए गये हैं, जिन्हें राजा को मंत्रणा देने का अधिकार दिया गया है। ये मंत्री कितने होने चाहिए, इस विषय पर कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्ति किया है कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा लेनी चाहिए। राजा को समय, परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार मंत्रियों को रखना चाहिए।[22]

परन्तु इतने मात्र से यह ज्ञात नहीं होता कि कौटिल्य मंत्रिपरिषद् में कितने सदस्यों को रखना उचित समझते हैं। उन्होंने अपने से पूर्व के कतिपय आचार्यों के मत मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के विषय में उद्धृत किए हैं। मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में मनु के मतानुयायियों का ऐसा मत है कि मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्य होने चाहिए। बृहस्पति के अनुयायियों के अनुसार राजा की मंत्र-परिषद् में सोलह सदस्य होने चाहिए। इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि सदस्य थे। ये एक सहस्र ऋषि इन्द्र की आँखे माने गए हैं। यही कारण है कि इन्द्र के दो ही आंखे होने पर भी वह लोक में सहस्राक्ष कहलाते हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारत के राजशास्त्र-विचारकों में मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में एक मत नहीं है।

ौटिल्य के मतानुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं है। वह मंत्रिपरिषद् की दस्यता के लिए कतिपय विशेष योग्यताएँ निर्धारित करते हैं। इन योग्यताओं का समुच्चय अमात्य सम्पद् ा नाम से संबोधित किया गया है। वे योग्यताएँ इस प्रकार बतलायी गयी हैं।

पने ही जनपद और उत्तम कुल में उत्पन्न, उत्तम बन्धु-बान्धवों से सम्पन्न, शिल्प-विद्या में कुशल, तीव्र, ष्टियुक्त, विद्वान, स्मृतिवान चतुरवक्ता, प्रगल्भ, कुशल प्रबन्धक, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहन करने समर्थ, पवित्र स्नेही, दृढ़ भक्तियुक्त, शील, बल, आरोग्य तथा सत्वसम्पन्न, जड़ता तथा चपलता रहित, र्वप्रिय होना एवं व्यर्थ बैर न करना अमात्य की सम्पदा है। अर्थात् मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु ये गुण वं योग्तयताएँ वांछनीय मानी गयी हैं।

ौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को उनके गुण एवं योग्यताओं के आधार पर, तीन श्रेणियों में विभक्त या है। जिन सदस्यों में ये समस्त गुण एवं योग्यताएँ विद्यमान होती हैं, वे उत्तम अमात्य होते हैं। जिनमें ा गुणों एवं योग्यताओं के एक चौथाई अंश का अभाव होता है, वे मध्यम और जिसमें उनका अर्ध अंश होता है, वे क्षुद्र अमात्य कोटि में समझे जाना चाहिए।

र्थशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के विषय में जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद् में एक ध्यक्ष होता था। मंत्रिपरिषद् की बैठकें इसी अध्यक्ष की देखरेख में होती थी।.यह अध्यक्ष राजा नहीं ता था। राजा का सम्बन्ध मंत्रियों से रहता था। सामान्यत: मंत्रिपरिषद की बैठकें स्वतन्त्र रूप में त्रिपरिषद् के अध्यक्ष के अधीन होती थी। कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष का पद बड़े महत्व का ना है। राज्य के अट्ठारह तीर्थों में मंत्रि परिषद् के अध्यक्ष को भी स्थान दिया गया है।

त्रिपरिषद् में निर्णय बहुमत से होते थे। इस विषय में कौटिल्य का मत है कि अति आवश्यक कार्य के ास्थित होने पर राजा को मंत्रिपरिषद् बुलानी चाहिए। मंत्रिपरिषद् की इस बैठक में जिस विषय की पुष्टि ुमत द्वारा होती हो उसी निर्णय के कार्यान्वित करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।''

2.5 मंत्रिमंडल

ा-सम्वरण एवं मंत्र-संरक्षण की समस्या राजा के समक्ष अत्यन्त जटिल होती है। मंत्रिपरिषद् के समस्त स्यों से परामर्श एवं मंत्रणा लेने के पक्ष में कौटिल्य नहीं जान पड़ते। इस कार्य के लिये वह मंत्रिपरिषद् समस्त सदस्यों में तीन अथवा चार सर्वश्रेष्ठ सदस्यों को अलग कर लेना उचित समझते हैं। इन्हीं तीन ावा चार सदस्यों को कौटिल्य राजा के मंत्री मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि मंत्रिपरिषद् सभी सदस्य राजा के मंत्री नहीं बनाये जा सकते हैं। इसकी पुष्टि में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते - अमात्योचित गुण, देश, काल और कर्म को देखकर राजा किसी भी पुरुष को अमात्य पद पर नियुक्त सकता है, परन्तु मंत्रिपद पर सहसा किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति न करे। इस व्यवस्था के होते हुए यह ह है कि कौटिल्य मंत्रिपरिषद् और अमात्य पद में अन्तर मानते हैं। मंत्री मंत्रिपरिषद् का सदस्य तो होता है, साथ ही वह राजा को मन्त्रणा देने का भी अधिकार रखता है। अमात्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य है, तु राजा को मंत्रणा देने का आधिकारी, मंत्रिपरिषद् की सदस्यता मात्र के आधार पर नहीं है। इस प्रकार ा का मंत्रिमण्डल पृथक होना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है।

ा के मंत्रिमण्डल में कितने मंत्री होने चाहिए, इस विषय में कौटिल्य ने कतिपय आचार्यों के मत भी हैं, जो इस प्रकार हैं-भारद्वाज मुनि के अनुयायी अत्यन्त गोपनीय विषयों में मंत्रियों से मंत्रणा लेने का

निषेध करते हैं और स्वयं राजा को मंत्र-निर्णय का अधिकारी मानते हैं, क्योंकि मंत्री के मंत्री भी होते हैं और फिर उनके मंत्री होते हैं। इस प्रकार मंत्रिपरम्परा के कारण मंत्र गुप्त नहीं रहने पाता। परन्तु आचार्य विशालाक्ष इस मत का खण्डन करते हुए व्यवस्था देते हैं कि राजा के अकेले ही मंत्र-निर्णय करने से मंत्र सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एक व्यक्ति के विचार करने मात्र से मंत्र सिद्ध नहीं किया जा सकता। अज्ञात वस्तु का जानना, ज्ञात का निश्चय करना, निश्चित को दृढ़ बनाना, मतभेद में संशय निवारण, अंगविशेष का ज्ञान होने पर शेष अंग का ज्ञान प्राप्त करना, मंत्रियों का ही कार्य होता है। मंत्रियों से मंत्रणा लिये बिना राजाओं के कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये जो बुद्धि में वृद्ध है, ऐसे पुरुषों से राजा को मंत्रणा अवश्य करना चाहिए। बुद्धिमान् ही क्या, राजा को तो सबके मत सुनना चाहिए, किसी के भी मत की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान् राजा को तो बालक के भी सार्थक वाक्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार आचार्य विशालाक्ष ने राजा के मंत्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा है।

परन्तु पराशर मुनि के अनुयायी इस मत का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि इस व्यवस्था से मंत्र रक्षा नहीं हो सकती। विशालाक्ष का यह मत मंत्र ज्ञान की सिद्धि करता है, परन्तु मंत्र रक्षण नहीं करता। उनका मत है कि राजा जिस कार्य को करना चाहता है, तत्सम्बन्धी मंत्री से उस सम्बन्ध में मंत्रा ग्रहण करे। परन्तु पिशुनाचार्य इस मत का विरोध करते हैं। उनका मत है कि जो पुरुष जिन-जिन कार्यों में नियुक्त किये जाए उनके साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों से मंत्रणा करने से मंत्र-बुद्धि एवं उनकी रक्षा होती है। इस प्रकार पिशुनाचार्य के मतानुसार राज्य के प्रत्येक अध्यक्ष अथवा अभिमत पुरुष को मंत्रिमंण्डल में स्थान मिलना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने इन मतों में से किसी को भी स्वीकार नहीं किया है। वह इन मतों को अव्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनके मतानुसार तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा लेना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य मंत्रिमण्डल में तीन अथवा चार सदस्य रखना उचित समझते हैं। कौटिल्य के अनुसार एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करने से मतभेद के स्थानों में मंत्र निश्चय नहीं हो सकता। अकेला मंत्री बिना विचार किए हुए अपने इच्छानुसार कार्य कर सकता है। दो मंत्रियों के मध्य मंत्र निर्णय करना भी उचित नहीं, क्योंकि दोनों के मिल जाने पर मंत्र उचित रीति से सिद्ध नहीं हो सकता। दो व्यक्तियों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दोनों में मतभेद होने पर नाश हो जाएगा। यदि तीन अथवा चार मंत्री होंगे तो इस प्रकार के अनर्थ के आने की बहुत ही कम सम्भावना होती है। कार्य विधिवत् होता रहता है, ऐसा ही देखा गया है। यदि मंत्रणा के लिये चार से अधिक मंत्री होंगे तो किसी विषय में निर्णय पर पहुंचना अति कठिन हो जाएगा और मंत्र की रक्षा भी न हो सकेगी। देश, काल, और कार्यविशेष की आवश्यता देखकर एक अथवा दो मंत्रियों के साथ भी मंत्रणा की जा सकती है।

मंत्रियों का वेतन

राज्य के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के वेतन निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इन सिद्धान्तों में सर्वप्रथम सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि वेतन का निर्धारण राज्य में विभिन्न पदों के महत्व के अनुसार होना चाहिए। राज्य में जो पद जितना अधिक महत्वपूर्ण है उसके लिये उतना ही अधिक वेतन दिया जाना चाहिये। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त कौटिल्य द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि वेतन इतना होना चाहिए जिससे अधिकारी अथवा कर्मचारी एवं उसके परिवार का भरण-पोषण, उनकी परिस्थिति के अनुसार भली प्रकार हो सके। इस सम्बन्ध में तीसरा सिद्धान्त यह है कि वेतन द्वारा प्राप्त धन इतना न्यून कदापि नहीं होना चाहिए, जिससे कर्मचारी अथवा अधिकारी को अपने एवं आश्रित परिवार के भरण-पोषण के लिये दूसरे साधनों का आश्रय लेना पड़े। कौटिल्य के मतानुसार वेतन की न्यूनता कर्मचारी को कुपित कर देती है, जिससे राजा एवं राज्य को बड़ी हानि होती है।

इन्हीं सिद्धान्तों को अपने समक्ष रखकर कौटिल्य ने मंत्रियो के वेतन, निर्धारित किए हैं। उन्होंने वेतन की

ष्ट से ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, राजमहिषी, और राज्य के मंत्रियों को एक श्रेणी में रखा है, और इनमें से प्रत्येक के लिये अड़तालिस सहस्र पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है। के मतानुसार इतने वेतन से ये सुविधापूर्वक अपना एवं अपने आश्रितों का भरण पोषण कर सकते हैं र उनके कुपित होने की संभावना नहीं होती।

2.6 सारांश

इकाई में हमने कौटिल्य के राज्य विषयक विचारों का अध्ययन किया है। इस इकाई के प्रारंभ में हमने य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में चर्चा की है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने सामाजिक अनुबन्धवाद का सहारा या है। कौटिल्य ने राज्य सत्ता की सात प्रकृतियों के गुणों की चर्चाकी है। स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, ष, दण्ड और मित्र के गुणों का वर्णन किया है।

इकाई के अंत में मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमंडल के संदर्भ में कौटिल्य के विचारों की समीक्षा की गई है। टिल्य जब मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमंडल की चर्चा करते हैं तो आधुनिक राजनैतिक प्रणालियों के लिए उदाहरण स्थापित करते हैं।

2.7 बोध प्रश्न

अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

) कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियों में किसको सम्मिलित नहीं किया है—

मित्र (ii) शत्रु (iii) स्वामी (iv) अमात्य

) युग्म सुमेलित करें—

	दुर्ग		स्थिति
अ.	औदक	(i)	पर्वतीय कन्दरा
ब.	पार्वत	(ii)	ऊसर भूमि
स.	धान्वन	(iii)	चारो तरफ जल
द.	वनदुर्ग	(iv)	कोटंदार सघन झाड़िया

(i) अ I, ब II, स III, द IV (ii) अ IV, ब III, स II, द I

(iii) अ III, ब I, स II, द IV (iv) अ II, ब I, स IV, द II

) निम्न में से कौन से दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाये जाते थे—

औदक और वनदुर्ग (ii) वनदुर्ग और पार्वत

) धान्वन और पार्वत (iv) औदक और पार्वत

) लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्नों का उत्तर 10 पंक्तियों में लिखिए—

(1) कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में क्या प्रकट किया है ?

(2) कौटिल्य ने स्वामी (राजा) के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में क्या नियम प्रतिपादित किए हैं ?

(3) अमात्य के गुणों के सम्बन्ध में कौटिल्य तथा पूर्ववर्ती विद्वानों का मत क्या है ?

(4) मंत्रिपरिषद् तथा मंत्रिमण्डल पर प्रकाश डालिए तथा आधुनिक प्रणाली से तुलना करें?

(5) जनपद तथा दुर्ग के प्रमुख गुण क्या है ?

12.8 प्रश्नों के उत्तर

(1) शत्रु (ii)

(2) अ III, ब I, स III, द IV (iii)

(3) औदक और पार्वत (iv)

इकाई 13 कौटिल्य की प्रशासनिक तथा बाह्य नीति

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 दुर्ग अथवा पुर जनपद संगठन

13.2.1 जनपद संगठन

13.3 मण्डल सिद्धान्त

13.3.1 अरि राज्य

13.3.2 मित्र राज्य

13.3.3 मध्यम राज्य

13.3.4 उदासीन राज्य

3.4 षाड्गुण्य मंत्र

13.4.1 सन्धि

13.4.2 विग्रह

13.4.3 आसन

13.4.4 यान

13.4.5 संश्रय

13.4.6 द्वैधीभाव

3.5 सारांश

3.6 सम्बन्धित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ

3.7 प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

कौटिल्य की प्रशासनिक नीति के अन्तर्गत, दुर्ग, जनपद संगठन का वर्णन कर सकेंगे।

मण्डल सिद्धान्त का उल्लेख कर सकेंगे।

षाड्गुण्य मंत्र की विवेचना कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इकाई में हम कौटिल्य की प्रशासनिक तथा बाह्य नीति का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के प्रारम्भ में हम टिल्य की प्रशासनिक नीति के अन्तर्गत दुर्ग तथा जनपद-संगठन का अध्ययन करेंगे। प्राचीन भारतीय म्परा के अनुरूप कौटिल्य ने राज्य को पुर तथा जनपद में विभक्त करके इन दोनों की पृथक-पृथक सन-व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की है। मण्डल सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्यों को अरि, मित्र, मध्यम र उदासीन में विभक्त किया है। इसके सम्बन्ध में हम बाह्य नीति में चर्चा करेंगे।

कौटिल्य ने मंत्र को राज्य का मूल माना है। उपयुक्त मंत्र वरण राज्य की वृद्धि और अनुपयुक्त मंत्र-वरण उसकी अवनति का कारण होता है। मंत्र के छः गुण कौटिल्य के मतानुसार संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव हैं। इस मंत्र के गुणों के सन्दर्भ में चर्चा इस इकाई के अंत में करेंगे।

13.2 दुर्ग अथवा पुर जनपद संगठन

कौटिल्य ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राज्य को दो प्रमुख क्षेत्रों दुर्ग एवं जनपद में विभक्त किया है। साथ ही इन दोनों क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् शासन व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की है। पुर से अभिप्राय नगर, दुर्ग या राजधानी से है और जनपद से शेष सारे राष्ट्र से हैं। राज्य की सात प्राकृतियों में जनपद और दुर्ग (पुर) को इसीलिए अलग-अलग माना गया है।[23] दुर्ग का सर्वोच्च अधिकारी नागरिक बतलाया गया है जिसका एक मात्र कार्य पुर या दुर्ग में शासन सम्बंधी सुव्यवस्था करना है। दुर्ग में शासन सम्बंधी व्यवस्था हेतु दुर्ग को चार समान भागों में विभक्त करने का निर्देश है। दुर्ग के इन भागों में प्रत्येक भाग स्थानिक नाम के अधिकारी के अधिकार क्षेत्र में रखने की व्यवस्था हैं। प्रत्येक स्थानिक के अन्तर्गत गोप नाम के कर्मचारियों की नियुक्ति करने का आदेश दिया गया है। ये गोप दस, बीस अथवा चालीस, कुटुम्बों के संगठित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए किए जाने चाहिए। गोप नाम के राजकर्मचारियों के कार्यों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि इन गोपों को अपने अधीन कुटुम्बों के स्त्री-पुरुषों की संख्या, उनकी जाति, गोत्र, नाम, व्यवसाय, पशुधन आदि की गणना ही नहीं बल्कि उन कुटुम्बों के आय-व्यय का ब्यौरा भी अंकित करते रहना चाहिए। इन गोपों का साथ में यह कर्त्तव्य भी बतलाया गया कि वे अपने सम्पूर्ण कार्य का ब्यौरा अपने ऊपर के स्थानिक अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करते करें। इस प्रकार प्राप्त जानकारी को फिर स्थानिक अधिकारी नागरिक के सम्मुख प्रस्तुत करें।

दुर्ग में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना नागरिक का प्रमुख कर्त्तव्य है। पुर में पथिकों के रात्रि में ठहरने की समुचित व्यवस्था करना एवं रात्रि में आवागमन सम्बन्धी नियमों का निर्धारण, अग्नि से सुरक्षा की सुव्यवस्था करना भी नागरिक का ही कर्त्तव्य बतलाया गया है।

13.2.1 जनपद संगठन

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने उत्तम जनपदों के विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है। जिस भी जनपद में ये विशेष लक्षण पाये जाते थे उसे उत्तम जनपद का दर्जा दिया जाता था। कौटिल्य ने इन विशेष लक्षणों को **जनपदसंपत** नाम से सम्बोधित किया है। जनपद किस प्रकार स्थापित या बसाया जाना चाहिए इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए बतलाया है कि प्राचीन एवं नवीन जनपद को स्थापित करने के लिए राजा को दूसरे जनपदों की जनता को बुलाकर अथवा अपने ही जनपद के प्रान्तों को फेर-बदल करके बसा लेना चाहिए।

जनपद के संगठन के स्वरूप के विषय में भी कौटिल्य ने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके विचारानुसार जनपद की सबसे छोटी बस्ती ग्राम है। ग्राम में शासन-व्यवस्था के नियमानुसार कार्य संचालन हेतु ग्रामिक नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति की ओर संकेत दिया गया है। ग्राम सम्बन्धी जो वर्णन अर्थशास्त्र में दिया गया है उससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि ग्रामिक राजकीय कर्मचारी होता था अथवा वह ग्राम-जनता का प्रतिनिधि। मनु तथा भीष्म ने भी ग्राम के अधिकारी को ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया है और यह आदेश भी दिया है कि इस अधिकारी की नियुक्ति राजा द्वारा ही होगी।

ग्रामिक का पद ग्राम में महत्वपूर्ण माना गया है। कौटिल्य ने यह आदेश दिया है कि यदि ग्रामिक ग्राम-कार्य के निमित्त ग्राम से बाहर जाता है तो ग्राम के मुख्य व्यक्तियों को उसके साथ जाना चाहिए। अर्थशास्त्र में ग्रामिकों को ग्रामवृद्धों की सहायता से ग्राम में शासन करने के निर्देश के संकेत दिया गये हैं। इन संकेतों

में कुछ व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं— यदि ग्रामवासियों में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जाय तो उसका निर्णय ग्राम वृद्धों को कर देना चाहिए। ग्राम में यदि माता-पिता विहीन बालक के पास सम्पत्ति है तो उसकी सम्पत्ति ग्राम वृद्धों के पास सुरक्षित रहनी चाहिए। ये ग्राम वृद्ध उस सम्पत्ति में वृद्धि करें और उस बालक के योग्य होने पर वृद्धि सहित सम्पत्ति उसे सौंप दें। इस प्रकार मंदिरों आदि में लगी सम्पत्ति अर्थात् देव-सम्पत्ति भी इन्हीं ग्राम-वृद्धों के संरक्षण में रहनी चाहिए। उपर्युक्त व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट होता है कि ग्राम का शासन प्रबंध ग्रामिक एवं ग्रामवृद्धों के द्वारा ही संचालित होना चाहिए परन्तु ग्राम शासन के क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र रहें। कौटिल्य ने इसका विरोध किया है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि यदि ग्रामिक अपने अधीन ग्राम से चोर या व्यभिचारी के अतिरिक्त किसी अन्य मनुष्य को ग्राम से बाहर निष्कासित करवा देता है तो उस पर चौबीस पण दण्ड स्वरूप लगना चाहिए। ग्रामिक को निर्धारित नियमों के अनुसार ही शासन करने का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार ग्राम के शासन का भार ग्रामिक पर निर्भर है जो ग्राम-वृद्धों की सहायता से अपने दायित्वों का निर्वाहन करता है।

कौटिल्य ने एक प्रसंग के संदर्भ में यह व्यवस्था दी है कि दो या दो से अधिक ग्रामों में सीमा विवाद उत्पन्न हो तो उसका समाधान पंचग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नामक अधिकारी कर दें। इसी प्रकार जनपद में राजांश का संचय करने के प्रसंग में उन्होंने यह व्यवस्था दी है--समाहर्ता द्वारा नियुक्त पंचग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी अपने अधीन ग्रामों की देख-रेख करते रहें। इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट हो जाता है कि जनपद ग्रामों के उपरान्त पाँच-पाँच ग्रामों के और उनके ऊपर दस-दस ग्रामों के संघटन निर्माण करने की योजना कौटिल्य ने प्रस्तुत की है। इन ग्राम-समूहों के शासन प्रबंधन हेतु प्रमुख अधिकारी क्रमशः पंचग्रामी और दशग्रामी गोप बतलाये गये हैं। गोप नामक इन अधिकारियों की नियुक्ति समाहर्ता के परामर्श से राजा द्वारा होनी चाहिए। दस ग्रामों के क्षेत्र में शासन की सुविधा के लिए संग्रहण नामक केन्द्र-स्थान निर्माण करने की व्यवस्था भी कौटिल्य ने दी है। इस व्यवस्थानुसार वहां सम्बन्धित दस ग्रामों से संचित राजांश संगृहीत होना चाहिए।

दस ग्राम समूहों के ऊपर दो सौ ग्रामों का संगठन जिसके मध्य क्षेत्र में शासन सम्बन्धी सुव्यवस्था हेतु खार्वटिक नामक बस्ती की स्थापना का आदेश दिया गया है। इस भूभाग में स्थित संग्रहण नाम के शासन-केन्द्रों से जो राजांश संगृहीत कर भेजा जाय उसका संग्रह खार्वटिक में होना चाहिए। इसके स्वरूप के विषय में कौटिल्य ने अपना कोई विचार नहीं प्रस्तुत किया है।

खार्वटिक बस्ती के ऊपर इससे महत्वपूर्ण बस्ती द्रोणमुख बतलायी गयी है जिसके अधीन 400 ग्राम रखे गये हैं। इसके स्वरूप के विषय में भी कौटिल्य मौन हैं। द्रोणमुख बस्ती से ऊपर जनपद में आठ सौ ग्रामों के शासन केन्द्र को उन्होंने **स्थानीय** नाम से सम्बोधित किया है। इस बस्ती का सर्वोच्च अधिकारी **स्थानिक** बतलाया गया है। स्थानिक को जनपद के चौथाई भाग में सुशासन स्थापित करने का कार्य सौंपा गया है।[24]

इस प्रकार कौटिल्य ने शासन-व्यवस्था की स्थापना हेतु जनपद के संघटन की योजना प्रस्तुत की है। इस योजनानुसार शासन की इकाई ग्राम है। इसके उपरान्त पाँच ग्रामों, दस ग्रामों, दो सौ ग्रामों, चार सौ ग्रामों और आठ सौ ग्रामों के संघटन की व्यवस्था है।

13.3 मण्डल सिद्धान्त

अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से विदित होता है कि कौटिल्य ऐसे देश से परिचित थे जिसमें छोटे-बड़े राज्य हैं। इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उन्हों अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, और इसके

लिए **मण्डल सिद्धान्त** का संदर्भ लिया है। मण्डल सद्धान्त के अनुसार राज्य चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

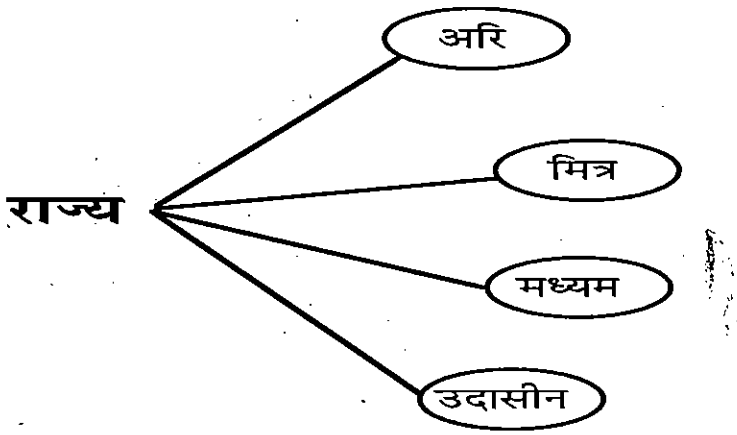

अरि, मित्र, मध्यम, और उदासीन, इनमें से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है। जिसमें राज्य, राज्य का अरि राज्य, उसका मित्र, राज्य, मध्यम राज्य और उदासीन राज्य होते हैं।

13.3.1 अरि राज्य

कौटिल्य ने अरि राज्य तीन प्रकार के बलताए हैं जिन्हें वह **प्रकृति अरि, सहज** और **कृत्रिम अरि** नाम से सम्बोधित करते हैं। राज्य की सीमा से जुड़ा हुआ राज्य प्रकृति अरि राजा माना गया है। राजा के अपने ही वंश में उत्पन्न दायगामी **सहज अरि** तथा स्वयं विरुद्ध होने अथवा विरोधी कृत्रिम अरि कहलाते हैं।

उस युग में राजाओं की महत्वाकांक्षा विजय एवं साम्राज्य के विस्तार के ओत-प्रोत थी। राज्यों की सीमाए परस्पर जुड़ी होने से भूमि हड़पने की इच्छा षड़यंत्र को जन्म देती है और कौटिल्य ऐसे युग में रहे हैं जहाँ आवागमन के साधनों के अभाव में विश्व के सुदूर भागों में ऐसे संघों एवं संस्थाओं के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती जिनका निर्माण विश्व के विभिन्न राज्यों के मध्य शान्ति की स्थापना हेतु हुआ हो। उस युग में पड़ोसी राज्य की विजयाकांक्षा के दमन हेतु आधुनिक युग की अपेक्षा अवसरों की कमी के कारण इन राज्यों में परस्पर बैर होना स्वाभाविक ही था। सम्भवत: इन्हीं कारणों से कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों को एक दूसरे के लिए प्रकृति अरि बतलाया है।

13.3.2 मित्र राज्य

मित्र राज्य को कौटिल्य ने तीन प्रकारों—प्रकृति मित्र राज्य, सहज मित्र राज्य और कृत्रिम मित्र राज्य में विभाजित किया है। राजा के अपने राज्य की सीमा से जुड़े सीमा वाले अरि राज्य की दूसरी सीमा पर स्थित राज्य को कौटिल्य ने प्रकृति मित्र राज्य से सम्बोधित किया है। राजा के माता अथवा पिता सम्बन्धित राज्य (फूफा, मामा आदि के राज्य) सहज मित्र राज्य कहलाए। धन तथा जीवन हेतु जब कोई राजा किसी दूसरे राजा का आश्रय लेता है तो आश्रय ग्रहण करने वाला राजा आश्रय देने वाले राजा का कृत्रिम मित्र होता है। ऐसा राजा स्वाभाविक मित्र न होकर धन अथवा जीवन-रक्षा हेतु मित्रता ग्रहण करता है अर्थात् कृत्रिम मित्र है। स्वभाव से ही वह मित्र हो, ऐसा सदैव सम्भव नहीं है।

13.3.3 मध्यम राज्य

मध्यम राज्य कौटिल्य के अनुसार एक विशेष राज्य है। इनके अनुसार विजय की अभिलाषा रखने वाले राजा का राज्य और उसके अरि राज्य, दोनों राज्यों की सीमा पर स्थित राज्य को इन दोनों राज्यों को एक

ा साथ एवं पृथक्-पृथक् सहायता प्रदान करने अथवा उसका निग्रह करने में समर्थ राज्य मध्यम राज्य हलाता है। मध्यम राज्य की दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं :-

- यह विजयाभिलाषी राज्य और अरि राज्य दोनों की सीमा पर स्थित होता है।
- मध्यम राज्य को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि आवश्यकता होने पर वह इन दोनों प्रकार के राज्यों पर एक साथ या अलग-अलग अनुग्रह करने और उन्हें निग्रह करने में सक्षम हो।

सलिए मध्यम राज्य इन दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक बलशाली होना चाहिए। ताकि आवश्यकता पड़ने र वह इनकी संयुक्त शक्ति का भी दमन कर सके। कौटिल्य का यह सिद्धान्त वर्तमान में भी हेतु युक्त ाना पड़ता है क्योंकि सबल राज्य की मध्यस्थता ही वास्तविक मध्यस्थता मानी जा सकती है।

3.3.4 उदासीन राज्य

ौटिल्य ने उस राज्य को उदासीन राज्य कहा है जो विजयाभिलाषी, अरि और मध्यम राज्य से परे अपनी लिष्ठ सप्त प्रकृतियों से सम्पन्न अरि, विजयाभिलाषी और मध्यम तीनों प्रकार के राज्यों पर पृथक् - पृथक् थवा उन पर एक साथ अनुग्रह अथवा उनका निग्रह करने में समर्थ हो।

स प्रकार कौटिल्य का उदासीन राज्य एक विशेष राज्य है जिसकी समानता इस युग के उदासीन राज्यों से हीं की जा सकता क्योंकि वर्तमान में शान्ति एवं प्रभाव की अधिकता अथवा न्यूनता उनके उदासीन होने लिए किसी भी प्रकार बाधक अथवा साधक नहीं होती।

जयाभिलाषी राज्य, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र राज्य इन तीनों राज्यों के क्रमशः तीन राजा न प्रकृति कहलाते हैं। इन तीनों राज्यों में प्रत्येक राज्य और राज्य की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (मंत्री, कोष, ण्ड, जनपद और पुर) मिलकर कुल अठारह प्रकृतियाँ हुई, जो एक राज्य-मण्डल का निर्माण करती हैं। सी प्रकार अरिमण्डल, मध्यम-मण्डल और उदासीन-मण्डल भी बनते हैं। फिर एक वृहद् राज्य-मण्डल नता है जिसमें 13 राजप्रकृतियाँ (बाहर राज्यों के बारह राजा) और प्रत्येक राज्य की अन्य पाँच प्रकृतियाँ ती हैं जिनको कौटिल्य ने द्रव्य प्रकृतियाँ की संज्ञा दी है। इन बारह राज्यों की साठ द्रव्य प्रकृतियाँ होती । ये बाहर राज-प्रकृतियाँ और साठ द्रव्य प्रकृतियाँ मिलाकर कुल बहत्तर प्रकृतियों का एक वृहद् राज्य ण्डल कहलाता है।

ौटिल्य ने इस राज्य मण्डल की तुलना चक्र से की है और इस संदर्भ यह विचार प्रस्तुत किया है कि जयाभिलाषी राजा को राज्य मण्डल रूपी चक्र में एक राज्य आगे रहने वाले मित्र राजाओं को नेमि, मीप के राजाओं को अरि और स्वयं नाभि के तुल्य समझना चाहिए। विजयाभिलाषी राजा और उसके त्र राजा के मध्य फंसा हुआ शत्रु यदि बलवान् भी हो तो वह पीड़ित या समूल नष्ट किया जा सकता है।

3.4 षाड्गुण्य मंत्र

त्र राज्य का मूल माना गया है। प्रायः लगभग सभी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने उपयुक्त मंत्र-ण को राज्य की उन्नति एवं अनुपयुक्त मंत्र-वरण को उसकी अवनति का कारण बताया है। प्राचीन रतीय अधिकांश आचार्यों ने इस मंत्र के छह गुण माने हैं इसी कारण इसे **षाड्गुण्य** मंत्र कहा जाता है। ौटिल्य के मतानुसार मंत्र के ये छह गुण संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव हैं। इनके चार में इस षाड्गुण्य मंत्र की योनि बहत्तर प्रकृतियों से राज्य-मंडल होता है, इस मंत्र का उद्देश्य क्षय, ान और वृद्धि का निर्धारण करना होता है।[25]

13.4.1 संधि

कुछ पणों अर्थात् परिस्थितियों के आधार पर दो राज्यों में परस्पर सम्बंध स्थापित करने की प्रक्रिया को कौटिल्य ने संधि की संज्ञा दी है। राजा द्वारा संधि-गुण को ग्रहण करने की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने बताया है कि—यदि राजा यह देखता है कि संधि करने पर मैं बड़े-बड़े कार्यों को सम्पादित कर शत्रु के महान् कार्यों को पहुँचा सकूंगा; अथवा अपने उत्तम कार्यों का सम्पादन करने के साथ-साथ शत्रु के उत्तम कार्यों से भी लाभ उठा लूँगा अथवा शत्रु से संधि कर लेने के उपरान्त जब शत्रु में मेरे प्रति विश्वास हो जाएगा तो गुप्तचरों अथवा विष प्रयोग आदि के द्वारा शत्रु का नाश कर दूंगा अथवा कृपा प्रदर्शन कर शत्रु के उत्तम मनुष्यों को अपनी कार्य कुशलता से अपनी ओर आकृष्ट कर सकूंगा। इस प्रकार कौटिल्य पराजित राजा हेतु संधि काल उसे मानते हैं जिसका प्रयोग वह अपने सबल शत्रु से मेल कर उसको येन-केन प्रकारेण शक्तिहीन बनाने में संलग्न रहता है और स्वयं को भी सबल बनाने के लिए गुप्त रीति से प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में कौटिल्य संधि को शत्रु राजा को निर्बल और स्वयं सबल बनाने का साधन मानते हैं।

कौटिल्य ने संधि के अनेक प्रकार बतलाए हैं। इन संधियों का वर्गीकरण दण्ड लाभ (सेना लाभ), कोषलाभ, भूमिलाभ, कार्यलाभ, हिरण्यलाभ, मित्रलाभ आदि के आधार पर किया गया है।

सधियों का वर्गीकरण

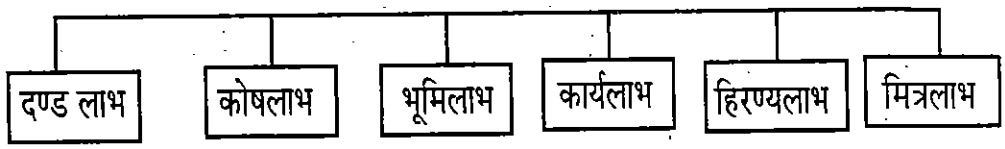

13.4.2 विग्रह

कौटिल्य के मतानुसार परस्पर एक - दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाना विग्रह गुण है। जब राजा अपने को शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली आंकता है तब उसे विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित है। विग्रह गुण का आश्रय लेने की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने बताया है कि—'यदि विजयाभिलाषी राजा इस परिस्थिति में हो कि उसके राज्य में प्रायः लोग शस्त्र प्रयोग में कुशल और संगठित हैं तथा पर्वत, वन, नदी और दुर्ग में उसका राज्य सम्पन्न है; उसके राज्य में प्रवेश हेतु केवल एक द्वारा है वह शत्रु द्वारा किये गये आक्रमण का वीरतापूर्वक उत्तर देने में समर्थ है और अपने राज्य की सीमा के दृढ़ दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यों का नाश कर सकता है; व्यसन और कष्टों से उसके शत्रु का सारा उत्साह नष्ट हो रहा है, इस समय वह शत्रु वश में किया जा सकता है; यदि युद्ध छिड़ गया तो वह अपने शत्रु के भू-भागों पर अधिकार करने में समर्थ हो सकेगा तो इन परिस्थितियों में उक्त राजा के लिए विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा।

13.4.3 आसन

किसी समय की प्रतीक्षा में शान्तिपूर्वक बैठे रहने को कौटिल्य ने आसन गुण की संज्ञादी है। कौटिल्य ने आसन के तीन रुप **स्थान, आसन और उपेक्षण** बतलाये है। इनके विचारानुसार किसी विषय में चुप-चाप बैठे रहना और किसी विषय में उपाय करते रहना स्थान कहलाता है। अपनी वृद्धि की प्राप्ति हेतु चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है। किसी भी उपाय का अवलम्बन न करना उपेक्षण कहलाता है। कौटिल्य ने आसन के दो भेद विगृह्य आसन और संधाय आसन माने हैं।

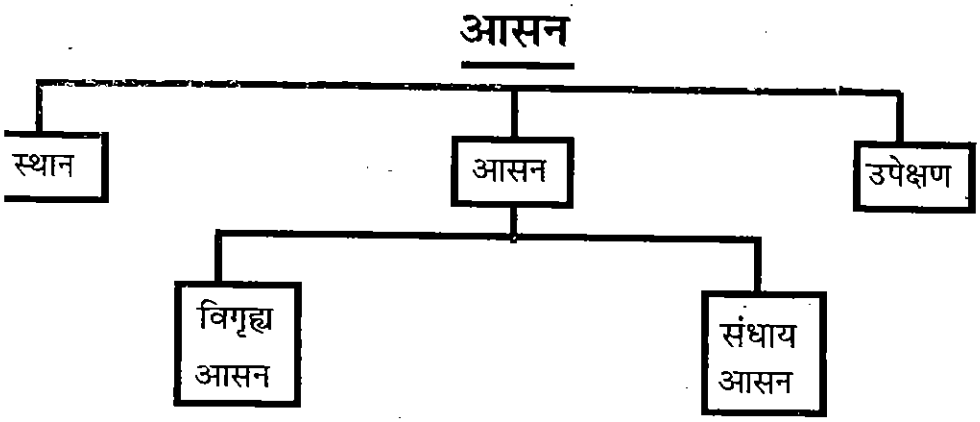

ब शत्रु और विजय के इच्छुक राजा, दोनों ही संधि करने की इच्छा रखते हों और वे परस्पर एक दूसरे विनाश की क्षमता न रखते हों तब वे कुछ काल युद्ध करके चुप बैठ जाते हैं तो इस प्रकार के आसन ो विगृह्य आसन कहते हैं और जब वे दोनों संधि करके चुप बैठते हैं तो ऐसी स्थिति को संधाय आसन हा गया है।

3.4.4 यान

क राजा द्वारा दूसरे राजा पर आक्रमण करने को कौटिल्य ने यान की संज्ञा दी है। कौटिल्य का मत है कि ब विजयाभिलाषी राजा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का नाश उस पर आक्रमण करके ही किया जा कता है, उसने स्वयं अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबंध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस जा को यान-गुण का आश्रय लेना उचित होगा।

3.4.5 संश्रय

पने से बलवान शत्रु अथवा बलवान राजा के प्रति आत्म समर्पण कर देना कौटिल्य के अनुसार संश्रय ग है। कौटिल्य के अनुसार राजा इस परिस्थिति में हो कि न तो शत्रु को हानि पहुँचा सके और न ही पनी रक्षा कर सके तो उसे किसी बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिए।

ौटिल्य के अनुसार यदि किसी राजा को शत्रु के भय के कारण किसी राजा का आश्रय लेने के लिए वश होना पड़े तो वह राजा शत्रु के समान अथवा शत्रु से अधिक बलशाली होना चाहिए। यदि कोई न्य राजा शत्रु से बलशाली न हो तो उस राजा को उसी सबल शत्रु का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। ाष, सेना अथवा भूमि में से किसी को देकर शत्रु राजा को सन्तुष्ट करना चाहिए परन्तु स्वयं शत्रु राजा के मुख नहीं जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार जब राजा क्तिहीन हो तो उसे विनम्र होकर समय काटते ना चाहिए।

3.4.6 द्वैधीभाव

ौटिल्य के अनुसार एक राजा से सन्धि करना और दूसरे से विग्रह करने की परिस्थिति को द्वैधीभाव हते हैं। यदि राजा एक से सन्धि और दूसरे से विग्रह करके शत्रु की योजनाओं को नष्ट कर सके तो उसे ीभाव गुण का आश्रय लेकर उन्नति करनी चाहिए।

ौटिल्य का मत है कि षाड्गुण्यनीति का विधिवत पालन करने से राजा वृद्धि को प्राप्त होता है और सका क्षय नहीं होता है।

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने प्रारंभ में दुर्ग तथा जनपद संगठन की चर्चा की है। स्थानीय शासन हेतु कौटिल्य ने जनपद के संगठन की योजना प्रस्तुत की है। इस योजना के अनुसार शासन की इकाई ग्राम है। इसके उपरांत पांच ग्रामों, दस ग्रामों, दो सौ ग्रामों, चार सौ ग्रामों और आठ सौ ग्रामों के संगठन की व्यवस्था है।

राज्य की बाह्य नीति के अन्तर्गत मण्डल सिद्धान्त तथा षाड्गुण्य मंत्र का ज्ञान हमने प्राप्त किया है। षाड्गुण्य मंत्र यह बतलाता है कि किस परिस्थिति में राजा को किस गुण का आश्रय लेना चाहिए।

13.6 सम्बन्धित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) मण्डल सिद्धान्त में कौटिल्य ने किस प्रकार के राज्य का उल्लेख नहीं किया है—

(i) अरि राज्य (ii) मित्र राज्य

(iii) उदासीन राज्य (iv) विदेशी राज्य

(2) षाड्गुण्य मंत्र के छह गुणों में निम्न से कौन सा गुण नहीं है —

(i) संधि (ii) विग्रह

(iii) अमात्य (iv) यान

(3) 'आसन' गुण से क्या आशय है—

(i) आसन ग्रहण करना (ii) विपत्ति या अनुमान लगाना

(iii) युद्ध करना (iv) किसी समय की प्रतीक्षा में शान्तिपूर्वक बैठे रहना

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए—

(1) कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

(2) दुर्ग तथा जनपद संगठन पर प्रकाश डालिए।

(3) वाड्गुण्य मंत्र के गुण क्या हैं ?

(4) 'सन्धि' पर प्रकाश डालिए।

13.7 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) विदेशी राज्य (iv)

(2) अमात्य (iii)

(3) किसी समय की प्रतीक्षा में शान्तिपूर्ण बैठे रहना (iv)

संदर्भ सूची

1) कोधोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० 160-61

2) काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, प्रथम खण्ड, प्र० 134

3) भगवद्गीता

4) के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 127

5) Encyclopedia of Social Sciences. V. 9 ed. E. R. A. Selingman, P. 260 (Macmillon, New York)

) Positie background of Hindu Sociology, P. 191.

) Manu and Yajavalkya : K.P. Jaiswal

3) महाभाष्य, प्र० 391, 340

) An Introduction to the history of Indian history : D.P. Kaushambi, 237.

0) मनुस्मृति प्र० 2-5, 6-7

1) मनुस्मृति भाषा टीका : श्री गणेश दत्त पाठक; प्र० 7, श्लोक 32

2) मनुस्मृति, भाषा टीका श्री गणेश दत्त पाठक; प्र०-7, श्लोक 13-14

3) मनुस्मृति, प्र० 3-2

4) मनुस्मृति, 1-95, 96

5) मनुस्मृति, प्र. 2-21 से 25 तक, 3-27 से 30 तक

6) Bhagwan Das : Science of Social Organisation Vol. II-P. 462.

17) मनुस्मृति, प्र. 1-28

य : तु कर्माणि यस्मिन्सन्यशुक्तं प्रधमं प्रभु:

सतदेव स्वंय भेजे सृज्ममान : पुन: पुन:

3) डा० राजबली पाण्डे, हिन्दू संस्कार प्र. 998, मनु, 2-27

9) मनुस्मृति 7 : 2 से ६ तक

0) मनुस्मृति 7 : 10 से 26 तक

1) मनुस्मृति 7 : 32 से 50 तक

2) मनुस्मृति, 8 : 18

3) G. Bullen : Law of Manu, P.-431.

4) Manu : The origin of social thought, Keval Motwani P-340-41

5) मनुस्मृति : माघा टीका : श्री गणेशदत्त पाठक; 450-455

5) मनुस्मृति : माघा टीका : श्री गणेशदत्त पाठक; 459-4

(27) मनुस्मृति : माघा टीका : श्री गणेशदत्त पाठक; 180-183

(28) मनुस्मृति : माघा टीका : श्री गणेशदत्त पाठक; 187-191

(29) मनुस्मृति : माघा टीका : श्री गणेशदत्त पाठक; प्र. 109-115

(30) नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत।

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मानि न गोव्रजे।।

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।

न फालकृष्टे न जले चित्यां न च पर्वते।

न जीर्णदिवायतेन न वल्मीके कदाचनः।

न ससत्वेद्य गर्तेषु न गच्छन्नापि न स्थितः।

न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके॥

मनु 445-46-47 (दृ-शा)

(31) नारसु मूत्रं पुरीधां व षठीवनंवा समुत्सृजेत।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥

मनु 4.56 (दृशा.)

(32) मनुस्मृति 192-197

32. अन्तिम श्लोक, शसनाधिकार प्रकरण, अध्यक्ष-प्रचार अधिकरण, अर्थशास्त्र।

33. श्लोक 26 से 28 अ० 24 अंश 4, विष्णुपुराण

34. अष्टमः उच्छ्वासः- दशकुमारचरित

35. अध्याय 1 विनयाधिकरण, अर्थशास्त्र

36. किं वा तेषां साम्प्रतं चेषामतिनृशंसं प्रायोपदेशिनर्थ्यं

कैटिल्यशास्त्रप्रमाणम् — कादम्बरी

37. प्रथम अध्याय तन्त्रयुक्ति अधिकरण अर्थशास्त्र।

38. मनुत्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः

तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति, वार्ता 1, अध्याय 1 अधिकरण 15,

39. आश्वलायन गृह्यसूत्र 3, 13, 16

40. आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च इति विद्याः।

अध्याय 1, विनयाधिकरण, अर्थशास्त्र।

41. प्रदीपः सर्वविधानापुयायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणदं शाश्वदान्वीक्षकी मता॥

अध्याय 1 अधिकरण। अर्थशास्त्र।

12. सामग्र्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अध्याय 2, विनयाधिकरण, अर्थशास्त्र

13. कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता

अध्याय 3, विनाधिकरण, अर्थशास्त्र

14. अध्याय 3, विनाधिकरण, अर्थशास्त्र

15. चर्तुवर्णाश्रमो लोको रजा दण्डेन पालित:।

स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु॥

अध्याय 3 अधिकरण। अर्थशास्त्र।

16. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृत्य:।

अध्याय 1, मण्डलयोनी अधिकरण अर्थशास्त्र।

17. त्रिभजयामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।

अमात्या सर्व एवैते कार्या: स्र्युन तु मंत्रिणा॥

अध्याय 7, विनयाधिकरण, अर्थशास्त्र।

18. अध्याय 1, मण्डलयोनि अधिकरण, अर्थशास्त्र।

19. अध्याय 3 अध्यक्ष-प्रचार अधिकरण, अर्थशास्त्र।

20. अध्याय 1, मण्डलयोनि अधिकरण, अर्थशास्त्र।

21. अध्याय1, मण्डलयोनी अधिकरण, अर्थशास्त्र।

22. पितृपैतामहं, नित्यं वश्यमद्धध्यं महस्लधुसमुत्थमिति मित्रसम्पत्।

अध्याय 1, मण्डलयोनी अधिकरण, अर्थशास्त्र।

23. अध्याय 14, विनयाधिकरण, अर्थशास्त्र।

24. पृ० 44, भूमिका, कौटिर्ल न् अर्थशास्त्रम् सं० वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2000.

25. अध्याय 1, अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, अर्थशास्त्र।

26. अध्याय 1, षाडगुण्य अधिकरण, अर्थशास्त्र

कुछ उपयोगी पुस्तकें

पं० गणेशदत्त पाठक (1957) मनुस्मृति, भाषा प्रकाश टीका सहित (ठाकुर प्रसाद कैलाशनाथ बुकसेलर, राजदरवाजा, वाराणसी)

पी. वी. काणे (1930) हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र

प्रो. यू. एन. घोषाल, स्टडीज इन इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर

वाचस्पति गैरोला, कौटिल्य अर्थशास्त्र

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, संस्कृत टीकासहित, मुंशीलाल मनोहर लाल, नयी सड़क, दिल्ली

डा० श्याम लाल पाण्डेय, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता उ० प्र० हिन्दीसंस्थान, लखनऊ

NOTES

ब्रण्ड

3

श्री अरविन्द

इकाई 14

श्री अरविन्द घोष : जीवन वृत्त, कृतियाँ और मुख्य विचार

इकाई 15

योग

इकाई 16

मानव विकास की प्रक्रिया

इकाई 17

सामाजिक विकास के निर्धारक तत्त्व I : संस्कृति और नैतिकता

इकाई 18

सामाजिक विकास के निर्धारक तत्त्व II : शिक्षा और धर्म

इकाई 19

राष्ट्रीयता और मानव एकता

खण्ड 3 का परिचय : श्री अरविन्द घोष

इस खण्ड की इकाइयों में श्री अरविन्द दर्शन, चिंतन, सर्वांग योग, सामाजिक विकास, संस्कृति एवं सभ्यता विकास की एक प्रणाली के रूप में, नैतिकता विकास के एक साधन के रूप में, शिक्षा विकास की एक प्रणाली के रूप में, धर्म विकास की एक प्रणाली के रूप में तथा विकास की इन सभी प्रणालियों की सीमाओं पर उनके विचारों तथा उनके समस्त अनुभवों को समेटने का प्रयास किया गया है । श्री अरविन्द के जीवन की झांकी और उन पर पड़ने वाले प्रभावों की भी चर्चा की गयी है।

प्रस्तुत खण्ड में कुल पांच इकाइयां हैं। प्रथम इकाई में श्री अरविन्द की जीवनी, उनकी समकालीन परिस्थितियों जिनसे वे प्रभावित थे का स्पष्ट उल्लेख है। उनके मुख्य विचारों की संक्षिप्त जानकारी दी गयी है।

इकाई दो में सर्वांग योग प्रणाली का विस्तृत विवेचन है। इस योग प्रणाली के विकास एवं लक्ष्यों के विषय में बताया गया है। इस योग प्रणाली के औचित्य पर भी विचार हुआ है। इस प्रणाली को अपना कर मनुष्य इस पृथ्वी पर दिव्य जीवनको खींच ला सकते हैं पर यह प्रयास एक व्यक्ति के बलबूते से संभव नहीं है। इसके लिए सम्मिलित प्रयास की जरूरत है। यह भी अरविन्द की महत्तम देन है।

इकाई तीन में विकास की प्रक्रिया पर सम्यक् विचार हुआ है। यह प्रक्रिया चेतना के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया है। विकास की कल्पनाओं, गति और स्तरों का विवरण दिया गया है यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि यह विकास एकांगी न होकर पूर्ण विकास की ओर उन्मुख है।

इकाई चार में सामाजिक विकास के निर्धारक दो साधनों — संस्कृति और सभ्यता एवं नैतिकता पर विचार विमर्श हुआ है । संस्कृति और सभ्यता एवं नैतिकता का सामाजिक विकास में क्या योगदान है और उनकी अपर्याप्तता किस सीमा तक है आदि पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई पांच में सामाजिक विकास के निर्धारक अन्य दो कारकों को इस खण्ड में विश्लेषित एवं मूल्यांकित करने का प्रयास किया गया है। विकास की प्रक्रिया अपने लक्ष्यों के अनुरूप आगे बढ़ती है। विकास को गति देने में शिक्षा और धर्म की भूमिका पर यथेष्ट प्रकार डालने की योजना रही है।

इस खण्ड के अध्ययन से आप को श्री अरविन्द के अनुभव और विचारों की सशक्त जानकारी उपलब्ध होगी । इस जानकारी का प्रयोग करके आप अपने व्यक्तिगत जीवन को एवं सम्पूर्ण समाज के जीवन की वाटिका को पुष्पित एवं सुगन्धित बना सकते हैं । श्री अरविन्द के मौलिक विचारों से परिचय आपको आध्यात्मिकता एवं दैवी शक्ति की ओर मोड़ देने में सहायक हो सकता है।

इकाई 14 : श्री अरविन्द घोष : जीवन वृत्त, कृतियां और मुख्य विचार

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 जीवन वृत्त

14.2.1 भारत लौटने के बाद

4.3 चिंतकों और घटनाओं का उन पर प्रभाव

4.4 कृतियाँ

4.5 मुख्य विचार

14.5.1 परम तत्व

14.5.2 परम तत्व और सृष्टि

14.5.3 अति मानस

14.5.4 चेतना की अपूर्व यात्रा

14.5.5 मानस (मन)

14.5.6 अन्त: प्रज्ञा

14.5.7 चैत्य पुरुष

14.5.8 विवर्तन

14.5.9 विवर्तन की मुख्य विशेषताएं

14.5.10 समाज दर्शन

.6 सारांश

.7 शब्दावली

.8 उपयोगी पुस्तकें

.9 बोध प्रश्न

.10 प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन बाद आप :

श्री अरविन्द के जीवन और परिवेश का वर्णन करना।

श्री अरविन्द को प्रभावित करने वाले चिंतकों एवं घटनाओं का विश्लेषण।

श्री अरविन्द के मुख्य विचारों का उल्लेख करना।

श्री अरविन्द के समाज दर्शन का उल्लेख करना।

4.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की पहली इकाई है। इसमें हमने श्री अरविन्द के जीवन वृत्त एवं परिवेश पर प्रकाश डाला क्योंकि इसकी जानकारी किसी चिंतक के चिंतन को समझने के लिए बहुत आवश्यक है। इसके बाद

आप उनके विदेश से लौटने के बाद की स्थिति का अध्ययन करेंगे । तत्पश्चात उनके मुख्य विचारों का अध्ययन करेंगे।

भारत में जन्म लेकर चिंतन एवं दर्शन के क्षेत्र में अप्रतिम ऊंचाई प्राप्त करने वाले महापुरुषों में श्री अरविन्द घोष का नाम अद्वितीय है। कारण है अद्वितीय, मौलिक एवं विस्तृत सोच, साथ ही मानव एवं मानव समाज को दिव्यत्व की ओर ले जाने वाली पक्की लगन। मनुष्य एक ऐसा प्राणी हे जिसमें मनुष्यत्व है. दिव्यत्व है और पाशविकता तथा दानवता भी। पर फर्क यह है कि कुछ लोगों में दानवता का बोलबाला रहता है और ऐसे लोग समाज को पतन और विनाश की ओर ले जाते हैं। मनुष्यत्व से व्यक्ति और समाज का विकास होता जरूर है पर वांछित सीमा तक नहीं हो पाता है। श्री अरविन्द का विकास का लक्ष्य औरों से भिन्नता रखता है। वे व्यक्ति के विकास को अथवा व्यक्ति की स्वतंत्रता (मुक्ति) को अपना लक्ष्य नहीं मानते। उन्हें तो पसन्द है वैश्विक विकास। यह चेतना के कई स्तर हैं उन्होंने विकास के एक ऐसे लोक की रचना की है जो किसी मानचित्र में नहीं प्राप्त हो सकता है। यह है अतिमानसिक अथवा अतिमानस का लोक। यही उनकी अप्रतिम और मौलिक देन है इसी ने उन्हें विश्व विधुत बनाया है कोई भी दार्शनिक योगी और चिंतक चिंतन की किस धारा को जन्म देता है इसका घनिष्ट संबंध उसके जीवन से, शिक्षा दीक्षा से और परिवेश से होता है। श्री अरविन्द के चिंतन को समझने में उन परिस्थितियों से सहायता मिलेगी जिसमें उन्होनें जीवन बिताया है । जीवन जिन परिस्थितियों में जिया जाता है वे परिस्थितियां चिंतन को जन्म देकर उसे एक स्वरूप प्रदान करती हैं। कविता की उत्पत्ति के लिए किसी ने कहा है- वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।

बरस कर नयनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

जो कविता के विषय में सच है वही विचारों के उद्रेक के लिये भी सही है।

14.2 जीवन वृत्त

15 अगस्त 1972 में श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ते में हुआ था। श्री अरविन्द के पिता पश्चिम के प्रेमी थे। पुत्र को दिशा प्रदान करने में, उसे बनाने में माता-पिता का बहुत बड़ा हाथ होता है। उनके पिता की दृष्टि से पश्चिम का पलड़ा भारी था। परिणामस्वरूप वे नहीं चाहते थे कि उनके तीनों पुत्रों में से कोई भी भारतीय परम्परा और भाषाओं से जरा भी परिचय प्राप्त करें। उन्होंने श्री अरविन्द को जब वे केवल पांच वर्ष के थे आयरलैण्ड के कान्वेन्ट विद्यालय में दार्जलिंग भेज दिया। यह विद्यालय ऐसा था जिसमें अंग्रेज अफसरों के पुत्र शिक्षा ग्रहण करते थे। जब उनकी अवस्था 7 वर्ष की थी, उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया। वे वहीं रहे लगभग 20 वर्ष की अवस्था तक। उनके पिता से उनकी भेंट दुबारा नही हो सकी क्योंकि इंग्लेण्ड से लौटने के पहले ही उनके पिता स्वर्गवासी हो गये थे। इस प्रकार वे जन्म से ही प्रवासी रहे । उनकी माता रूग्णा थीं लौटकर आने पर वे अपने पुत्र को पहचान तक न पाईं श्री अरविन्द एक ऐसे बालक थे जो परिवार, देश और परम्परा के प्रभाव से एक दम दूर पालित पोषित हुए। उनकी प्रतिभा के स्वंतत्र होने का यही रहस्य है।

उन्होंने अपने मानचेस्टर निवास काल में लैटिन एवं फ्रेंच भाषा सीखी। उनकी स्वयं की यह स्वीकारोक्ति है कि "आंग्ल और योरोपियन चिंतन और साहित्य के प्रति मुझे अनुराग था"। लन्दन के सेण्ट पाल स्कूल में उन्हें ग्रीक भाषा सीखने का सुअवसर मिला और वहां उन्होंने ग्रीक भाषा सीख ली।

श्री अरविन्द एकान्त प्रेमी थे, संबंध बनाने में उनकी रुचि नहीं थी वे गंभीर मुद्रा में रहते थे, पर परिहास उन्हें प्रिय था। गंभीर मुद्रा में परिहास करने का उनका अलग ढंग था जो जीवन पर्यन्त बना रहा। वे यह कहा करते थे कि हास्य जीवन का रस है। इनका विनोदी रूप दार्शनिक रूप से अधिक महत्ववाला है।

ी अरविन्द एक पक्के योरोपियन मालूम पड़ते हैं। वे पश्चिम के निकट प्रतीत होते हैं। उनका सात से ोस वर्ष तक का समय इंग्लैण्ड में शिक्षा ग्रहण करते व्यतीत हुआ। उन्हें किताबों से बेहद प्यार था। कताबों से तो वे हमेशा लदे रहते थे। पढ़ने में उनकी गहरी अभिरुचि थी।

4.2.1 भारत वापस आने के बाद

ब वे भारत लौटे तो उनकी उम्र बीस वर्ष की थी। उनके पास कोई पद नहीं था। महाराष्ट्र के योगी लेले उनका परिचय बड़ौदा में हुआ। उनसे आप ने योग की शिक्षा ग्रहण की। योग प्रशिक्षण का एक दभुत परिणाम सामने आया। आश्चर्यजनक बात यह है कि केवल तीनदिन के अन्तर उनके मन में एक दभुत शान्ति ने अपना घर बना लिया। उनका मन एक विचित्र शून्यता से खिल उठा। बम्बई में ायोजिक एक सभा में योगी ले ले के कहने पर जब वे बोलने खड़े हुए तो सहसा उनके मुख्य से क्यों का स्रोत बहने लगा। उनकी बातों में थी एक अदभुत शक्ति, थी एक प्रकाश की झलक। उनकी ान्तरिक साधना तीव्रतर हो चली। जब वे जेल में थे तो एक अपूर्व घटना घटित हुई। वहां उन्हें वासुदेव दर्शन हुए। जब वे जेल से बाहर आये उस समय अपने को ईश्वरीय इच्छा के आगे पूर्णरूपेण समर्पित र चुके थे। उत्तर पाडा के भाषण से यह बात सिद्ध हो चुकी थी कि परम शक्ति के प्रति वे पूरी तरह णागत हैं। उन्हें आन्तरिक स्थिति का आभास मिल चुका था। उन्हें अन्दर यह आवाज सुनाई पड़ती कि उस कार्य की ओर-ध्यान दो जिसके लिए तुम्हें जेल लाया गया है। डरो मत,डरने की कोई वश्यकता नहीं है। उस आवाज ने अपने को वासुदेव बताया, नारायण कहा और कहा, होगा वही जो मैं हूँगा, वह नहीं होगा जो कोई और चाहेंगे। जो मुझे करना है उसे करने से कोई मानवीय शक्ति रोक नहीं कती। इस प्रकार जेल में उन्हें वासुदेव के दर्शन हुए।

र क्या, वे कठोर आध्यात्मिक साधना में जुट गये। उनकी कठोर साधना आत्म प्रसाद तक ही सीमित न । वह आत्म प्रसाद से बहुत आगे निकल गई। कठोर साधना से जिन अनुभूतियों को आपने एकत्र या उन्हें लिपिबद्ध भी करते चले गये। लेखों में प्रकाशित करते गये। इस प्रकार उनका एक दार्शनिक रूप प्रकट हुआ।

अरविन्द दर्शन में प्राचीन वेदान्त दर्शन की नवीन व्याख्या देखने को मिलती है। उन्होंने समन्वयकारी न को जन्म दिया। यह कहने में संकोच का जरा भी अनुभव नहीं हो रहा है कि उनकी दार्शनिक ाभा एवं दर्शन विश्व के किसी भी दार्शनिक से न्यून स्तर की नहीं है । सोलहवीं शताब्दी के बाद तवर्ष में दार्शनिक चिंतन समाप्त सा हो चला था। श्री अरविन्द का दिव्य जीवन इस भ्रामक धारणा को ोती देता है।

4.3 चिंतकों और घटनाओं का उन पर प्रभाव

अरविन्द ने सर्वमुक्ति के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनका यह सिद्धान्त भारतीय परम्परा से मेल ं खाता है। यहां तो व्यक्तिगत मुक्ति पर जोर है । जन्म मृत्यु के चक्र से छूटने की बात कही गयी है। ं सर्वमुक्ति की नूतन धारणा का समावेश कहां से हुआ। यह धारणा कई कारणों के संयुक्त प्रयास का फल मालूम पड़ती है। पश्चिमी शिक्षा तथा संस्कृति में पालन पोषण के फलस्वरूप भारतीय साहित्य दर्शन का अनुशीलन करने के उपरान्त स्वत: ही उनके मन में कुछ प्रतिक्रियायें हुई। जीवन के प्रति स्था का अभाव और जीवन से पलायन पाश्चात्य संस्कृति की मान्यता का विरोधी है। इसके अलावा

हीगेल दर्शन, फ्रांसीसी क्रान्ति और कार्लमार्क्स की विचारधारा के स्पष्ट प्रभाव का फल इनका सर्वमुक्ति का सिद्धान्त प्रतीत होता है। उन्होंने उक्त प्रभावों के दबाव में व्यक्तिगत मुक्ति की कामना रखने वाले लोगों से रूष्ट होकर सर्वमुक्ति के विचार का प्रचार-प्रसार किया। उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी होगी कि कुछ लोग अन्य पीड़ित लोगों को छोड़कर जन्म मृत्यु से छुटकारा पाकर परमतत्व में विलीन हो जाय। उनके मत से सबकी मुक्ति का सिद्धान्त न्याय संगत है यही नहीं हेगेल और मार्क्स भी समूह उत्थान के पक्षधर थे। विवेकानन्द और बंकिम का भी प्रभाव उन पर पड़ा जिसके रहते उनके मन में सर्वमुक्ति का भाव जागा।

14.4 कृतियाँ

श्री अरविन्द ने अपने विचारों को अपने तक ही सीमित नहीं रखा। सान्ध्य वर्ताओं, भाषणों और पुस्तकों के माध्यम से उन्हें जन-जन तक पहुंचाने का कार्य किया । आप द्वारा सृजित साहित्य का भण्डार काफी विस्तृत है। उनकी प्रमुख कृतियां निम्नलिखित हैं-

1. द लाइफ डिवाइन
2. द ह्यूमन सायकिल
3. द रिनेंसा इन इण्डिया
4. लाइट्स आन योग
5. द आइडियल्स आव हयूमन यूनिटी
6. द सिंथेसिस आव योग
7. एसेज आन द गीता
8. द फाउन्डेशन्स आव इण्डियनकल्चर
9. सावित्री
10. द मदर
11. एवोल्यूशन
12. द रिडिल आव दिस वर्ल्ड

14.5 मुख्य विचार

14.5.1 परमतत्व

परम तत्व के विषय में श्री अरविन्द की धारणा प्रचलित धारणाओं से भिन्न है। परम तत्व सत है या संभूति, एक है अथवा अनेक । इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने वाले अरविन्द प्रथम चिंतक हैं। लोगों का कहना है कि परम तत्व बुद्धि से परे है। इसलिए ज्ञान के साधन के रूप में बुद्धि की पकड़ से परम वास्तविकता बाहर है। ज्ञान का दूसरा साधन है स्वानुभूति अथवा अन्तरानुभूति जिसे सहज ज्ञान अथवा साक्षात ज्ञान भी कहा जाता है। परमतत्व की अनुभूति स्वानुभूति से संभव है। अन्तरानुभूति देश, काल, और कारणता की सीमाओं को लांघकर सीधे परम तत्व में पहुंचती है।श्री अरविन्द के तत्व सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता है सत्ता और संभूति का निदान। इनके अनुसार सत्ता और संभूति दोनों

त्य हैं क्योंकि सत्ता और संभूति एक और अनेक में से किसी को स्वीकार करना या अस्वीकार करना
क कठिन कार्य है। जहां एकता बुद्धि की मांग है वहीं अनेकता अनुभूति की मांग है। उन्होंने इस संबंध
यह निर्णय दिया कि एकता औरअनेकता सत्ता और संभूति परम तत्व के दो पहलू हैं और यह परम
व दोनों से परे भी है। ''दिव्य जीवन'' के प्रथम भाग के तीन अध्यायों में श्री अरविन्द ने सत् चित्त,
र आनन्द पर विशेष प्रकाश डाला है। अरविन्द का कहना है कि सत असत एक अनेक, निष्क्रिय -
क्रेय और निगुण-सगुण से परम तत्व परे हैं उसे द्वन्द्वों के कठघरें में बांधना अनुचित है उसे द्वन्द्वातीत
ना चाहिए। अत: वह बिना किसी विरोध के सत भी हो सकता है, भवत् (संभूति) भी हो सकता है।
यों कहें कि एक होते हुए अनेक हो सकता है। शंकराचार्य तत्व और प्रपञ्च में अन्तर करते हैं। उनका
ना है कि परमतत्व केवल शुद्ध सत् हो सकता है, भवत् (संभूति) तो आभास मात्र है। श्री अरविन्द
विचार को अर्धसत्य कहते हैं उनका कहना है कि प्रपञ्च तत्व की ही अभिव्यक्ति है, मिथ्या नहीं है।
ञ्च तो तत्व में अन्तर्निहित है। ध्यान देने की बात यह है कि ब्रह्म शब्द के लिए 'एक' शब्द का प्रयोग
ख्यावाचक अर्थ में नहीं हुआ है। वह 'एक्' शब्द पूर्णता का द्योतक है। वह अनेक विरोधी नहीं है चित्त
क है जो सक्रिय है निष्क्रिय नहीं। वह तो सचेष्ट है निश्चेष्ट नहीं। यह शक्ति चित् की निष्क्रियता और
क्रयता दोनों में विद्यमान है। ब्रह्म और शक्ति अलग-अलग नहीं हैं वे एक हैं। शक्ति ब्रह्म में सदा
ित है। किसी समय विशेष पर उत्पन्न नहीं होती है। शक्तिरहित निश्चेष्ट अनन्त अनन्त हो ही नहीं
ता। निश्चेष्ट ब्रह्म वदतो व्याघात है -शाब्दिक विरोध है।

र्ष यह है कि ब्रह्म (सच्चिदानन्द) पूर्ण है, अखण्ड है उसके द्वन्द्वों में से एक का खण्डन करना उसे
की पूर्णता अथवा अखण्डता में न देखने के तुल्य है।

.5.2 *परम तत्व और सृष्टि*

तत्व के विषय में बताया जा चुका है। सृष्टि की कैसे और क्यों की समस्या का निदान भी श्री
वेन्द ने अपने चिंतन में प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ी चुनौती अथवा समस्या यह है कि जो
ातीत है वह काल में कैसे भासमान हो सकता है, जो देशातीत है वह देश में कैसे प्रकट होता है?
म देश काल की सृष्टि असीम द्वारा कैसे संभव है? इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे
ते हैं कि ब्रह्म की एक अदभुत शक्ति है जिसे वे अतिमानस कहते हैं। इस अतिमानस शक्ति द्वारा
ाम से ससीम की सृष्टि होती है। जिसे वैदिक ऋषियों ने माया कहा है वही यह अतिमानस शक्ति है।
ाद में माया को प्रज्ञा कहा गया है। यह प्रज्ञा अतिमानस ही है।

सृष्टि क्यों? परब्रह्म में क्या कमी थी कौन सी अपूर्णता थी जो उसने नानारूप जगत को उत्पन्न किया?
प्रश्न स्वयं अरविन्द ने उठाया और उत्तर भी स्वयं देते हैं। इसका उत्तर है आनन्द। आनन्द ही जगत्
का प्रयोजन है यदि आनन्द सृष्टि का उददेश्य है तो संसार में दु:ख, कष्ट और बुराइयों की व्याख्या
हो श्री अरविन्द अपनी युक्तियों से सिद्ध करते हैं कि संसार के दु:ख कष्ट आनन्द का निषेध नहीं
च्चिदानन्त में अन्तर्भूत चित शक्ति और आनन्द द्वारा श्री अरविन्द ने सृष्टि के कैसे और क्यों प्रश्नों का
दिया। श्री अरविन्द का कहना है कि परम तत्व में असीमित सम्भावनाएं विद्यमान हैं सृष्टि उनमें से
है। सच्चिदानन्द विश्वसृष्टि स्वयं नहीं करता। यह कार्य वह अतिमानस के माध्यम से करता है
ानस सच्चिदानन्द और जगत के बीच की कड़ी है।

5.3 *अतिमानस*

संकेत किया जा चुका है कि श्री अरविन्द एक नए लोक के निर्माता थे। वे एक अनुसन्धानकर्ता थे।
ने सब लोकों के पार एक ऐसे लोक की खोज कर ली जो कहीं भी किसी मानचित्र पर अंकित नहीं
से उन्होंने अतिमानस नाम दिया। उसे वे पृथ्वी पर खींच लाना चाहते हैं। वे हमें आमंत्रित करते हैं
म भी उसे थोड़ा खींचें। अति मानव चेतना का ही रूपान्तर है। इनका पूर्व योग, अतिमानसिक योग

अथवा पार्थिव रूपान्तर के योग में जा मिलता है।

अतिमानस परम तत्व के सत्य को बनाये रखता है मन, जीवत्व और भूत वस्तु (Matter) उसकी निम्न स्तर की अभिव्यक्तियां हैं।

श्री अरविन्द ने अतिमानस और सच्चिदानन्द क संबंध का वर्णन किया है। उन्होंने अतिमानस को सृजनात्मक तत्व माना है। उन्होंने कहा कि अतिमानस सच्चिदानन्द का विशाल आत्म विस्तार है। वे सत्ता की दृष्टि से अतिमानस और सच्चिदानन्द में भेद नहीं करते हैं दोनों को एक मानते हैं। क्रिया की दृष्टि से उसे सच्चिदानन्द से भिन्न मानते हैं अतिमानस ईश्वर अथवा सृष्टा है जब कि सच्चिदानन्द निरपेक्ष सत्ता है। अतिमानस सम्भवत: सच्चिदानन्द की आत्माभिव्यक्ति है। यदि ऐसा है तो अतिमानस कैसे सच्चिदानन्द बना रह सकता है? इस प्रश्न का उनका उत्तर रहस्यात्मक है वे कहते हैं परम तत्व एक और अनेक दोनों हो सकता है। वह अनेकता में अपने को बिखेरता हुआ भी एक में बना रह सकता है।

14.5.4 चेतना की अपूर्व यात्रा

चेतना का अर्थ है आत्मा के प्रति सचेत होना। पौधों, धातुओं, परमाणुओं, विद्युत और भौतिक प्रकृति से सम्बद्ध सभी वस्तुओं में चेतना है। श्री अरविन्द मानव को हर स्तर पर सचेत रहने की सलाह देते हैं साधक केवल मानस द्वारा ही नहीं सब प्रकार से सचेत बने। वे मानसिक चेतना के नीचे और ऊपर चेतना की श्रेणियां बताते हैं जिनसे मनुष्य का सम्पर्क नहीं है और इस कारण वे उसे अचेतन मालूम होती हैं।

अरविन्द कहते हैं कि हमारे अन्दर चैतन्य केन्द्रो का एक पूर्णग्राम है जिनमें से प्रत्येक को एक विशेष तरह के स्पन्दन पर पूर्ण अधिकार है। उन्हें हम अपनी नीरवता की कोटि और ग्रहण शक्ति की तीव्रता के अनुसार पहचान और पकड़ सकते हैं । मानस इनमें से केवल एक केन्द्र है, चेतना का केवल एक रूप है। पर यह सर्वोत्तम पद का दावेदार बनना चाहता है।

इन चेतन केन्द्रों को भारत में चक्र कहते हैं। ये हमारे भौतिक शरीर में नहीं बल्कि एक अन्य आयाम में मौजूद हैं। (1) शीर्ष के ऊपर अवस्थित केन्द्र हमारे विचारशील मानस पर शासन करता है, उसे नियंत्रित करता है। विभासित, आत्म स्फूर्त, अधिमानसिक इत्यादि मन के उच्चतर लोकों के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित करते हैं इसे अतिचेतना नाम दे दिया गया है।

(2) मानसिक केन्द्र में दो केन्द्र हैं। एक भौहों के बीच स्थित है। दूसरा कण्ठ के स्तर पर होता है। पहले का काम हमारे सभी मानसिक व्यापारों की संकल्पशक्ति और क्रिया शक्ति को शासित करना है। इसे सूक्ष्म दृष्टि का केन्द्र अथवा तीसरा नेत्र कहते हैं दूसरे का काम मानसिक अभिव्यक्ति के अनेक रूपों को नियंत्रित करना है।

(3) प्राण-इसमें तीन केन्द्र हैं। (1) पहला, हृदय स्तर पर होता है जो हमारी भावात्मक सत्ता को संचालित करता है। (2) दूसरा नाभिक चक्र है जो शासन, अधिकार, विजय की प्रवृत्तियों, महत्वाकांक्षाओं आदि को संचालित करता है। (3) तीसरा नाभि और योनि के मध्यवर्ती निम्न प्राण है जिसका काम निम्नतम स्पन्दनों पर अधिकार रखना है। इन स्पन्दनों में ईर्ष्या, कामना, लोभ, क्रोध आदि शामिल हैं।

(4) मेरूदण्ड की जड़ में स्थित देह और अवचेतन केन्द्र हैं जिसका कार्य हमारी भौतिक सत्ता और काम पर अधिकार जमाए रखना है यह केन्द्र हमें और भी नीचे अवचेतन लोकों की ओर उद्घाटित करता है।

ाधारण मनुष्य में ये केन्द्र सो जाते हैं । वह दूसरे लोगों में, द्रव्यों में और सभी जगह अपने आप को खता है। वह अपने में ही सिमट जाता है। योग के माध्यम से ये केन्द्र खुल जाते हैं। श्री अरविन्द कहते कि इनका खुलना दो प्रकार से संभव है। ऊपर से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर।

ोग साधना द्वारा साधक एक दिन मेरूदण्ड में जाग्रत होने वाली ऊर्ध्वगामी पराशक्ति का अनुभव कर कता है। जो नागिन की तरह एक स्तर से देसरे स्तर को पार करती हुई सिर से ऊपर तक जाती है। यह राशक्ति अपने रास्ते में पड़ने वाले सभी केन्द्रों को ऊपर से नीचे की ओर धीरे-धीरे कोमलता के साथ ोल देती है इससे निचले केन्द्र बहुत देर बाद ही पूरी तरह से खुलते हैं इस प्रकार चेतना एक अपूर्व यात्रा ी करती है।

। अरविन्द के दर्शन एवं चितन में कुछ धारणाओं का प्रयोग हुआ है उन्हें स्पष्ट करना भी आवश्यक ीत होता है क्योंकि इन्हें उनके मुख्य विचार में स्थान मिला हुआ है। ये हैं मानस, अंत: प्रज्ञा धिमानस, चैत्य पुरुष और विवर्तन । एक-एक करके इन पर प्रकाश डालने से श्री अरविन्द की देन को झने में सहायत: मिलेगी। इन प्रत्ययों की अतिमानस से भिन्नता दर्शाना भी आवश्यक है। अतिमानस विचार पहले ही हो चुका है।

1.5.5 *मानस (मन)*

नस अतिमानस से पूरी तरह भिन्न है। मन वस्तुओं को खण्ड-खण्ड करके जानने का प्रयास करता है। उन्हें उस पूर्ण से अलग कर लेता है जिसके कि वे अंग हैं और उन्हें सम्पूर्ण अथवा समग्र से अलग के सर्वथा भिन्न मानता है। किसी वस्तु का विश्लेषण करने से अथवा खण्डों में बांटने से समग्र की एकता खण्डित हो जाती है फिर से स्थापित नहीं हो पाती। मन की दूसरी कठिनाई भी है। वह शरीर अपने को भिन्न समझता है जबकि सत्य तो यह है कि वह मस्तिष्क और नाड़ी मण्डल से इस प्रकार ा हुआ है कि इनसे अलग रहकर या होकर अपनी शुद्ध अवस्था में नहीं हो पाता ।

.5.6 *अन्त: प्रज्ञा (Intuition)*

उच्च कोटि के सन्देश मन तक भेजने का कार्य करती हैं परन्तु सामान्य मन के हस्तक्षेप के कारण इस ा को वह पूरा नहीं कर पाती। अन्त: प्रज्ञा अक्सर मानसिक क्रिया से मिश्रित होकर प्रभावित हो जाती जिसके कारण अन्त: प्रज्ञा बहुत उच्च अवस्था नहीं समझी जा सकती । श्री अरविन्द इसे उच्च ज्ञान ते हैं। पर वर्गसां की तरह सर्वोच्च ज्ञान नहीं मानते हैं। उच्च ज्ञान होते हुए भी यह मानस की परिधि में ै उससे आगे नहीं।

धिमानस *(Over mind)*

: प्रज्ञा मानस से उच्चतर होते हुए भी आकस्मिक और क्षणिक होने के कारण मानस और मानस के बीच की कड़ी नहीं हो सकती। एक और चेतना है जो अतिमानस से सीधे जुड़ सकती इसे श्री अरविन्द अधिमानस कहते हैं। मानस के अज्ञान मिश्रित ज्ञान और अतिमानस के सत्यपूर्ण ज्ञान ीच की कड़ी अधिमानस है। मानस से सर्वोच्च स्तर का ज्ञान होने के बाद भी अधिमानस अज्ञान से ृ है। अतिमानस की पूर्णता उसमें नहीं है। फिर भी मानस से कहीं उच्चतर स्तर की चेतना अधिमानस

5.7 *चैत्य पुरुष*

, प्राण और मन की चेष्टाएं ही सब कुछ नहीं है। इस उपरितलीय मन, जीवन और भौतिक शरीर से अधिक शक्ति युक्त और क्रियाशील इसके नीचे मन, जीवन और भूतवस्तु है। प्रत्येक मनुष्य में इस

प्रकार दो पुरुष हैं। एक काममय पुरुष जिसकी अभिव्यक्ति आशाओं, अभिलाषाओं में होती है। दूसरा एक आन्तरिक चैत्य पुरुष (Psychic being) जो शुद्ध प्रकाश है प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण हैं। यह पुरुष सच्चिदानन्द के आनन्द का ही एक अंश है। हमारे आन्तरिक जीवन का केन्द्र बिन्दु यही है। यह हमारे आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन का द्वार है। कठोपनिषद में वर्णित प्रत्यगात्मा यही है वास्तविक आत्मा यही है। इसे जानना आध्यात्मिक जीवन का पहला सोपान है।

चैत्य पुरुष गुप्त मार्ग दर्शक, अक्षय, और अमर है। यह (चैत्य पुरुष) परमशुद्ध दिव्य, ज्योतिर्मय अन्तरात्मा है इसका निवास मानव की हृदय गुफा के अन्दर है। यह दिव्य ज्वाला मानव में छिपी और ढकी रहती है। यह धुआं रहित ज्वाला है। सदा प्रकाशित रहना इसकी विशेषता है। यह जब तक अज्ञान को ज्ञान की ओर मोड़ नहीं देती बढ़ती रहती है। यह आन्तरिक ज्योति है, आन्तरिक ध्वनि है। श्री अरविन्द कहते हैं कि चैत्य पुरुष का विकास अचानक नहीं होता, यह धीरे-धीरे विकसित होता है अथवा इसे विकसित करना पड़ता है श्री अरविन्द के मतानुसार अकेले इसी से रूपान्तरण नहीं हो सकता । अति मानस के अवरोहण की भी आवश्यकता है।

14.5.8 *विवर्तन (Evolution)*

विवर्तन का अर्थ विकास से है। श्री अरविन्द की विकासवाद की धारणा विकास की अन्य धारणाओं से भिन्न है। वे क्रमिक विकास के प्रति आस्थावान न होकर विकास को उन्मेषमूलक मानते हैं। अपनी 'हयूमन सायकिल' शीर्षक पुस्तक में विश्व विकास चक्रक प्रणाली का सहारा लिया है। वे विकास को सीधी रेखा में नहीं वरन् वर्तुलाकार मानते हैं। इनका विकास छोटे से बड़े वृत्तों में छलांग लगाता हुआ आगे की ओर बढ़ता है।

इनकी विवर्तन प्रक्रिया के दो भाग हैं— (1) अवरोहण और (2) आरोहण । पहले आत्मा का संज्ञाहीन जड़ में अवरोहण होता है। बाद में जड़ से परम सत्ता की ओर आरोहण होता है। अवरोहण और आरोहण दोनों मिलकर विकास की प्रक्रिया को पूरा करते हैं।

सच्चिदानन्द और अतिमानस अज्ञान रहित है। चित् शक्ति जब सृष्टि के लिये अवरोहण करती है तो उसको आत्म सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। यह सीमा जो आंशिक ज्ञान है अज्ञान कही जाती है। अपूर्ण या आंशिक ज्ञान अज्ञान है। अतिमानस के नीचे की ओर उतरने से सीमा (परिमिति) बनने लगती है। अतिमानस और मानस के बीच श्री अरविन्द ने कई स्तर ढूंढे हैं— अधिमानस (Over mind), अन्त: प्रज्ञा (intuition) प्रदीप्त मानस (Illuminated mind) और उच्चतर मानस (High mind)

मनुष्य का मानस सिर (शीर्ष) तक सीमित है। मानस के अन्य स्तर जैसे उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्त: प्रज्ञा और अतिमानस सिर से ऊपर की ओर हैं अथवा शीर्ष की परिधि से बाहर हैं ये सभी मानस हैं पर इन सबमें अन्तर है। अन्तर का संबंध अज्ञान के दूर होने और प्रकाश के प्रारम्भ होने से है उच्चतर मानस में अज्ञान का थोड़ा अंश दूर होने लगता है और प्रकाश का आगमन प्रारम्भ हो जाता है। प्रदीप्त मन में अज्ञान और अधिक घटता है तथा प्रकाश और अधिक आने लगता है। अन्त: प्रज्ञा में उससे भी अधिक प्रकाश भरने लगता है। अधिमानस मानस की परिधि में उच्चतम स्थिति का द्योतक है। सत्य को ग्रहण करने की क्षमता अधिमानस की खास विशेषता है। यह मानस से ऊपर तथा अतिमानस से नीचे होने के कारण दोनों के बीच की कड़ी है।

अवरोहण का अर्थ नीचे उतरना अथवा नीचे की ओर जाना है। उच्चतम अवस्था से निम्न निम्नतर और निम्नतम अवस्थाओं की ओर गमन करना है। अवरोहण में अतिमानस से चेतना नीचे की ओर उतरना प्रारम्भ करती है और वह अधिमानस, अंत: प्रज्ञा, प्रदीप्त मानस, उच्चतर मानस, मानस और प्राण में

उतरती हुई भूत वस्तु में उतर जाती है जहां जाकर वह सो जाती है। भूतवस्तु वह वस्तु है जहां चेतना जाकर सो जाती है चेतना के नीचे उतरने के साथ साथ ज्ञान में कमी होती चली जाती है और अन्त में भूतवस्तु में आते आते वह अचेतन (संज्ञाहीन) जड़ का स्वरूप ले लेती है।

जहाँ अवरोहण में चेतना नीचे की ओर उतरती है वहां आरोहण में चेतना ऊपर की ओर चढ़ती है। चेतना पहले भूतवस्तु में प्रवेश करती है, फिर प्राण (जीवत्व) में, इसके बाद मानस में, और फिर मानस से अतिमानस की ओर चढ़ने का कार्य करती है। इसमें चेतना नीचे से ऊपर की ओर उठती है।

आरोहण और अवरोहण का अन्तर निम्न बिन्दुओं की सहायता से समझाया जा सकता है।

अवरोहण	आरोहण
आत्मा का विस्मरण है	1. आत्मा का स्मरण है
स्वरूप का बंद होना निमेष है	2. स्वरूप का खुलना (उन्मेष) है
तिरोभाव है	3. आविर्भाव है
आत्म गोपन है	4. आत्म प्रकाशन है

विवर्तन एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके कुछ नियम हैं। विवर्तन उन्नयन, प्रसारण और एकीकरण की प्रक्रिया है। अत: उन्नयन (heightening), प्रसारण (widening) और एकीकरण (integrtion) विकास के तीन नियम हैं। ये नियम विकास मूलक दर्शन में श्री अरविन्द की एक महती देन है। उन्नयन का अर्थ उच्च से उच्चतर स्तरों पर आरोहण की प्रक्रिया से लगाया जाता है। जैसे जड़ का प्राण में, प्राण का मन में उन्नयन आदि। उन्नयन के साथ विकास की प्रक्रिया प्रसारित भी होती है। उदाहरणार्थ पुराने तत्वों में नवीन तत्वों का आविर्भाव (उन्मेष) होता है और नवीन तत्व पुरानों में संगति बैठाकर अपना स्थान बना लेते हैं। जड़ में प्राण का आविर्भाव होने पर प्राण को धारण करने के लिये जड़ को अपना विस्तार करना पड़ता है। उन्नयन और प्रसारण से एक तीसरी प्रक्रिया का उद्भव होता है जिसे श्री अरविन्द एकीकरण या पूर्णयन कहते हैं। एकीकरण की प्रक्रिया में उच्चतर अवस्था निम्नतर को अपने में खपा लेती है और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल रूपान्तरित कर देती है जिससे निम्नतर अवस्था उच्चतर के साथ घुलमिल कर एक हो जाती है।

14.5.9 विवर्तन की विशेषताएं

1) विवर्तन की प्रक्रियाएं अलग अलग कार्यशील न होकर मिलकर कार्य करती हैं। ये सब सहकारी (2) आरोहण की प्रत्येक अवस्था में निम्नतर उच्चतर को नहीं विकसित करता अर्थात विकास नीचे ही ठेलना नहीं है बल्कि ऊपर से कर्षण भी है। (3) यहां यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जिसका पहले से अन्तर्भाव नही होता है जो चीज पहले से छिपी नहीं होती है, पहले से मौजूद नहीं होती है उसका आविर्भाव नहीं होता है। जीवत्व (प्राण) में मन का पहले से ही अन्तर्भाव रहता है जिससे मन का आविर्भाव हो जाता है। विकास की प्रक्रिया में किसी जादू के द्वारा जीवत्व में मन का विकास नहीं किया जा सकता (4) आरोहण के प्रत्येक वर्ग में एक अचिन्तित, अपूर्व, अज्ञात, अननुमानित नवीन घटना की उत्पत्ति होती है। प्राण भूतवस्तु का आवर्धन नहीं है। प्राण भूत वस्तु से भिन्न एक नवीन विशिष्टता है। (5) विवर्तन आंशिक न होकर सम्पूर्ण होता है भाव यह है कि विवर्तन द्वारा जब एक उच्च वर्ग एक नवीनता के साथ आविर्भूत (प्रकट) होता है तो वहअपने साथ निम्नतत्व को भी रूपान्तरित कर लेता है। उच्चवर्ग में अरोहण अपनी विशेषता अथवा नवीनता को अपने तक ही सीमित नहीं कर लेता बल्कि वह निम्न तत्व को भी परिष्कृत और रूपान्नरित कर लेता है। विवर्तन की

सम्पूणता का यहा अथ ह।

श्री अरविन्द के विवर्तन सिद्धान्त की उक्त पांच विशेषताओं के अतिरिक्त दो अन्य विशेषताएं हैं (1) रचनात्मक शक्ति (Creative power) भूत वस्तु, प्राण और मन में से किसी में भी नहीं है। यह शक्ति इन तीनों से परे अतिमानस में है जो आत्मिक है। श्री अरविन्द के पहले आध्यात्मिक क्षेत्र में यही धारणा बलवती रही है कि जड़ प्राण और मन का क्षुद्र स्वभाव नहीं बदल सकता, इस पार्थिव जीवन में जन्म मरण से मुक्ति नहीं मिल सकती। अत: साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करके ब्रहम में विलीन हो जाने के एक मात्र विकल्प का प्राविधान था। मोक्ष का आशय जन्म मरण के चक्र से छुटकारा पाना था।

श्री अरविन्द जैसे एक ऐसे महान दार्शनिक का जन्म भारत में हुआ जिन्होंने यह बताया कि अतिमानस शक्ति के धरती पर उतरने से जड़, प्राण, मन आदि सभी रूपान्तरित हो जायेंगे और धरती पर दिव्य जीवन का साम्राज्य होगा। मानव अज्ञान से मुक्त होकर दिव्य प्राणी बन जायेगा और उसमें दिव्य प्रकृति का विकास होगा।

दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्तिगत और वैश्विक दोनों प्रकार के विवर्तन होंगे।

14.5.10 समाज दर्शन

श्री अरविन्द के मुख्य विचार की चर्चा में उनके समाज दर्शन संबंधी विचारों की जानकारी प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अति संक्षेप में उन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है। कार्ल मार्क्स समाज की रचना को आर्थिक आधार पर खड़ी मानते हैं। श्री अरविन्द इसे मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आधार देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह आधार थोड़ा सा दुर्बोध और जटिल है जिससे उनके समाज दर्शन को समझने में जिज्ञासुओं को कठिनाई एवं दुर्बोधता का सामना करना पड़ता है। इनका समाज दर्शन मस्तिष्क की सीमा को अतिक्रान्ति करने वाला है। मानसिक गठन, मानसिक गतिविधियों को आर्थिक गतिविधियों की तुलना में समझना थोड़ा कठिन अवश्य है इसलिए इनके समाज दर्शन को समझने के लिए मानसिक संरचना और मस्तिष्क की सीमाओं तथा सामर्थ्य का ज्ञान अभीप्सित है। उनका समाज दर्शन वेदान्त दर्शन से प्रभावित जान पड़ता है। आप मानव समस्याओं को मुख्यतत: मनोवैज्ञानिक समस्याएं मानते थे। आप की इतिहास की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है और मनोवैज्ञानिक सोपानों को ध्यान में रखकर की गयी है। ये मनोवैज्ञानिक समस्याएं कैसे सुलझें इसकी उन्हें चिंता थी। इन समस्याओं का उनकी राय में एकमात्र सुलझाव मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण है। इनके समाज दर्शन में वर्गीकरण, पूंजीवाद और शोषण का विरोध प्रतिबिंबित होता है। आय समाज अथवा विश्व को अच्छा एवं प्रगत बनाना चाहते थे। आप समाज से आशय विश्व समाज से लगाते थे। इन्होंने भावी समाज का स्वरूप कैसा होगा? इसकी कल्पना की थी। अपने इस कल्पना प्रसूत भव्य समाज को साकार रूप देने के लिये इन्हें नए समाज दर्शन को आकार देना पड़ा। इनका कल्पना प्रसूत भव्य समाज दिव्य प्राणियों का भावी दिव्य समाज है जिसके सभी प्राणी दिव्यता युक्त होंगे उनमें दिव्य प्रकृति का विकास होगा। इन्होंने मानव विकास प्रक्रिया अथवा भावी दिव्य समाज की प्रक्रिया का जो विश्लेषण किया है उस पर अगली इकाई में विचार होगा।

इनके समाज दर्शन का जन प्रभाव पक्ष अथवा लोक प्रियता का पक्ष कमजोर रहा है। जितना लोकप्रिय और आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक कार्ल मार्क्स का समाज-दर्शन था। जितनी जन-जन में उसकी पैठ थी इनके दर्शन में उस का अभाव था। कारण स्पष्ट है— इनके समाज दर्शन में कल्पना का तत्व है, संस्थाओं की अवहेलना हुई है इनके समाज दर्शन में व्यक्ति, समाज (समष्टि) के रूपान्तारण की बातें एक तरफा लगती हैं। इनके दर्शन में परिवार, विवाह और सामाजिक स्तरण के वर्णन की कमी खटकती है।

ा समस्याओं की उपेक्षा करके भावी और मनोवैज्ञानिक विकास को वे चाहते हैं। उसकी अपेक्षा यस्कों से तो की जा सकती है पर बालकों और किशोरों को तो इस आध्यात्मिक विकास से अलग बना पड़ेगा । इस यथार्थ जगत में बालक और किशोर अधिक उर्जा सम्पन्न माने जाते हैं और भावी काास के कर्णधार अथवा उसकी बागडोर संभालने वाले होते हैं। उनको छोड़कर सर्वांग योग का पना कैसे पूरा किया जा सकेगा। वे मौन रहे परिवार संस्था के प्रभाव के विषय में, वे मौन रहे बालक विकास में शिक्षक और संरक्षक के प्रभाव के विषय में। इन्हीं मौनताओं और उपेक्षाओं ने उनके माज दर्शन को कमजोर बनाया है।

4.6 सारांश

ा इकाई में आपने पहले श्री अरविन्द के जीवन वृत्त का अध्ययन किया। इसके बाद उन पर प्रभाव लने वाले चिंतकों एवं घटनाओं का अनुशीलन किया। इसके उपरान्त उनके मुख्य विचारों को एक क करके पढ़ा। इस इकाई के अन्त में आपने श्री अरविन्द के समाज दर्शन का अध्ययन किया। इस काई के अध्ययन से श्री अरविन्द की सही तस्वीर और उनके चिंतन का सही स्वरूप आप के मानस ल पर अंकित हुआ होगा ।

4.7 शब्दावली

वरोहण	नीचे की ओर उतरना, सर्वोच्च चेतना का अपने से नीची चेतनाओं की ओर उतरना
न्तर्भाव	पहले से ही मौजूद छिपा भाव
रोहण	ऊपर की ओर चढ़ना, निम्न चेतना का उच्चतर चेतना की ओर बढ़ना
ाविर्भाव	उद्भव, उद्गम, जन्म
यन	उन्नति
मेष	आविर्भाव
कीकरण	एकता, पूर्णायन, समाकलन
ड़	संज्ञाहीन
वित्व	प्राण
वर्तन	विकास
च्चिदानन्द	ब्रह्म

4.8 उपयोगी पुस्तकें

ा अरविन्द , द लाइफ डिवाइन ।

ा अरविन्द, द लाइफ डिवाइन ॥

ा अरविन्द, द ह्यूमन सायकिल

ा अरविन्द, द रिनेंसाइन इण्डिया

राणी, ए. वी., लाइफ आव श्री अरविन्दों, प्र. सं. 1958, श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी।

14.9 बोध प्रश्न

1. श्री अरविन्द के स्वभाव के विषय में पांच पंक्तियां लिखिये।
2. श्री अरविन्द को प्रभावित करने वाली कुछ घटनाओं का उल्लेख कीजिये।
3. श्री अरविन्द पर किन चिंतकों का विशेष प्रभाव पड़ा। उल्लेख कीजिये
4. जेल में उन्हें किसके दर्शन हुए। दर्शन देने वाली शक्ति ने उनसे क्या कहा?
5. श्री अरविन्द के समाज दर्शन के बारे में आप क्या जानते है? अति संक्षेप में लिखिये?
6. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

   (अ) चैत्य पुरुष (ब) अधिमानस (स) अतिमानस

14.10 प्रश्नों के उत्तर

1. उन्हें एकांत वास प्रिय था। संबंध बनाना उन्हें पसन्द नहीं था। वे गंभीर मुद्रा में रहते थे। उन्हें परिहास अच्छा लगता था। गंभीर मुद्रा में परिहास करने का उनका ढंग अलग था जो जीवन भर बना रहा ।

2. जेल में वासुदेव के दर्शन की घटना और फ्रांसीसी क्रान्ति ने उन्हें अधिक प्रभावित किया।

3. महाराष्ट्र के योगी लेले, हीगेल, कार्लमार्क्स, ट्वायनबी, फ्रायड, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिम चन्द चटर्जी और महात्मागांधी का प्रभाव उन पर देखा जा सकता हे।

4. जेल में उन्हें वासुदेव के दर्शन हुए। जब वे जेल में थे तो उन्हें अन्दर से एक आवाज सुनाई पड़ी। उस आवाज ने अपने को वासुदेव कहा, नारायण बताया। उस शक्ति ने उनसे कहा, "उस कार्य की ओर ध्यान दो जिसके लिए तुम्हें जेल लाया गया है।" डरो मत, डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।

5. श्री अरविन्द ने समाज की रचना को मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार पर खड़ा करना चाहा। इनका समाज दर्शन मस्तिष्क की सीमा को अतिक्रान्त करता है। इनके समाज दर्शन को समझने के लिए मानसिक संरचना और मस्तिष्क की सीमाओं को समझने की जरूरत है। आप ने इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। वे दिव्य समाज की रचना के आदर्श को लेकर आगे बढ़े। इन के समाज दर्शन में कल्पना का तत्व सपष्ट दीखता है। इस कल्पना तत्व ने उनके समाज दर्शन को कमजोर किया। वे कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी की भांति लोक प्रिय समाज दर्शन नहीं दे सके।

6. अ— चैत्य पुरुष – चैत्य पुरुष शुद्ध प्रकाश है, प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण है, मनुष्य के आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन का द्वार है। कठोपनिषद में इसे प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह ज्योतिर्मय अन्तरात्मा है। मानव की हृदय गुफा में इसका निवास है।

यह दिव्य ज्वाला मानव के अन्दर छिपी और ढकी रहती है। यह धुआँ रहित सदा प्रकाशित रहने वाली ज्वाला है। यह आन्तरिक ज्योति और आन्तरिक ध्वनि है। इस चैत्य पुरुष के उभरने पर विकास का कार्य प्रारम्भ होता है।

5. ब— अधिमानस — यह अतिमानस से सीधे जुड़ने वाली चेतना है। मानस के अज्ञान मिश्रित ज्ञान और अतिमानस के सत्यपूर्ण ज्ञान के बीच की कड़ी है यह मानस, उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस और अन्त: प्रज्ञा से उच्चतर चेतना है। अधिमानस पूर्ण अतिमानसिक प्रकाश को हमसे दूर रखता है। यह वह सुवर्णमय ढक्कन है जिसने सत्य के मुख को ढक रखा है। अतिमानस की ओर आरोहण तभी हो सकता है जब इस ढक्कन अथवा आवरण को हटा दिया जाय।

5. स— अतिमानस — श्री अरविन्द ने एक अनुसन्धान कर्ता होने के कारण सब लोकों के पार एक ऐसे लोक की खोज की जो किसी भी मानचित्र पर अंकित नहीं है। यही अन्वेषित लोक अतिमानस है। अति मानस परम तत्व के सत्य को बनाये रखता है । अरविन्द का अतिमानस एक सृजनात्मक तत्व है। अतिमानस सृष्टा है, ईश्वर है। अतिमानस सच्चिदानन्द का विशाल आत्म विस्तार है।

इकाई 15 : योग

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 योग का शब्दार्थ

15.3 मनुष्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुरूप योग साधना

15.4 योग प्रणाली का उद्देश्य

15.5 सर्वांग योग एक आध्यात्मिक अभियान

15.6 सर्वांग योग का अर्थ एवं शक्ति

15.7 मानव सत्ता के दो छोर

15.8 सर्वांग योग की विशेषता

15.9 समर्पण पर बल

15.10 सर्वांग योग विभिन्न प्रणालियों का समन्वय

15.10.1 हठयोग

15.10.2 राजयोग

15.10.3 कर्म योग

15.10.4 भक्ति योग

15.10.5 ज्ञान योग

15.10.6 तंत्र योग

15.11 सर्वांग योग एक कठिन योग

15.12 सारांश

15.13 शब्दावली

15.14 उपयोगी पुस्तकें

15.15 बोध प्रश्न

15.16 प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- योग का अर्थ बता सकेंगे ।
- सर्वांग योग का अर्थ एवं ध्येय का वर्णन कर करेंगे।
- योग की परम्परागत प्रणालियों का उल्लेख कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

स इकाई में आप योग के शब्दार्थ से पढ़ना प्रारम्भ करेंगे। इसके बाद योग से जुड़े महत्वपूर्ण बिन्दुओं ा अध्ययन करेंगे। 'सर्वांग योग विभिन्न प्रणालियों का समन्वय' शीर्षक के अन्तर्गत थोड़ा-थोड़ा सभी र्व प्रचलित योग प्रणालियों के बारे में पढ़ेंगे। अन्त में योग मार्ग एक कठिन मार्ग के विषय में अध्ययन रेंगे। इस इकाई का अध्ययन कर आप श्री अरविन्द के योग को अच्छी तरह समझ सकेंगे।

र्वांग योग : अवधारणा एवं विवेचन — भारत वासियों के जीवन, दर्शन और संस्कृति से योग का हरा संबंध रहा है। संस्कृत ग्रन्थों - वेद, स्मृति तथा पुराणों में योग का पर्याप्त एवं विशद वर्णन हुआ । जैन धर्म, बौद्ध धर्म में भी योग का वर्णन मिलता है। आत्मोन्नति एवं चित्त शुद्धि के उन्नत साधन के प में भारतीय दर्शन में योग के महत्व को स्वीकारा गया है।

5.2 योग का शब्दार्थ

ोग शब्द का निर्माण संस्कृत के युज् धातु से हुआ है जिसका मतलब जोड़ना, मिलाना अथवा एक करना । अन्य शब्दों में योग एक प्रकार का मिलन या संयोग है। इसका विलोम वियोग है। शब्दिक अर्थ की ष्टि से योग जीवात्मा का परमात्मा से, भक्त का भगवान से अथवा जीव का शिव से मिलन अथवा योग है। योग जीवन के परम प्राप्य (पुरुषार्थ) को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक पथ है। मुक्ति ग-शास्त्र का लक्ष्य है।

5.3 मनुष्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुरूप योग साधना

ुष्य अपनी अलग-अलग प्रकृति तथा साध्य के अनुसार योग साधना में लगता है, योग प्रणाली को नाता है। मनुष्य में सात्विक राजसिक एवं तामसिक तीनप्रकार की प्रकृति विद्यमान है। शरीर एवं ग शक्ति को आधार बनाकर उसी में ईश्वरीय अनुभव का स्पर्श हठयोग कहा जाता है । हठयोग के र्ग पर चलने वाला साधक हठयोगी कहलाता है। हठयोग की साधना निम्न स्तर की साधना है। राज ग मानस केन्द्रित है अथवा मनस आधारित है। मन चंचल होता है और बाह्य विषयों में अभिरुचि ने के कारण उन्हीं में लिप्त (डूबा) रहता है। वह स्वस्वरूप को जानने में असमर्थ होता है पर चलता पर नियंत्रण करने में सफल होने पर अर्न्तमुखी होकर अन्तस्थल में स्थित परमात्मा से उसका लन (योग) हो सकता है। इस हेतु अष्टांग योग की साधन का वर्णन मिलता है। उक्त वर्णित दो गों के अलावा मनुष्य अपनी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रखते हुए ज्ञान ध्यान, भक्ति और कर्म मार्ग पर चलकर अलग-अलग साधना पद्धतियों को अपनाता है। इन्हें ज्ञान योग, ध्यान योग, भक्ति योग र कर्म योग की संज्ञा दी गयी है।

5.4 योग प्रणाली का उद्देश्य

ने की आवश्यकता नहीं, श्री अरविन्द एक महान योगी थे। अपने तीन दशकों के अनुभव सिद्ध लक्ष्य प्राप्त करने के लिये उन्होंने एक विशेष साधन पथ का उल्लेख किया है। भारतीय दर्शन की एक ोषता रही है कि प्रत्येक दर्शन में सैद्धन्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक साधन पक्ष जुड़ा हुआ है। ामान्यतया इस साधन पक्ष को ही योग नाम दिया जाता है। सैद्धान्तिक लक्ष्य तो एक सा ही रहा है और व्यक्तिगत मुक्ति कहा गया है। मुक्ति की धारणाओं में भेद होने से साधन मार्ग में भिन्नता आ जाती है।

उदाहरणस्वरूप ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग आदि इसी भेद को दर्शाते हैं। कोई भक्ति योग को अपनाता है कोई कर्म योग को तो कोई ज्ञानयोग को। सभी योगों का गन्तव्य एक ही है- मोक्ष अथवा निर्वाण।

श्री अरविन्द के दर्शन का सैद्धान्तिक लक्ष्य सभी भारतीय दर्शनों से पृथक है जिसके कारण इनका योग मार्ग ये साधन पक्ष पूर्णरूपेण विलक्षण है। जैसा पूर्व में ही संकेत किया जा चुका है कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का मूल ध्येय व्यक्तिगत मुक्ति (निर्वाण) अथवा जन्म मृत्यु के दुःख से छुटकारा रहा है। श्री अरविन्द का लक्ष्य भारतीय दार्शनिक परम्परा से एकदम भिन्न दिखता है। उन्होंने सर्वमुक्ति के सिद्धान्त की स्थापना करके अपनी मौलिकता और मानववादी दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया है। वे इसी सांसारिक जीवन में अथवा मृत्युलोक में दिव्य जीवन लाने के पक्षधर हैं। इस पृथ्वी पर दिव्य शक्ति उतार कर दिव्य प्राणियों की सृष्टि कर पृथ्वी पर दिव्य जीवन उतार लाना चाहते हैं। इसके लिए वे विकासवाद का सहारा लेते हैं। विकास प्रक्रिया द्वारा अतिमानसिक स्थिति पर पहुंचना चाहते हैं। सैद्धान्तिक लक्ष्य नवीन होने के कारण श्री अरविन्द के योग मार्ग में भी नवीनता का पुट है। उन्होंने अपने इस योग को सर्वांग योग कहा है। इसे हम पूर्ण योग भी कह सकते हैं।

15.5 सर्वांग योग एक आध्यात्मिक अभियान

श्री अरविन्द परम्पराओं से दूर हटकर अथवा उनसे विपरीत चलकर भी परम्पराओं से मोह नहीं तोड़ पाये हैं। वे परम्पराओं से अपना निरंतर संबंध बनाये रखने के प्रयास में लगे रहे। यद्यपि उनका योग नवीन है पर वे कहते यही हैं कि उनका योग कोई नवीन योग नहीं है। उनका योग भगवदगीता के कर्मयोग से संबंधित है। उनका योग एक आध्यात्मिक अभियान है जो अनुभव पर आधारित है। यह योग 30 वर्ष की उनकी साधना का परिणाम है। यह योग पूर्णतया परीक्षित एवं अनुभवसिद्ध है।

15.6 सर्वांग योग का अर्थ एवं शक्ति

सर्वांगीण योग जैसा इसका नाम है सम्पूर्ण मानव जाति की भलाई अथवा कल्याण की प्रबल भावना से (यह योग) ओत प्रोत है। यह मानव जाति को अज्ञान, अंधकार तथा मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश तथा अमरता की ओर ले जाने वाला है। इस अर्थ में यह एक महान एवं श्रेष्ठ मार्ग है। इनके पूर्ववर्ती योग के प्रचलित मार्गों में इस ध्येय तक पहुंचाने की शक्ति की कमी है। वे मानव को इस अन्तिम लक्ष्य तक नहीं ले जा सकते। सर्वांगीण योग में ही यह शक्ति है कि विकास द्वारा सम्पूर्ण मानवता को इस लक्ष्य तक पहुंचा सके।

15.7 मानव सत्ता के दो छोर

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की सत्ता के दो छोर हैं। एक छोर पर है जड़ तो दूसरे छोर पर आत्मा है। सर्वांग योग दोनों में पूर्ण सांमजस्य स्थापित कर आगे बढ़ना चाहता है। जब मानव भौतिक जगत् को एकमात्र सत्य मानने लगा और अपनी इस समझ या मान्यता के कारण जीवन की सार्थकता को इसी में ढूढने लगा तो जड़वादी बन बैठा। जड़वाद बुढापा, मौत और जिन्दगी के अन्य दुःखों की मीमांसा देखकर आध्यात्मवादी जीवन के प्रति पलायनवादी बन बैठा। इनके सर्वांग योग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनूठा समन्वय देखने को मिलता है। इनके योग का लक्ष्य न तो ब्रह्म में विलीन होने का है और न ही भौतिक जीवन के क्षणिक सुखों में बह जाने का। इस पृथ्वी पर रोग, शोक बुढ़ापा और मौत से छुटकर अमर दिव्य जीवन को विकसित करने का साध्य लेकर भी अरविन्द का योग बढ़ना चाहता है

थवा बढ़ता है। वे कहते हैं कि वास्तविक मुक्ति का अर्थ सांसारिक जीवन का बहिष्कार नहीं, वरन् ह तो आध्यात्मिक आत्म विकास से व्यक्ति का पलायन है। इसी प्रकार वास्तविक त्याग केवल रिवार और समाज का त्याग नहीं वरन् ईश्वर के साथ आन्तरिक तादात्म्य है।

5.8 सर्वांग योग की विशेषता

र्वांग योग एक ऐसा मार्ग है जो उन आदर्शों को प्राप्त करता है जहां अन्य मार्ग कारगर अथवा प्रभावी हीं सिद्ध हो पाते हैं। सर्वांग योग जीवन में निहित सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से एक सा व्यवस्थित प्रयास है जो आत्म पूर्णता की ओर ले जाता है। यह व्यक्ति का सार्वभौम तथा ात्पर अस्तित्व से एक मिलन है। इसमें व्यक्ति को तत्व तक ले जाने का प्रयास सम्मिलित है। दैवी त्व में प्रवेश पाने के लिये अथवा पृथ्वी पर दैवी तत्व को उतारने के लिऐ व्यक्ति और मानवता के त्यीकरण, संकलन और अतिमानसीकरण के लिए एक अधिक व्यापक प्रणाली की आवश्यकता है र्वांग योग सभी पुराने योगों से भिन्न है। वह पिछले पथों का अनुगमन न होकर एक आध्यात्मिक ोज है। अतीत में मानस, संवेगों , क्रिया और भौतिक तत्व को या तो आध्यात्मिक बनाने का प्रयास ीं किया गया या फिर किये गये प्रयास नैतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था से बंधकर रह गये। श्री रविन्द के सर्वांग योग का उद्देश्य समस्त मानव प्रजाति का आध्यात्मीकरण, दिव्य प्राणियों की प्रजाति ा जन्म है। अशुभ से परिष्कृत होकर और आत्म में दैवी सम्पर्क से रूपान्तरित होकर योगी विश्व में ी शक्ति के केन्द्र के रूप में कार्य करता है। इनका योग श्रीकृष्ण के कर्म योग की नवीन व्याख्या है। ामें जीवन से भागने पर जोर नहीं है। जीवन को कुरूक्षेत्र बनाकर अनवरत युद्ध करते रहने पर यह टिका और यही श्री अरविन्द योग की साधना का मूल मंत्र है। यह योग कर्म की प्रधानता को स्वीकार करता कर्मशून्य जीवन भी क्या कोई जीवन है। इस योग में कर्म अनिवार्य है।

5.9 समर्पण पर बल

र्वांग योग की पूर्ति बौद्धिक योग्यता पर नहीं आश्रित है। यह तो आत्म त्याग और आत्म समर्पण पर धारित है क्योंकि आत्म त्याग और आत्म समर्पण द्वारा मन, प्राण तथा शरीर का पूर्ण रूपान्तरण सम्भव सकता है। इस नाशवान दुनिया में व इस जीवन में अमृतमय दिव्य जीवन की प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा हेतु व को मां भगवती के हाथों में सौंप देने की आवश्यकता है। बिना आत्म समर्पण के इस दिव्य जीवन प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

र्पण अथवा स्वयं को देना ही साधना का रहस्य है। दिव्य तत्व के प्रति निरपेक्ष समर्पण सर्वांग योग अनिवार्य लक्षण है। श्री अरविन्द द्वारा तीन प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति का जिक्र किया गया है:

आत्म समर्पण

ईश्वर के हाथों में यंत्र बनना और

प्रत्येक वस्तु को ईश्वर में देखना

समर्पण का अर्थ अहंकार की गांठ को काटकर दिव्य तत्व के प्रति पूर्ण समर्पण से है। इस समर्पण में य तत्व के मार्ग को ग्रहण करना पड़ता है और अपने मार्ग को छोड देना पड़ता है। समर्पण का कार्य दो दिन में या जल्दी संभव नहीं होता है। इसके लिए आत्म विश्वास के साथ प्रयास और ईश्वर की ा में आस्था दोनों अनिवार्य हैं। समर्पण में शान्ति निहित है। शान्ति की स्थिति में दिव्य प्रकाश को ग करना सरल होता है। शान्ति में जो कुछ प्रेम, आनन्द, शक्ति और ज्ञान आता है उसे आसानी से

ग्रहण किया जा सकता है। शान्ति तटस्थता का परिचायक है। इसे समानता और समत्व कहा जा सकता है।

15.10 सर्वांग योग विभिन्न प्रणालियों का समन्वय

श्री अरविन्द का सर्वांग योग सारे जीवन का योग है। उनके मतानुसार समूचा जीवन ही योग है। उनका पूर्ण योग विभिन्न प्रणालियों का समन्वय है। उनकी योग विषयक पुस्तक का नाम 'सिंथिसिस आव् योग' है। देखना है कि इनका योग किस प्रकार अन्य योग प्रणालियों का समन्वय है। इनके सर्वांग योग से पूर्व जो योग प्रणालियां प्रचलित रही हैं वे मनुष्य के विशेष अंग पर अलग-अलग बल देती रही है। इनके योग में व्यक्ति की तैयारी पर जोर है। व्यक्ति की तैयारी जिस स्तर पर होगी योग वहीं से प्रारम्भ हो सकता है। मानसिक रूप से तैयारी होने पर ज्ञान योग से शुरू किया जा सकता है। भावना के स्तर पर तैयारी हो तो भक्ति योग द्वारा शुरूआत की जा सकती है। कर्मस्तर पर तैयारी होने पर कर्मयोग द्वारा अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है। तैयारी के अनुसार उद्घाटन कब और कैसे होता है यह मनुष्य की संकल्प शक्ति और ईश्वरीय कृपा (श्री मां की कृपा) पर निर्भर है। उनका योग समन्वय सभी योगों का एकीकरण नहीं है। प्रत्येक योग की अलग-अलग संभावनाओं पर विचार करके उन्होंने यह जानना चाहा कि किस प्रकार किसी भी योग द्वारा उद्घाटित होकर आप इनके पूर्ण योग की ओर आकृष्ट हो सकते हैं।

हठयोग — हठयोग मन और प्राण को केन्द्र बनाता है। मन, बुद्धि आदि की इसमें अवहेलना हुई है।

राजयोग — इस योग में मन को केन्द्र माना गया है। इसमें शरीर तथा प्राण को परम लक्ष्य की ओर विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

तंत्र योग — ब्रह्म की साधना में वेदान्त प्रभावित योगी शक्ति की अवहेलना करता है। तंत्र योग में सारा बल शक्ति पर है।

श्री अरविन्द के पूर्णांग योग में मानव के सभी अंगों की परिशुद्धि हो जाती है और परिणाम स्वरूप कोई अंग ऐसा नहीं छूटता जो प्रभु के निवास के लिए अनुपयुक्त रह जाय। मानव के शरीर, प्राण और मन सभी की परिशुद्धि हो जाती है।

इनके सर्वांग योग में ज्ञान, भक्ति, तथा कर्म का यथोचित समन्वय हुआ है। आवश्यकतानुसार इसमें हठयोग और राजयोग का उपयोग सीमित मात्रा में ही सही सम्भव है। इनका सर्वांग योग एक सूत्र-योग है जिसमें एकांगी योग समाहित है। इनके योग से मनुष्य उस परम योगी का स्वरूप पा सकता है जिसके रोम-रोम में अतिमानस का प्रवेश हो सकता है। प्रस्तुत है पूर्व प्रचलित योग प्रणालियों का संक्षिप्त परिचय।

15.10.1 हठयोग

शरीर और प्राण पर अधिकार करके ईश्वरीय स्पर्श प्राप्त करने का प्रयास इस योग की विशिष्टता है। हठयोग में मनुष्य (साधक) को अत्यन्त कष्टदायक साधना करनी पड़ती है। पूर्ण योग में हठयोग के सम्मिलित होने पर भी पूर्ण योगी को हठयोगी के समान कष्टप्रद साधना नहीं करनी पड़ती है। हठयोग की साधना अधिक कठिन है क्योंकि भौतिक शरीर को व्याधि और मृत्यु से स्वतंत्र कर दिव्य स्पर्श के लायक बनाना और दिव्य चेतना को उतार कर उसमें निवास कराना कोई खेल नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मन और बुद्धि को दिव्य बनाना कहीं अधिक सरल है। अन्तरात्मा की अभीप्सा को शरीर और प्राण से संयुक्त कर देने से पूर्ण योगी के लिऐ यह कठिनतम साधना सुगम और सरल बन जाती है।

15.10.2 राजयोग

राजयोग में मन को शान्त, स्थिर एवं एकाग्र करने का प्रयास होता है। इस हेतु चित्त-वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है जिसके लिए अष्टांग योग की साधना करनी पड़ती है वह पहले नैतिक जीवन के गठन के लिये यम, नियम आदि का पालन करता है इसके बाद आसन और प्राणायाम का सहारा लेता है, लेकिन हठ योग की अन्य कठिन प्रक्रियाओं को छोड़ देता है फिर मानसिक विकारों को कुचलकर आराध्य में अपना मन एकाग्र करता है। मानसिक शान्ति चित्त का एकाग्रता तथा वासनाओं से छुटकारा पाना पूर्ण योग के आधार हैं। जिसके लिए ध्यान के साधन को अपनाना होता है। वासनाओं का दमन नहीं हो सकता, चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता, भौतिकता पर अधिक बल देने पर भी पूर्ण योग में दबाव नहीं है। यही कारण है कि पूर्ण योगी साधना की उस अवस्था पर पहुँचने का प्रयास करता है जहां पर चित्त की एकाग्रता, स्थिरता एवं शान्ति उसके स्वभाव का एक अंग बन जाय अर्थात उसके लिए स्वाभाविक हो जाय। पूर्ण योग में नैतिकता पर अधिक बल इसलिए नहीं दिया गया कि कहीं ऐसा न हो कि साधक नैतिक उन्नति को आध्यात्मिक प्रगति समझने लगे। नैतिक प्रगति आध्यात्मिक प्रगति नहीं है। पर आध्यात्मिकता नैतिकता पर टिकी हुई जरूर है।

15.10.3 कर्मयोग

कर्मयोग पर श्री अरविन्द ने बहुत अधिक जोर दिया है। उनका कर्मयोग गीता पर आधारित है जो फलाशारहित अनासक्त कर्म पर केन्द्रित है। सभी कर्म ईश्वरार्पण वृत्ति से किये जाते हैं। वे सारे कर्म जो लोक हितार्थ तो किये जाते हैं पर उनमें अंह भावना और प्रतिष्ठा के भाव विद्यमान रहते हैं गीतोक्त कर्मयोग की परिधि में सम्मिलित नहीं किये जा सकते हैं। श्री अरविन्द की दृष्टि में योग का असली उद्देश्य परोपकार न होकर दिव्यता को पाना है, दिव्य चेतना में प्रवेश पाकर अपनी वास्तविक सत्ता को खोज निकालना है। यहाँ अहं को वास्तविकता नहीं माना गया है। यथार्थ योगी सारे विश्व को प्रभु की लीलास्थली मानता है और कण-कण में ईश्वर की उपस्थिति स्वीकार करता है। वह संसार से भागकर कर्मत्याग के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता । वह अपने को भगवान के हाथ में एक यंत्र मानकर सभी कर्म ईश्वर के लिये करता है। कर्तापन का भाव त्यागकर, फल की आशा न करते हुए ईश्वर के लिये ईश्वर के यंत्र के समान सारे कर्म उसके द्वारा किये जाते हैं।

5.10.4 भक्ति योग

भक्तियोग का भी पुट सर्वांग योग में देखा जा सकता है। योगी में भक्तिभाव का होना आवश्यक है। बिना भक्ति के ईश्वर भक्त की ओर आकर्षित ही कब होता है। बिना भक्ति शून्य योगी भगवान को नहीं प्राप्त कर सकता। पूर्ण योगी अपने हृदय कमल में ईश्वर का अनुभव करता है और वह एक क्षण के लिए भी ईश्वर से अलग नहीं होता । वह ईश्वर के लिए जीता है ईश्वर के लिए मरता है और ईश्वर ही उसका सब कुछ हो जाता है। उसे न तो मुक्ति चाहिये, ओर न ही योग्य वस्तुएं अथवा रिद्धि सिद्धियां चाहिये। इस प्रकार यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हैं कि पूर्ण योग भक्ति योग से युक्त है।

5.10.5 ज्ञान योग

सर्वांग योग में ज्ञान योग का भी समावेश है। अज्ञान जगत् अथवा अज्ञान सृष्टि में अतिमानसिक चेतना को लाना सर्वांग योग का उद्देश्य है। अज्ञान के अन्धकार में डूबे चैत्यपुरुष की ज्वाला को अविद्या के आवगुण्ठन से छुड़ाना अति आवश्यक है। उनके सर्वांग योग में ज्ञान साधना भी अनिवार्य है। जैसे-जैसे कामना और वासना लुप्त होते जायेंगे अन्तरात्मा का विकास होता चला जायेगा। शरीर, जीवन और मन से अहं अहं भावना को हटाकर उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तः प्रज्ञा तथा अधिमानस के भिन्न-भिन्न

स्तरों से गुजरते हुए पूर्ण योगी अतिमानस के गलियारे में पहुंचता है। चैत्य पुरुष की साधना पूर्ण हो जाने पर भगवत् कृपा से अतिमानस का अवतरण होता है। श्री अरविन्द योग में ज्ञान साधना का अर्थ प्रचलित अद्वैत ज्ञान साधना से भिन्न है। इसमें परम सत्ता को जीवन के प्रत्येक भाग में स्थापित करने पर जोर है। जो मानव की हृदय गुहा में पहले से ही विराजमान है। प्रचलित ज्ञान योग में परम सत्ता को एक मात्र सत्ता माना जाता है और अन्य सब कुछ को असत्य अथवा मिथ्या। श्रीअरविन्द यह मानते हैं कि साधारण आध्यात्म के साधक के लिए अधिमानस के मार्ग से चलकर आन्तरिक साधना जरूरी नहीं है, पर सर्वांग योग के लिए यह अनिवार्य है क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सत्ता को अतिमानस के प्रकाश से अनुभव करना, मुक्त करना, रूपान्तरित करना और अन्त में उससे युक्त करना है।

15.10.6 तंत्र योग

अपने पूर्ण योग में श्री अरविन्द ने उक्त योग प्रणालियों के अतिरिक्त तंत्र योग में कही गई साधना पद्धति को भी स्थान दिया है। तंत्र योग अन्य योगों से इस बात में भिन्न है कि तंत्र योग को छोड़कर अन्य पद्धतियाँ वैदिक हैं । वैदिक प्रणालियों की विशिष्ट बात यह है कि इनमें यमय पुरुष को प्रमुख एवं एकक दर्जा प्राप्त है। तंत्र मत में प्रकृति को प्रमुख स्थान प्राप्त हैं। तंत्र में प्रकृति को आद्याशक्ति कहा गया है। इस शक्ति में विद्या और अविघा दोनों सम्मिलित हैं। अविद्या शक्ति का संबंध उद्भव, पालन और संहार से है। विद्या शक्ति संसार बन्धन से जीव को मुक्त करती है। अरविन्द दर्शन में सच्चिदानन्द प्रमुख और श्रेष्ठ तत्व है। परन्तु पुरुष की चेतना स्वयं शक्तिस्वरूपिणी है।

तन्त्र योग सर्वांग योग की आधारशिला है क्योंकि तन्त्र योग का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। इसी दृष्टिकोण में सृष्टि का परम रहस्य और मनुष्य की परम गति छिपी हुई है। तंत्र येग की साधन-प्रणाली, कुण्डलिनी शक्ति और षट् चक्र भेद सर्वांग योग में नए ढंग से शामिल हैं। तंत्र योग और वैदिक प्रणालियों का समन्वय करके उन्हें एकता के सूत्र में बांधकर पूर्णांग अथवा समन्वयकारी योग का अवदान उनकी सबसे बड़ी निधि है।

इनके सर्वांग योग की अन्य विशेषताएं हैं कि इसमें किसी भी धर्म, विश्वास की उपेक्षा नहीं हुई है। इसे नवीन युग का संदेश, एक प्रकाशमान भविष्य का समाचार, एक नवीन सृष्टि की कल्पना, एक नूतन दृष्टिकोण का सूचक माना जा सकता है।

श्री अरविन्द के विचार से ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीन मार्गों पर एक साथ चलना कठिन है पर पूर्ण योग के लिए यही लाभदायक एवं उपयुक्त है। साधक कहीं से भी शुरू कर आन्तरिक दिव्य प्रेरणा से संचालित होता है। अपनी चेष्टा से इस पथ का अनुगमन कोई भी नहीं कर सकता। इसके लिए ईश्वर की कृपा और तीक्ष्ण अभीप्सा अनिवार्य है। जिन लोगों में दिव्य जीवन की उत्कट अभिलाषा जाग गई है उनको आद्या शक्ति मां के हाथों में समर्पित होना पड़ेगा। मां साधक के दोषों तथा त्रुटियों को दूर कर स्वयं उसे निर्धारित लक्ष्य तक भेज देगी। खेद है कि ऐसे लोग कम ही मिलते हैं और मुश्किल से मिलते हैं जिनमें दिव्य जीवन के प्रति उत्कट अभिलाषा जाग गई हो।

15.11 सर्वांगयोग - एक कठिन योग

सर्वांग योग द्वारा मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण प्रकृति यहाँ तक कि देह को रूपान्तरित करना पड़ता है, जो वास्तव में एक दुस्तर कार्य है। श्री अरविन्द इस योग साधना का अधिकारी सबको नहीं मानते क्योंकि यह सबके वश की बात नहीं है । इस योग को वही कर सकता है जिसमें इस साधना के प्रति इतनी तेज प्यास हो कि वह इसके लिए सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार रहे। मनुष्य की इस कमी को भली भांति जानने के कारण इस योग की शिक्षा उन्होंने सबको नहीं दी। इस योग साधना के जो लायक है, जो इसका

धिकारी है, जो इस सम्पूर्ण योग मार्ग पर चलने की सामर्थ्यवाला हो वही इसे अपनावे।

निष्कर्ष

ी अरविन्द योग भावात्मक और निर्वैयक्तिक है, वैयक्तिक और अभावात्मक नहीं। अभावात्मक से आशय न्म-मृत्यु के बन्धन का अभाव, दु:खों का अभाव है। आपका योग पुनर्जन्म के छुटकारे पर केन्द्रित नहीं और न ही दु:खों की निवृत्ति का ध्येय लेकर चलता है इनके योग का साधक एक ऐसा साधक है ो मोक्ष के दरवाजे पर जाकर भी पुनर्जन्म से छुटकारे की बात नहीं करता है। वह कहता हैकि ईश्वर ाहे तो अनेक बार जन्म दे, उसका कार्य तो धरती पर दिव्य जीवन स्थापित करना है। इसके लिये वह व्य चेतना को धरती पर उतार लाने अथवा खींच लाने के लिये प्रयासरत दिखता है। अमृतत्वपूर्ण दिव्य ोवन के विकास से जरा, मृत्यु रोग और शोक से अपने आप मुक्ति मिल जायेगी। उनकी योग साधना र चलने वाला प्राणी सर्वमुक्ति की कामना लेकर चलता है सर्वमुक्ति का सिद्धान्त उनकी अप्रतिम नवीन ालिक देन है।

5.12 सारांश

इकाई का प्रारम्भ हमने योग शब्द के शब्दार्थ से किया है। इसके बाद क्रम से प्रकृति और साध्य के नुरूप योग साधना, योग प्रणाली के उद्देश्य, सर्वांग योग एक आध्यात्मिक अभियान, सर्वांग योग का र्थ एवं शक्ति, मानव सत्ता के दो छोर, सर्वांग योग की विशेषता, सर्वांग योग में समर्पण पर बल, र्वांग योग विभिन्न प्रणालियों का समन्वय आदि पर चर्चा हमने की है। इसके उपरान्त अन्त में सर्वांग ग एक कठिन योग है इसकी व्याख्या की गयी है इस इकाई में हमने हठ योग, राज योग, कर्म योग, क्ति योग, ज्ञान योग और तंत्र योग का अति संक्षिप्त विवरण दिया है।

5.13 शब्दावली

क्ति	जन्म मृत्यु के चक्र से छुटकारा
गाली	पद्धति
द्युलोक	पार्थिव जगत्, संसार
भियान	संघटित प्रयास
ध्यात्मवादी	अध्यात्म के मार्ग पर चलने वाला
ध्यात्म	आत्मा तथा परमात्मा के गुणों और उनके पारस्परिक संबंधों के विषय में किया जाने वाला दार्शनिक चिंतन, निरूपण या विवेचना
ाध्यात्मिक	अध्यात्म से संबंध रखने वाला, परमात्मा से संबंध रखने वाला
ाध्यात्मीकरण	आध्यात्मिक बनाने की क्रिया

5.14 उपयोगी पुस्तकें

सिंह, शिव प्रसाद, उत्तरयोगी, लोक भारती प्रकाशन

15,ए, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद, 1995

सत्प्रेम, श्री अरविन्द अथवा चेतना की एक अपूर्व यात्रा मूल फ्रेंच से अनूदित, अरोविली

प्रेस, मई 1999

3. शर्मा, डा. रामनाथ, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, अनुप्रकाशन, मेरठ कैन्ट 1965

15.15 संबंधित प्रश्न

1. मनुष्य किसे आधार बनाकर अथवा किसके अनुरूप योग साधना को अपनाता है?
2. सर्वांग योग प्रणाली का लक्ष्य क्या है?
3. श्री अरविन्द ने मानव सत्ता के कौन से दो छोर बताये हैं?
4. सर्वांग योग की क्या विशेषता है? स्पष्ट कीजिये।
5. श्री अरविन्द ने कौन सी तीन आध्यात्मिक प्रगतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है?
6. श्री अरविन्द के सर्वांग योग में उनके पूर्व प्रचलित योग प्रणालियों का समन्वय क्यों किया गया है?
7. तंत्र योग पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

15.16 प्रश्नों के उत्तर

1. मनुष्य प्रकृति और साध्य के अनुरूप योग साधना को अपनाता है। मनुष्य में सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की प्रकृति विद्यमान है। शरीर और प्राण शक्ति को आधार बनाकर उसी में ईश्वरीय अनुभव का स्पर्श करने वाला हठ योग प्रणाली को अपनाता है। यह एक निम्न स्तर की साधना है। राजयोग मनस केन्द्रित है। मन की चंचलता पर नियंत्रण करके अन्तस्थल में स्थित परमात्मा से उसका मिलन हो सकता है। मनुष्य अपनी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रखते हुए ज्ञान, ध्यान, भक्ति और कर्म के मार्ग पर चलकर भिन्न-भिन्न साधना प्रणालियों को अपनाता है। यदि लक्ष्य व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने का है तो ज्ञान, भक्ति और कर्म में से किसी भी योग का सहारा लिया जा सकता है। जब लक्ष्य सर्वमुक्ति का होगा तो इसके लिए सर्वांग योग पद्धति का अनुसरण हितकर रहेगा।

2. सर्वांग योग प्रणाली का लक्ष्य सर्वमुक्ति है। दिव्य प्राणियों द्वारा दिव्य समाज की रचना करना इस योग का ध्येय है।

3. श्री अरविन्द ने जड़ और आत्मा नामक सत्ता के दो छोरों का उल्लेख किया है। सर्वांग योग दोनों में सामंजस्य स्थापित कर आगे बढ़ता है। इनके योग का लक्ष्य न तो ब्रह्म में विलीन होने का है और न ही भौतिक जीवन के क्षणिक सुखों में बह जाने का।

4. सर्वांग योग के मार्ग द्वारा उन आदर्शों को पाना हैं जिन्हें पाने में अन्य मार्ग अप्रभावी सिद्ध हुए है। सर्वांग योग एक ऐसा व्यवस्थित प्रयास है जो मनुष्य को आत्म पूर्णता की ओर ले जाता है। सर्वांग योग पिछले पथों का अनुगमन न होकर एक आध्यात्मिक खोज है। सर्वांग योग का उद्देश्य समस्त मानव प्रजाति का आध्यात्मीकरण करना है। श्री अरविन्द के भावी समाज की स्थापना के लिए सर्वांग योग का विकास किया गया है। व्यक्तिगत मुक्ति से इस योग को कुछ भी लेना देना नहीं है।

5. श्री अरविन्द ने निम्नलिखित तीन आध्यात्मिक प्रगतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

1. आत्म-समर्पण

2. ईश्वर के हाथों में यंत्र बनना और

3. प्रत्येक वस्तु को ईश्वर में देखना ।

6. श्री अरविन्द समूचे जीवन को ही योग मानते हैं। इनके योग में व्यक्ति की तैयारी पर जोर है। व्यक्ति की तैयारी जिस स्तर पर होगी योग वहीं से शुरू हो सकता है। व्यक्ति की तैयारी यदि मानस, भावना और कर्म के स्तर पर है तो क्रमशः ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग का सहारा वह ले सकता है। श्री अरविन्द का पूर्ण योग अथवा योग समन्वय सभी योगों का एकीकरण नहीं है। योग की सम्भावनाओं के अनुसार किसी भी योग द्वारा उद्घाटित होकर मनुष्य इनके पूर्ण योग की ओर जा सकता है। इसी कारण इनके योग में प्रचलित योग प्रणालियों का समन्वय है। इनका सर्वांग योग एक सूत्र योग है। इसमें सभी एकांगी योग समाहित हैं।

7. तंत्र योग को छोड़कर सभी योग वैदिक योग हैं। तंत्र योग में प्रकृति अथवा आद्या शक्ति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इस आद्या शक्ति में विद्या और अविद्या दोनों शक्तियां समाहित हैं। अविद्या शक्ति का संबंध उदभव, पालन और प्रलय से है। विद्या शक्ति जीव को संसार बन्धन से छुड़ाती है। तंत्र योग सर्वांग योग की आधार शिला है । तंत्र योग का दृष्टिकयोण समन्वयात्मक है।

इकाई 16 : मानव विकास की प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 सृष्टि और विकास

16.3 विकासात्मक चिंतन का प्रारम्भ

16.4 उन्मेषवादी सिद्धान्त

16.5 विकास और उससे जुड़ी कल्पनाएँ

16.6 चैत्य पुरुष के जागरण से विकास का आरम्भ

16.7 चैत्य पुरुष के जागने के बाद की जाने वाली सावधानी

16.8 विकास की त्रिधा गति

16.9 व्यक्तिगत विकास

16.9.1 अभीप्सा

16.9.2 शांति और समत्व

16.9.3 आत्म समर्पण

16.10 वैश्विक विकास

16.10.1 चैत्य पुरुष का जागरण

16.10.2 उच्चतर मानसीय रूपान्तरण

16.10.3 अतिमानसीय रूपान्तरण

16.11 विकास के चक्रक नियम की खोज

16.12 सारांश

16.13 शब्दावली

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.15 संबंधित प्रश्न

16.16 प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- सृष्टि और विकास की दृष्टि का वर्णन कर सकेंगे।
- विकास के उन्मेषवादी संकल्पना का परिचय दे सकेंगे।
- अरविन्द के विकास दर्शन का उल्लेख कर सकेंगे।
- त्रिधागति, व्यक्ति और वैश्विक विकास की विवेचना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

इस पाठ में आप श्री अरविन्द के पूर्व के सृष्टि और विकास संबंधी ज्ञान के साथ-साथ श्री अरविन्द के विकास दर्शन का अध्ययन करेंगे। इस पाठ का प्रारम्भ हम सृष्टि की पूर्ववर्ती व्याख्या से करेंगे। इसके उपरान्त मानव विकास से जुड़ी कल्पनाओं अथवा मान्यताओं का विवेचन करेंगे। पाठ के अगले भाग में चैत्य पुरुष के जागरण के बाद विकास प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करते हुए क्रमशः व्यक्तिगत विकास और वैश्विक विकास पर प्रकाश डालेंगे।

16.2 सृष्टि और विकास

सृष्टि और विकास आपस में गुँथे हुए हैं। सृष्टि की पूर्ववर्ती व्याख्या के अनुसार क्षिति (पृथ्वी), जल, पावक, गगन और समीर नामक पांच तत्वों से इस शरीर की रचना हुई। सृष्टि के यूनानी दर्शन में चार तत्वों का उल्लेख मिलता है। ये चार तत्व पृथ्वी , जल, पावक और वायु हैं। भारतीयों ने उसमें पांचवाँ तत्व जोड़ा जिसे आकाश तत्व कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान इस आकाश तत्व को ईश्वर नाम देता है। इसे प्रकाश नाम भी मिला है। इसी से ज्योति प्रकाशित होती है।

पैथागोरस आदि ने वायु को विकास का प्रमुख तत्व स्वीकार किया। छान्दोग्य उपनिषद में रैक्व के प्रसंग में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सृष्टि और विकास का प्रमुख तत्व वायु है। अन्य सभी तत्व एक के बाद एक वायु में मिल जाते हैं। वायु सभी तत्वों को निःशेष कर देती है या यों कहें कि अपने में मिला लेती हैं और सृष्टि की रचना वायु से होती है।

हेराक्लिटस और उद्दालक अग्नि को सृष्टि का प्रमुख तत्व मानते हैं।

यूनान के दार्शनिक थेल्स और उपनिषदें जल को सृष्टि का मूल तत्व मानती हैं।

यूनान के ही जोनोफेन्स और छान्दोग्य उपनिषद् पृथ्वी को प्रमुख तत्व मानते हैं।

दर्शन का और आगे विकास होने पर आध्यात्मिक तत्व को सृष्टि और विकास का मूल तत्व माना जाने लगा। हमारे सांख्य दर्शन में विकास के सुव्यवस्थित सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। इस सिद्धान्त में यांत्रिक और प्रयोजनवादी सिद्धान्तों का समन्वय देखने को मिलता है।

16.3 विकासात्मक चिंतन का प्रारम्भ

विकास के दो सिद्धान्त विकसित किये गये जिनमें से एक विकास की व्याख्या आदि से करता है और दूसरा अन्त से। यंत्रवाद आदि से-जड़ से सृष्टि का प्रारम्भ मानता है और बिना किसी प्रयोजन के । इसमें किसी अध्यात्म तत्व का प्रवेश नहीं है । यांत्रिक अथवा जड़वती व्याख्या के अनुसार विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति भौतिक वस्तुओं के संघटन तथा मिश्रण से बताई गयी है। एक ही प्रोटोप्लाज्म से बने भिन्न व्यक्तियों में मानसिक शक्ति और आचरण में पायी जाने वाली भिन्नता की व्याख्या करने में यांत्रिक सिद्धान्त अपने को असमर्थ पाता है अतः जीव धारियों में जड़ तत्व के अलावा कोई और तत्व अवश्य है जिसने सृष्टि के विकास में सहायता की होगी। डार्विन का सिद्धान्त यंत्रवाद का जोरदार समर्थन करता है। जीवन तथा उत्पत्ति के विषय में डार्विन ने जीवन संग्राम और योग्यतम की उत्तर रक्षा के सिद्धान्त दिये हैं। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का विकास में उतना ही प्रभाव पड़ा जितना कि न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण के नियम का विज्ञान में। उन्होंने बताया कि जीवन एक संग्राम है। इस संग्राम में विजयी होकर जिन्दा वे ही रह सकेंगे जो जिन्दा रहने के लिये सर्वाधिक योग्यतम हैं। इसे "प्राकृतिक प्रवरण"

के सिद्धान्त द्वारा भी स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार प्रकृति जीवित रहने वाले योग्यतम का चुनाव कर लेती है।

प्रयोजनवाद—प्रयोजनवाद विकास के एक खास लक्ष्य को लेकर चलता है। जब तक यह लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता विकास का सिलसिला जारी रहता है विकास उस लक्ष्य को पूरा करने पर ही दम लेता है।

दर्शन के क्षेत्र में अक यंत्रवाद और प्रयोजनवाद का झंझट शांत हो चुका है। अब क्रमिक विकास और उन्मेषमूलक विकास के बीच में लड़ाई है। क्रमिक विकास और उन्मेषवाद के झगड़े की जड़ है परम सत्ता के ज्ञान में बुद्धि और स्वानुभूति का झगड़ा। कुछ विचारक यह स्वीकार करते हैं कि मस्तिष्क परम सत्ता को जानने में सक्षम है। ये विद्वान क्रमिक विकास के पक्षधर हैं इसके विपरीत वे चिंतक और दार्शनिक हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि परम सत्ता का ज्ञान मस्तिष्क से परे हैं अर्थात उसके वश के बाहर है। वे मानसिक चेतना के स्थान पर एक महत्तर चेतना के उद्‌भव को अनिवार्य मानते हैं ताकि परम तत्व का बोध हो सके। ये विचारक उन्मेषवादी कहे जाते हैं।

यदि पश्चिमी दर्शन क्रमिक वादी हैं तो भारतीय दर्शन उन्मेषवादी हैं। वेद, उपनिषद, गीता, सूत्र साहित्य एवं उनके भाष्य (टीकाएं) उन्मेषवाद के समर्थक हैं। ऋग्वेद जो सबसे प्राचीन वेद माना जाता है के "पुरूष सूक्त" में विकास का जो वर्णन मिलता है उससे यही प्रमाणित होता है कि विकास का उन्मेषवादी दृष्टिकोण ही आधारभूत है। वास्तव में उन्मेष एक दिव्य चेतना का अवतरण है। भारतीय दार्शनिकों ने एक स्तर तक (जड़ प्राण और मनस की सीमा तक) मनस की कार्यसीमा तय कर दी। इसके आगे स्वानुभूमि का सहारा लेने की बात कही है जिससे उच्चतर चेतना का उन्मेष संभव हो सके।

पश्चिमी जगत् में मात्र हेगेल ही एक ऐसे आखिरी दार्शनिक हुए हैं जो बुद्धिवाद तक सीमित हैं। इनके बाद के दार्शनिकों में उन्मेषवादी झुकाव दिखलाई पड़ता है। पश्चिम में वर्गसां उन्मेषवाद के सबसे बड़े समर्थक के रूप में उभरे हैं।

भारत के प्राचीन ग्रन्थों में विकास का अर्थ आत्म विकास से लिया जाता है। टैगोर, महात्सा गांधी और श्री अरविन्द ने विकास की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से और अपनी सोच तथा समझ के अनुसार की है। टैगोर औरगांधी ने क्रमिक विकास की धारणा को ठुकरा दिया। गांधी की रामराज्य की कल्पना अथवा रामराज्य जैसे समाज के विकास की सपना एक ऐसे समाज का चित्र जिज्ञासुओं के मानस पटल पर अंकित करता है जहां मानव के लिए आत्म ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त होगा। गांधी अहिंसावादी समाज की स्थापना करने के पक्ष में थे जो निश्चय ही एक उच्चतर समाज (सत्य और पवित्रता के समाज) की स्थापना का ध्येय है क्यों कि ऐसे आदर्श समाज की स्थापना अभी हो नहीं पाई है। इस प्रकार गांधी जी का विकास का सिद्धान्त निश्चय ही उन्मेषवादी है।

16.4 उन्मेषवादी सिद्धान्त

विकास के उन्मेषवादी सिद्धान्त के सबसे प्रबल समर्थक श्री अरविन्द हुए हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दिव्य जीवन" में इन्होंने इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। इनके विकासवादी सिद्धान्त का आधार आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक है। वे पहले विकास का लक्ष्य निर्धारित करते हैं और तत्पश्चात् विकास प्रक्रिया को समझाने का प्रयास करते हैं। वे विकास प्रक्रिया को चेतना की अपूर्व यात्रा द्वारा स्पष्ट करते हैं श्री अरविन्द विकास के आरम्भ बिन्दु की ओर भी संकेत करते हैं। उन्होंने विकास के चरम लक्ष्य का भी निर्धारण किया है। उन्होनें विकास से संबंधित कुछ कल्पनाओं का भी जिक्र किया है। विकास प्रक्रिया में बरती जाने वाली सावधानियों और विकास के साधन आदि विषयों पर खुले मन से

चारोपरान्त योग को विकास का सर्वोत्तम साधन माना है। इस इकाई में हम सर्वांग योग का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। विकास से जुड़े कुछ परिभाषिक शब्द अथवा प्रत्यय हैं जिनका इकाई दिह में पहले ही विवेचन किया जा चुका है। इस इकाई में विकास प्रक्रिया अथवा चेतना के विकास ी प्रक्रिया पर यथेष्ट प्रकाश डालने की योजना है।

मानव-विकास-प्रक्रिया

6.5 विकास और उससे जुड़ी कल्पनाएँ

नव विकास प्रक्रिया अन्य शब्दों में चेतना विकास प्रक्रिया है। सोती हुई चेतना सत्ता को जगाना और पकी गति को निम्न स्तर से उच्चतर स्थिति की ओर मोड़ना श्री अरविन्द के विकास दर्शन की धारशिला है। विकास दर्शन के विषय में वे कुछ मानकर चलते हैं जिन्हें मान्यताएं अथवा कल्पनायें हा गया है इन मान्यताओ की ओर संकेत करना अरविन्द के विकासवाद को समझने के लिय वश्यक है। उन्होंने चेतना के दो लोक बताये हैं।

अपराध चेतना लोक जिसमें जड़, प्राण और मनस चेतनाएं शामिल हैं। और

पराधं चेतना लोक जिसमें आनन्द, सत् और चित की चेतना शामिल हैं।

ली जड़ प्राण और मनस की निम्नतर चेतना है, जिसका प्राकृतिक विकास होता है। श्री अरविन्द के नुसार निम्नतर चेतनाओं का विकास शिखर पर पहुँच चुका है । पराधं चेतना में श्री अरविन्द उच्चतर नाओं की गणना करते हैं । उनके मतानुसार आगे उच्चतर चेतना की ओर विकास होना शेष बचा है। ी विकास को पूरा करना है। यह विकास कैसे हो इस विषय पर श्री अरविन्द के विचार ध्यान देने य हैं। उच्चतर चेतना के विकास के लिए उन्होंने ऊर्ध्वगामी और आधोगामी दोनों प्रकार के कास पर जोर दिया है। चेतना का ऊर्ध्वगामी विकास अरोहण है और अधोगामी विकास अवरोहण है। नव के सम्पूर्ण विकास के लिए आरोहण और अवरोहण दोनों आवश्यक हैं। चेतना का विकास दो रों में विभक्त है। पहला स्तर मानस तक के विकास का है दूसरा स्तर अतिमानस के स्तर तक का कास है। अतिमानस स्तर तक पहुंचने के लिए मानस को उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तः प्रज्ञा र अधिमानस से होकर गुजरना पड़ेगा। चेतना के मानस और अतिमानस स्तर के बीच अधिमानस के र की कल्पना उन्होंने की है जिसकी भूमिका विकास में अहम है। वे यह मानकर चलते हैं कि नव अतिमानस तक सीधे पहुँचने का अधिकारी नहीं है। अतिमानस पूर्ण सत्य है। अधिमानस मानस र अतिमानस के बीच की कड़ी है। अधिमानस चेतना का विकास होने पर ही अतिमानस को प्राप्त या जा सकता है।

6.6 चैत्य पुरुष के जागरण से विकास का प्रारम्भ

कास प्रक्रिया का प्रारम्भ कहां से हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि चैत्य ष के विकास द्वारा ही आगे की ओर विकास संभव है। चैत्य पुरुष कैसा है? कहां रहता है? खुला ता है कि ढका रहता है आदि प्रश्नों और जिज्ञासाओं का उत्तर उन्होंने दिया है। चैत्य पुरुष का निवास य प्रदेश में है। मन और प्राण उसे ढके रहते हैं। बच्चों में चैत्यपुरुष आवरण रहित होता है इसलिए वा अपना स्वामी होता है। वह खूब हंसता है, अपनी क्रियाओं को करने के लिए और अपने ोभावों को व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र होता है। वह भगवान स्वरुप होता है। मजे की बात यह है कि

जैसे जैसे बच्चा बड़ा होता है उसका चैत्य पुरूष ढकता चला जाता है, उस पर परदा पड़ता जाता है उसे मन और प्राण की क्रियाएं दबा देती हैं और फिर उसे उभरने नहीं देती । यहां चैत्यपुरुष और ईश्वर में भेद करना भी आवश्यक है। हृदय गुहा में ईश्वर का निवास है और हृदय प्रदेश में ही चैत्य पुरुष का भी । ध्यान रहे चैत्य पुरुष ईश्वर का ही अंश है, पर ईश्वर नहीं। पूर्ण और अंश में जो अन्तर होता है वही ईश्वर और चैत्य पुरुष में अन्तर है। चैत्य पुरुष एक अग्नि शिखा के समान है जिसे कोई भी चीज बुझा नहीं सकती है और न ही उसे कोई अपवित्र कर सकता है। जब चैत्य पुरुष का उन्मीलन अथवा उद्घाटन होता है तभी चेतना के उच्चतर स्तर की ओर विकास संभव है। अत: सिद्ध होता है कि चैत्य पुरुष विकास का प्रारम्भ बिन्दु है।

चैत्य पुरुष उभरकर सामने आये इस हेतु मन की नीरवता और शान्ति आवश्यक है। दिमाग को शान्त करने से वहां अनन्त का अवतरण होने के साथ-साथ अनन्त ज्योति और शक्ति का सागर लहराने लगता है। श्री अरविन्द यह मानकर चलते हैं कि मानसिक और प्राणिक शान्ति के बाद ही चैत्य पुरुष उन्मीलित होकर सतह पर पहुंचता है और व्यक्ति की सभी क्रियाओं को अपने नियंत्रण में ले लेता है। हृदय के पीछे एक झिल्ली है जो प्राणिक तत्वों से बना एक आवरण है। चैत्य पुरूष इसी आवरण में ढक जाता है। इसे प्राप्त करना आसान नही है। बच्चा इसे जानता है। हमारे लिए यह कठिन इसलिये है कि ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं अनेक प्रकार के विचार और भावनाएं चैत्य स्थिति को ढकने लगते हैं और हम उसे भूलने लगते हैं, उसके बारे में जानना खोते जाते हैं जिससे हम उससे अलग हो जाते हैं । दिमागी परिपक्वता ही सहज चैत्य स्थिति से हमें अलग करती है। हृदय गुफा में छिपी ज्योति किरण बाहर तभी आती है जब प्राणिक और मानसिक उद्वेग नष्ट हो जाते हैं, अहं की समाप्ति हो जाती है, मनुष्य दिमाग की सीमाओं को जानने के बाद परम चेतना के सामने समर्पण भाव से घुटने टेक देता है। मनुष्य को चैत्य का प्रकाश मिलने से शान्त, उद्वेग रहित और स्वार्थ रहित आनन्द का अनुभव होने लगता है। ऐसा होना चैत्य पुरुष के जागरण का लक्षण है। चैत्य पुरुष के जागरण से हमें अपने भीतर की ईश्वरीय सत्ता और ऊपर के उच्चतम सत्य का ज्ञान होने लगता है। आन्तरिक सत्ता का सर्वोच्च केन्द्र सिर में है।

जो केन्द्र आत्मा की ओर खुलता है वह सिर के ऊपर है और यह सूक्ष्म शरीर में प्रतिष्ठित है। चैत्य केन्द्र का खुलना हमें मुख्य रूप से वैयक्तिक ईश्वर से जोड़ता है। सिर के ऊपर केन्द्र का खुलना हमें पूर्ण दिव्य से सीधे जोड़ता है और हमारे भीतर दिव्य चेतना को जन्म देता है। इसे नव जन्म या आध्यात्मिक जन्म कहा जा सकता है। दिव्यशक्ति अवतरित होकर हमारे अन्दर सक्रिय हो उठती है। यह पहले सिर में उतर कर आन्तरिक दिमाग के केन्द्रों को खोल देती है फिर हृदय में अवतरित होकर संवेगात्मक शक्ति को पूरी तरह से मुक्त करती है पुनश्च नाभिक चक्र में उतरकर आन्तरिक प्राणिक सत्ता को मुक्त करती है। इसके उपरान्त मूलाधार चक्र में उतरकर शारीरिक आन्तर सत्ता को मुक्त करती है। मुक्ति का अर्थ परिशोधन अथवा परिष्कार है। वह पूरी मानव प्रकृति के टुकड़ों अथवा खण्डों में परिवर्तन लाती है। यह सब कुछ चैत्य पुरुष द्वारा तैयार किया जाता है। चैत्यपुरुष के जागरण से पवित्र, सुन्दर, शान्त एवं शिव की मांग बढ़ने लगती है। जीवन में तनाव, निराशा एवं अशान्ति विलुप्त होने लगते हैं और उनके स्थान पर सत्य के सामने समर्पण और आनन्द में डूबकर जिंदा रहने की लालसा बढ़ जाती है। जब यह सब होने लगे तब समझ लो कि चैत्य का जागरण हो रहा है।

16.7 चैत्य पुरुष के जागने के बाद की जाने वाली सावधानी

चैत्य पुरुष उभर आए तो यह सावधानी बरतने की जरूरत है कि मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रक्रियाएं अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप इसे मोड़ने का प्रयास न करने पाएं। इसके लिए मनुष्य में पूर्ण आरम्भिक दिव्य सत्य को पाने और उसके अनुरूप जीवन को ढालने की पूर्ण अभीप्सा का होना आवश्यक है।

ऐसा न होने पर हो सकता है कि चैत्य पुरुष उभर कर भी पृष्ठभूमि में फिर से खिसक जाय। इस बाधा से बचने का एक उपाय है कि चेतना का यह आरोहण अतिमानस के अवरोहणों के अनुग्रह से शक्ति प्राप्त करे। यह अनुग्रह तभी संभव है जब सत्य के प्रति निर्हेतुक समर्पण हो।

अतिमानस के आरोहण के बाद मनुष्य में वह शक्ति आ जाती है कि वह अधिमानस से परे (ऊपर) की सच्चिदानन्द स्थिति की ओर यात्रा पर चल सके।

मस्तिष्क अपनी अन्तर्निहित सीमा के कारण पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। वह अर्धसत्यों को इकट्ठा कर अहं की तुष्टि के लिए आदर्श और मूल्य आदि का झूठा जाल बुनकर उसी में अपने को लपेट लेता है। परिणाम यह होता हे कि मन ने जिन अर्धसत्यों की राशि इकठ्ठा कर ली है उससे उसकी बेचैनी ही बढ़ी है और शान्ति नहीं मिल सकी है।

प्रश्न है कि क्या मनुष्य मन की इस एकत्रित बेचैनी से छूटकर अतिमानसिक सत्ता की ओर संघटित प्रयास कर सकता है? हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि चैत्य पुरुष के जागरण से ही यह संभव हो सकता है। इसके जागरण के बाद अतिमानसिक यात्रा शुरू हो सकती है। अतिमानसिक सत्ता की ओर बढ़ने के लिए चैत्य पुरुष से जुड़ना आवश्यक है एक बात और, मानस अतिमानस से सीधे नहीं जुड़ सकता है। इसके लिये मानस का उच्चतर मानस, फिर प्रदीप्त मानस, पुन: अन्त:प्रज्ञा और इसके बाद अधिमानस की ओर आरोहण आवश्यक है। अधिमानस पूर्ण अति मानसिक प्रकाश को हमसे दूर रखता हैं। यह वह स्वर्ण ढक्कन है जिसने सत्य के मुख को ढक रखा है। इस स्वर्ण ढक्कन को हिरण्यमय पात्र कहा गया जो ऊपर के तत्वों और मानसिक के बीच अवरोध पैदा करता है इस ढक्कन को तोड़ देने से अथवा आवरण विदारण से मनुष्य की इच्छा मात्र से सब कुछ अवतरित होने लगेगा।

इसे तोड़ने के लिए मास्तिष्क की प्रक्रिया से मुक्त होना पड़ेगा और फिर चैत्य पुरुष के मार्ग से अधिमानस पहुंचना होगा। अधिमानस के भीतर से अतिमानस की और आरोहण हो सकता है।

6.8 विकास की त्रिधागति

इस विकास तीन प्रकार से होता है - विस्तार, आरोहण और एकीकरण। विकास एक आरोहण (उन्नयन) की प्रक्रिया है। जड़ का आरोहण प्राण में और प्राण का आरोहण मन में होता है। इस आरोहण के साथ विकास प्रक्रिया का विस्तार भी होता है। पुराने तत्वों में नए तत्वों का आविर्भाव (उन्मेष) होने से नया व पुराने तत्वों से तालमेल बनाकर अपना स्थान बना लेता है जिससे पुराने तत्वों का विस्तार होता है क्योंकि उसमें नया तत्व जुड़ जाता है । आरोहण से प्रसार होता है। आरोहण और प्रसार से विकास की एक अन्य प्रक्रिया का जन्म होता है जिसे एकीकरण कहते हैं। आरोहण और विस्तार की प्रक्रिया में निम्न तत्वों का विलोपन नहीं होता वरन उच्चतर तत्व का निम्न स्तर के तत्वों से एकीकरण हो जाता है श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त में उच्चतर सत्ता के एकांगी परिवर्तन और सम्पूर्ण निम्नतर तत्वों की सर्वांगीण उन्नति शामिल है। इसी त्रिधा गति से विकास का परिणाम उनका सर्वमुक्ति का सिद्धान्त है। कुछ व्यक्तियों के तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण जगत् का विकास नहीं होगा। अत: जगत् की सत्ता का समूहिक आरोहण और सर्वांग परिवर्तन ही विकास है।

विकास प्रक्रिया के दो स्वरूप हैं : व्यक्तिगत और विश्वव्यापी। अरविन्द के पूर्ववर्ती चिंतकों का व्यक्तिगत विकास पर जोर था परन्तु श्री अरविन्द ने व्यक्तिगत विकास के साथ वैश्विक विकास पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

16.9 व्यक्तिगत विकास (Individual Evolution)

व्यक्तियों के बीच विद्यमान संबंधों से समाज की रचना होती है। अच्छे व्यक्तियों से समाज अच्छा बन सकता है। आत्मा व्यक्ति के माध्यम से अपना अस्तित्व व्यक्त करता है। व्यक्ति का विकास तभी होगा जब उसके चैत्य पुरुष का विकास हो। अकेले प्रकृति द्वारा व्यक्ति का पूर्ण विकास सरल नहीं है। व्यक्ति के पूर्ण विकास का आधार योग है। जिस साधन द्वारा व्यक्ति की चेतना का दिव्य चेतना से मिलन होता है उसे योग कहते हैं । श्री अरविन्द व्यक्ति के सारे जीवन के दिव्यीकरण पर जोर देते हैं अर्थात् वे उसके सारे जीवन को दिव्य बनाना चाहते हैं। वे पहले मनुष्य को दिव्य बनाकर फिर दिव्य मनुष्यों के एक नवीन समाज को रूप देना चाहते हैं। मनुष्य के दिव्य प्राणी के रूप में विकसित होने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—

16.9.1 अभीप्सा

जीव की परमात्मा को पाने की उत्कट भूख या प्यास अभीप्सा है। जीव दिन रात प्रभु की याद करे, उसे पाने की अटूट रट उसमें हो। यह पुकार अन्तरात्मा अथवा चैत्य पुरुष से उठनी चाहिये।

16.9.2 शान्ति और समत्व

ये दोनों तत्व व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यक हैं। शान्ति की स्थिति में चेतना के उच्चतर स्पन्दनों की ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। जब चित्त (मन) क्षुब्ध (अशान्त) होता है और राग द्वेष, हार-जीत आदि से ग्रसित होता है तो अपनी साधना में असफल हो जाता है। शान्ति और समत्व मनुष्य की साधना को सफल बनाते हैं।

16.9.3 आत्म समर्पण

जिसमें सच्चा आत्म समर्पण का भाव होता है प्रभु उस पर कृपा करते हैं। अहं भाव को त्याग कर जो परम तत्व के प्रति अपने को सौंप देता है, परम तत्व उसकी देखरेख करने लगता है।

वैयक्तिक विकास में चैत्य पुरुष का भारी हाथ है। चैत्य पुरुष का विकास व्यक्ति के विकास में सहायक होता है।

16.10 वैश्विक विकास (Cosmic Evolution)

वैश्विक विकास तभी होगा जब विश्व में दिव्य शक्ति को उतारा जायेगा और दिव्य शक्ति के अवतरण द्वारा, दिव्य मनुष्यों द्वारा दिव्य विश्व का निर्माण होगा । उसके लिये तीन प्रकार के रूपान्तरण से गुजरना होगा-

16.10.1 चैत्य पुरुष का जागरण

चैत्य पुरुष के जागरण की चर्चा हो चुकी है। चैत्य पुरुष जिस आवरण से ढका है उसके विदारण से ही शरीर, प्राण और मन पर नियंत्रण हो सकेगा । चैत्य पुरुष का उन्मीलन वैश्विक विकास का केन्द्र बिन्दु एवं प्रारम्भिक बिन्दु है। इसके उद्घाटन के बाद ही मनुष्य अतिमानस की ओर यात्रा कर सकता है। इसका उन्मीलन कैसे होगा इस पर इसी इकाई में विस्तृत चर्चा हो चुकी है।

16.10.2 उच्चतर मानसीय रूपान्तरण

मानवीय मानस से ऊपर शक्तियों - उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तः प्रज्ञा औरअधिमानस का विकास वैश्विक विकास के लिए अपेक्षित है। विश्वीय परिवर्तन तब होगा जब पहले मन, प्राण और शरीर का

र्तन हो और अधिमानस अन्तः प्रज्ञा, प्रदीप्त मानस और उच्चतर मानस का अवरोहण मानस के
: हो जाय जिससे मनुष्य के मन, प्राण और शरीर में परिवर्तन की शुरूआत हो जाय।

10.3 अतिमानसीय रूपान्तरण

कृपा के बिना अतिमानस शक्ति का अवतरण इस धरती पर न हो सकेगा। आत्म समर्पण के अभाव
ु की कृपा का पात्र बन पाना मनुष्य के लिए संभव नहीं होगा। विश्व के पूर्ण विकास का अर्थ है
ा का परा प्रकृति में, मानव का अतिमानव में बदल जाना। अतिमानस में विश्व के रूपान्तरण की
है। मानव प्रयास से यह संभव नहीं है। जब अतिमानस का धरती पर अवतरण होगा तभी अज्ञान
अन्धकार दूर भागेंगे और ज्ञान तथा प्रकाश का साम्राज्य इस पृथ्वी पर स्थापित हो सकेगा. मानव
बनकर इस पृथ्वी पर विचरण करेगा।

.11 विकास के चक्रक नियम की खोज

रविन्द ने विकास के चक्रक नियम की खोज की है। अपनी पुस्तक 'ह्यूमन सायकिल' में आपने
स के चक्रक सिद्धान्त की व्याख्या की है। आपकी विकास की धारणा वर्तुलाकार अथवा चक्राकार
विकास छोटे से बड़े वृत्तों में छलांग लगाता हुआ आगे की ओर बढ़ता है। अधोबौद्धिक, बौद्धिक और
बौद्धिक स्तरों में मनुष्य चक्कर काटता रहता है। अति बौद्धिक दशा में अपूर्णता रह जाने के कारण
ार-बार चक्र में घूमना पड़ता है। यह चक्र में बार बार घूमते रहने की गति तब रुकती है जब अति
क दशा पूर्णता को प्राप्त कर ले।

स आधोबौद्धिक स्तर से शुरू होता है । विकास की दूसरी दशा बौद्धिक है और तीसरी दशा अति
क है। विकास के प्रथम और द्वितीय स्तरों में अनेक चक्र होते हैं और अनेक चक्रों को पार करने के
एक स्तर मिलता है। मनोवैज्ञानिक विकास के अतीत से स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि मनुष्य अपनी
क दशा में अनेकानेक चक्रों में घूमता रहता है। ये सभी चक्र एक दूसरे से बड़े होते हैं और प्रत्येक
न दशाओं का समावेश रहता है । प्रत्येक स्तर पर असंख्य चक्रों के परिक्रमण और अतिक्रमण से
क स्तर की प्रगति हुई। पुनः प्रत्येक चक्र में उक्त तीन स्तर विद्यमान रहे हैं। बौद्धिक स्तर को पार
के बाद मानव अतिमानसिक स्तर पर पहुँचेगा । यह अति मानसिक स्तर मानव का चरम लक्ष्य है।

.12 सारांश

काई में विकास प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। सृष्टि और विकास का विवरण प्रस्तुत करने में
विकास के उन्मेषवादी सिद्धान्त को समझाने का प्रयास किया है। विकास से जुड़ी मान्यताओं,
पुरुष के जागरण, और इसके जागरण की शर्तों पर सम्यक् विचार करते हुए विकास की त्रिधागति,
गत विकास, वैश्विक विकास और विकास के चक्रक नियम पर यथेष्ट चर्चा को स्थान दिया गया

.13 शब्दावली

रण नीचे उतरने की क्रिया

हण नीचे उतरने की क्रिया

सा किसी वस्तु को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा

आरोहण	उन्नयन, ऊपर की ओर चढ़ना
उन्मेष	अविर्भाव
कल्पनाएँ	मान्यताएं जिन्हें मान लिया जाता है सिद्ध नहीं किया जाता है
त्रिधा	तीन प्रकार का
विकास	जगत् की सत्ता का सामूहिक आरोहण और सर्वांग परिवर्तन विकास है।

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Sri Aurobindo, The Life Divine, Vol. I and II (Second Edition 1949)
2. Sri Aurobindo, The Human Cycle. 1st Edn., 1949.
3. श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, प्रथम ग्रन्थ, श्री अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी, प्रथम संस्करण,1970

16.15 संबंधित प्रश्न

1. कौन से विचारक उन्मेषवादी कहलाते हैं ? उन्मेषवादी सिद्धान्त के समर्थक किन्हीं दो भारतीय चिंतकों के नाम बताइये।
2. किसके जागरण से विकास प्रारम्भ होता है? चैत्य पुरुष का जागरण कैसे होता है?
3. एक बच्चे और एक वयस्क के चैत्य पुरुष में क्या भेद हैं? स्पष्ट कीजिये।
4. चैत्य पुरुष और ईश्वर में क्या भेद है? स्पष्ट कीजिये।
5. चैत्य पुरुष के जागरण की क्या पहचान है?
6. विकास की त्रिधागति पर प्रकाश डालिये।
7. निम्नलिखित का उत्तर दीजिये।

(1) पश्चिम में उन्मेषवाद के सबसे बड़े समर्थक विद्वान का नाम बताइये।

(2) पश्चिम के उस आखिरी दार्शनिक का नाम बताइये जो बुद्धिवाद तक सीमित है।

(3) गाँधी किस प्रकार के समाज की स्थापना करना चाहते थे?

(4) वेद, उपनिषद् और गीता विकास के किस सिद्धान्त के समर्थक हैं?

(5) गाँधी जी के विकास का सिद्धान्त क्रमिकवादी है अथवा उन्मेषवादी।

(6) किसके जागरण से अतिमानसिक यात्रा शुरू होती है?

(7) अतिमानस के अवरोहण के अनुग्रह के लिए क्या आवश्यक है?

(8) सत्य के मुख को ढकने वाले सुवर्णमय ढक्कन का क्या नाम है?

16.16 प्रश्नों के उत्तर

1. उन्मेषवादी विचारक वे हैं जो यह मानकर चलते हैं कि मस्तिष्क परम सत्ता को जानने में अक्षम है। फलत: वे मनस् के और आगे विकास की सोचते हैं। वे मानसिक चेतना के स्थान पर एक महत्तर चेतना के उदभव को अनिवार्य मानते हैं जो परम तत्व का बोध करा सके। गांधी और श्री अरविन्द उन्मेषवादी सिद्धान्त के समर्थक हैं।

2. चैत्य पुरुष के जागरण से विकास प्रारम्भ होता है। चैत्य पुरुष का उम्मीलन हो, वह उभरकर सामने आये इसके लिये मन की नीरवता एवं शान्ति आवश्यक है। मानसिक और प्राणिक शान्ति के

: चैत्य उन्मीलित होकर व्यक्ति की सभी क्रियाओं का नियंत्रण अपने हाथ में ले लेता है। अहं के र्जन तथा प्राणिक और मानसिक उद्वेगों की परिसमाप्ति द्वारा चैत्य पुरुष का जागरण होता है।

एक बच्चे का चैत्य पुरुष आवरण रहित होता है। वह प्राणिक और मानसिक उद्वेगों से ढका नहीं ा है। बच्चे में चैत्यपुरुष जाग्रत अवस्था में होता है। बच्चे की क्रियाएं चैत्य पुरुष से प्रभावित होती इसलिए बच्चा अपना स्वामी होता है। वह अपनी क्रियाओं को करने के लिए और अपने मनोभावों व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र होता है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है उसका चैत्य पुरुष ढकता ा है। वयस्क के मन और प्राण की क्रियाएं उसे दबा देती हैं। वयस्क पुरुष का चैत्य आवरण से ढका ा है।

हृदय गुहा में ईश्वर रहता है और हृदय प्रदेश में ही चैत्य पुरुष का निवास है। चैत्य पुरुष ईश्वर अंश है, पर ईश्वर नहीं। ईश्वर पूर्ण है। पूर्ण और अंश में जो अन्तर है वही ईश्वर और चैत्य पुरुष में र है।

चैत्य पुरुष के जागरण से आनन्द , ज्योति और शक्ति का सागर लहराने लगता है। चैत्य पुरुष की त के बाहर आने से उद्वेग रहित और स्वार्थ रहित आनन्द की अनुभूति होने लगती है। हमें अपने र की ईश्वरीय सत्ता और ऊपर के उच्चतम सत्य का ज्ञान होने लगता है।

त्रिधा विकास तीन प्रकार के विकास का द्योतन करता है। इससे विकास की तीन गतियों का बोध है। उन्नयन, विस्तार और एकीकरण विकास की तीन गतियाँ हैं। जब जड़ का उन्नयन प्राण में और का उन्नयन मन में होता है तो पुराने तत्वों में नए तत्वों का उन्मेष होता है। नया तत्व पुराने तत्वों से मेल बनाकर अपना स्थान बना लेता है। नये तत्वों के जुड़ जाने से पुराने तत्वों का विस्तार होता है। न से प्रसार होता है। उन्नयन और विस्तार से एकीकरण का जन्म होता है। आरोहण और विस्तार से तत्वों का अस्तित्व समाप्त नहीं होता वरन् निम्न तत्वों का उच्चतर तत्वों से एकीकरण हो जाता है।

1. वर्ग सां 2. हेगेल 3. अहिंसावादी
4. उन्मेषवादी 5. उन्मेषवादी 6. चैत्यपुरुष
7. समर्पण 8. अधिमानस

इकाई 17 : समाजिक विकास के निर्धारक तत्व I : संस्कृति और नैतिकता

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 सामजिक विकास के साधन-संस्कृति और सभ्यता

- 17.2.1 संस्कृति का प्राण तत्व
- 17.2.2 नैतिकता और सौन्दर्य
- 17.2.3 संस्कृति की सीमाएं
- 17.2.4 नीति और सौन्दर्य का समन्वय
- 17.2.5 बौद्धिक संस्कृति
- 17.2.6 बर्बरता और सभ्यता का सतत खेल
- 17.2.7 आध्यात्मिक संस्कृति
- 17.2.8 आत्मसात्करण
- 17.2.9 अन्त: क्रिया की भूमिका

17.3 नैतिकता: विकास के साधन के रूप में

17.4 सारांश

17.5 शब्दावली

17.6 संबंधित प्रश्न

17.7 प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

- संस्कृति और सभ्यता की सामाजिक विकास में भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे।
- नीति, सौन्दर्यात्मक और बौद्धिक संस्कृतियों और उनकी सीमाओं का वर्णन कर सकेंगे।
- एकांगी विकास के खतरे का वर्णन कर सकेंगे।
- मानव प्रजाति को विनष्ट होने से बचाने के लिए आध्यात्मिक संस्कृति ही एक मात्र उपाय, की विवेचना कर सकेंगे।
- सांस्कृतिक विकास, संस्कृति के जन्म और पतन के विषय में ट्वायनबी और अरविन्द के विचारों में समानता का विश्लेषण कर सकेंगे।
- सांस्कृतिक समृद्धि अन्तक्रिया पर निर्भर है। इसकी विवेचना कर सकेंगे।

- सामाजिक विकास के साधन के रूप में नैतिकता के महत्व को व्याख्यायित कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

श्री अरविन्द का समाज-दर्शन सामाजिक विकास के लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ता है। सामाजिक विकास के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधारों की चर्चा करने के साथ-साथ इनके ग्रन्थों में सामाजिक विकास के निर्धारक तत्वों की विशद व्याख्या की गई है। इस इकाई में संस्कृति और सभ्यता के साथ नैतिकता को सामाजिक विकास के साधन के रूप में विवेचित करने की योजना है। पहले संस्कृति और सभ्यता के सामाजिक विकास में योगदान पर प्रकाश डाला जायेगा। इसके बाद नैतिकता के सहयोग की चर्चा अभीष्ट है।

17.2 सामाजिक विकास के साधन के रूप में संस्कृति और सभ्यता

17.2.1 संस्कृति का प्राण तत्व

मनुष्य ने सामाजिक विकास के जिन साधनों को विकसित कर लिया है, उनमें संस्कृति और सभ्यता सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। संस्कृति और सभ्यता का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक संस्कृति का अपना प्राण तत्व होता है जिसे लेकर संस्कृति आगे की ओर चलती है। यह प्राण तत्व मनुष्य के विकास में साधक बनता है। विकास के स्वरूप और गति के निर्धारण में संस्कृति के प्राण तत्व का बड़ा हाथ होता है। पश्चिमी संस्कृति का प्राणतत्व भौतिकता है। भौतिकता का अर्थ भौतिक उन्नति और समृद्धि से है। पश्चिमी संस्कृति मनुष्य को भौतिक विकास की ओर ले जाती है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व आध्यात्मिकता अथवा दिव्यता है। इसलिए भारत के नागरिक को आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त करने का कार्य भारतीय संस्कृति करती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत जगद्गुरु है। भारत में विकास का नियोजन आध्यात्मिक विकास है।

17.2.2 नैतिकता एवं सौन्दर्य

नैतिक तत्व संस्कृति का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। आचरण की श्रेष्ठता और सौन्दर्य को संस्कृति का श्रेष्ठ तत्व मानने में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ आचरण की श्रेष्ठता को संस्कृति का श्रेष्ठ तत्व ठहराते हैं तो कुछ सौन्दर्य को। नैतिक व्यक्ति कठोर आत्म नियंत्रण पर जोर देने के कारण कठोरतावादी बन जाता है। आचरण, सौन्दर्य और नैतिकता पर अलग-अलग जोर देने का कारण संस्कृतियों में विरोध दिखाई पड़ता है। नैतिक और सौन्दर्यात्मक संस्कृतियाँ एकांगी हैं क्योंकि ये मानव प्रकृति के दो अलग-अलग पक्षों पर अवलम्बित हैं। नैतिक संस्कृति का आधार संकल्प, आचार और चरित्र है जबकि सुन्दर के प्रति संवेदनशीलता सौन्दर्यात्मक संस्कृति का आधार है। कला और सौन्दर्य कठोर आत्म नियंत्रण में बाधक हैं जिससे नैतिक मानव के लिए ये सन्देहजनक हैं। नैतिक मनुष्य सुख को ठुकरा देता है जिससे कठोर बन जाता है। इसके विपरीत सौन्दर्य-प्रेमी मानव सुखवादी होता है। उसे नैतिक नियम प्रिय नहीं होते क्योंकि ये उसके सुख में बाधक होते हैं। वह केवल सौन्दर्योत्पादक नैतिक नियम को मानता है। श्री अरविन्द युग विशेष की प्रत्येक संस्कृति को उच्चतर विकास की ओर प्रकृति का प्रयोग और एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य मानते हैं।

17.2.3 नैतिक संस्कृति की सीमाएँ

नैतिक संस्कृति नैतिकता द्वारा विकास की स्वतंत्रता को सीमित करती है। रोम और स्पार्टा नैतिक संस्कृति के उदाहरण हैं। वहाँ जीवन के आनन्द की कमी थी। दर्शन, कला साहित्य और ज्ञान के लिए कोई स्थान न था। सौन्दर्य बोध और स्वतंत्र विचार पर शंका और अविश्वास की दृष्टि थी।

सौन्दर्यात्मक संस्कृति की सीमाएँ

प्राचीन एथेन्स इस संस्कृति का एक अच्छा उदाहरण था। सौन्दर्यात्मक संस्कृति की यह विशेषता है कि यह सौंदर्यवृद्धि और आनन्द में लिप्त रहती है, उसमें कला साहित्य और सौन्दर्य की तरफ अधिक ध्यान दिया जाता है जिससे विचार और आचार की अपेक्षा होती है। किसी देश की सौन्दर्यात्मक संस्कृति यदि अनैतिक और कमजोर होती है तो उस देश की कमर तोड़ डालती है। सौन्दर्यवादी संस्कृति के विकास के लिए संकल्प, चरित्र, आत्मानुशासन और आत्म नियंत्रण बहुत आवश्यक हैं। इनके अभाव में सौन्दर्यात्मक संस्कृति लड़खड़ा सकती है। मानव प्राणी का विकास संकल्प, चरित्र और आत्म संयम के बिना संभव नहीं है।

17.2.4 नीति और सौन्दर्य का समन्वय

नीति और सौन्दर्य अलग-अलग नहीं बल्कि एक साथ आवश्यक हैं। दोनों में से किसी एक की आवश्यकता और किसी एक का बहिष्कार मनुष्य को अवनति और विनाश की ओर ले चलेंगे और मानव का विकास रुक सकता है। सामाजिक विकास के लिए नैतिकता और सौन्दर्य में समन्वय आवश्यक है। सामाजिक विकास के लिए नैतिकता और सौन्दर्य में समन्वय आवश्यक है। आत्म पूर्णता की सिद्धि के लिए सौन्दर्य बोध और नैतिकता अपरिहार्य हैं। जीवन समृद्ध हो और वह विकास की ओर आगे बढ़े इस हेतु नीति और सौन्दर्य बहुत काम के तत्व हैं। बुद्धि इस समन्यवय को स्थापित कर सकती थी पर वह तो स्वयं अपूर्ण है। फिर उसके प्रतिद्वन्द्वी तत्व समय - समय पर उसका विरोध करते हैं और बुद्धि के नियंत्रण को नहीं मानते। आस्था एक ऐसा ही प्रतिद्वन्द्वी तत्व है। संवेग, नैतिकता और सौन्दर्य भावना आदि भी कभी-कभी बुद्धि के नियंत्रण को नहीं मानते हैं। मानव अस्तित्व की जटिलता और व्यापकता के कारण भी बुद्धि के द्वारा नियंत्रण के प्रयास असफल हो जाते हैं। पुनः जहाँ लक्ष्य पूर्ण सत्य होता है वहाँ बुद्धि की असफलता सुनिश्चित है। पूर्ण सत्य की व्याख्या करना बुद्धि की क्षमता के बाहर है। बुद्धि द्वारा व्यवस्था वहीं पर स्थापित की जा सकती है जहाँ लक्ष्य पूर्ण सत्य न हो। बुद्धि का काम विश्लेषण और सामान्यीकरण करना है।

17.2.5 बौद्धिक संस्कृति

कतिपय विचारक नीति और सौन्दर्य के अलावा बौद्धिक संस्कृति की बातें करते हैं। इसमें संशय नहीं है कि बुद्धि ने विकास को एक उच्च स्तर पर पहुँचा दिया है और विकास में अपनी अहं भूमिका निभाई है। जब विकास प्राकृतिक ढंग से होता है तो ऐसे विकास में एक तथ्य विशेष को ऊंचाई पर ले जाकर उसकी कठिन परीक्षा होती है और असफल होने पर उसके स्थान पर एक अन्य उच्चतर तत्व को स्थान दिया जाता है। जीवन और विकास को बुद्धि एक सीमा तक ही नियमित कर सकती है, उससे आगे नहीं। बुद्धि एक सीमित तत्व है। नीति और सौन्दर्य भी सीमित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नीति, सौन्दर्य और बुद्धि मानव जीवन में सर्वोच्च तत्व नहीं हैं। इस पर भी इनका विशिष्ट स्थान अवश्य है।

17.2.6 बर्बरता और सभ्यता का सतत खेल

बर्बरता और सभ्यता जीवन में आते रहते हैं। सभ्यता द्वारा बर्बरता पर पूरी तरह विजय पाना कठिन कार्य है। परमाणु हथियारों और प्रक्षेप्यास्त्रों के नवीन विकास ने मनुष्य के हाथ में इतनी शक्ति दे दी है कि भावी बर्बरता के विकास से मानव समाज की संरचना ही नष्ट हो सकती है।

नीति, संस्कृति और बुद्धि के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा भी अरविन्द ने यह जताने का प्रयास किया है कि इन तत्वों से मनुष्य को कोई स्थाई संतोष अथवा लाभ नहीं प्राप्त हो सका। एकांगी विकास का अब कोई अन्य नया प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि इससे संस्कृति के विनाश और बर्बरता का खतरा पैदा हो सकता है। अब इस विनाश के लिए शायद मानव जाति तैयार नहीं है। श्री अरविन्द ने अपने चिंतन में यह पाया कि संस्कृति के आध्यात्मिक आधार में उक्त खतरे नहीं हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि आध्यात्मिक संस्कृति ही सच्ची संस्कृति है क्योंकि यह संस्कृति संकट और खतरों से दूर है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि आध्यात्मिक रूपान्तरण ही मनुष्य को स्थाई सुख एवं संतोष दे सकता है।

17.2.7 आध्यात्मिक संस्कृति

समाज दर्शन और इतिहास दर्शन एक दूसरे के पर्यायवाची न होकर एक दूसरे से भिन्न हैं। इतिहास वास्तव में विकास की दिशा की ओर संकेत करने की स्थिति में नहीं होता क्योंकि वह तो हजारों - हजारों वर्षों के अनुभवों का मात्र विवरण होता है। प्राकृतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ मानव में आत्मचेतना हो जाती हैं। प्रसिद्ध विद्वान ट्वायनबी ने सांस्कृतिक विकास का विश्लेषण करके यह सिद्ध कर दिया है कि कोई भी महापुरुष जब उलझी (अनसुलझी) समस्याओं को सुलझाने के लिये कदम आगे बढ़ाता है तो आत्म केन्द्रित होकर चिंतन में लीन हो जाता है। चुनौती का प्रत्युत्तर खोजने में जुट जाता है। इस चुनौती और प्रत्युत्तर की प्रक्रिया द्वारा सांस्कृतिक विकास को आधार मिलता है। चुनौती की दिशा सभ्यता के विकास अथवा विघटन में से किसी भी ओर हो सकती है। प्रत्युत्तर मिल जाने से समाज ऊंचे स्तर पर चला जाता है। और न मिलने पर विघटित हो जाता है। **संस्कृति चुनौतियों के प्रति समाज के प्रत्युत्तर की उपज है।** संस्कृति को सामाजिक प्रक्रिया की एक अचानक उपज नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक आवश्यकताएं संस्कृतियों की जननी हैं।

संस्कृति के जन्म, विकास और विनाश के विषय में भी अरविन्द के विचार ट्वायनबी से काफी मिलते जुलते हैं। श्री अरविन्द के मत से मानव सभ्यता एक भयंकर चुनौती का सामना कर रही है। इस संकट अथवा चुनौती का सामना कर सफलता प्राप्त करने पर ही संस्कृति जिंदा हो सकती है। श्री अरविन्द के अनुसार संस्कृति और सभ्यता के सामने जो चुनौती है वह आध्यात्मिक है। **श्री अरविन्द का समाज दर्शन उनके योगिक अनुभव, उनके आन्तरिक विकास पर अवलम्बित है। वर्तमान संकट (चुनौती) का प्रत्युत्तर आन्तरिक विकास है।**

श्री अरविन्द संस्कृति की वैयक्तिकता से असहमत हैं क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से सभी संस्कृतियाँ एक हैं परन्तु उनमें एक ही मानवता को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने की शक्ति है। वे कहते हैं कि आध्यात्मिकता पर भारत का ही एकछत्र राज्य नहीं है। वह तो मानव प्रकृति का एक अनिवार्य अंश है भले ही वह बौद्धिकता या सभ्यताओं की विविधता और समृद्धि को स्वीकार करते हुए उनमें आत्मा की मूलभूत एकता पर विश्वास प्रकट करते हैं। श्री अरविन्द के मतानुसार सभी संस्कृतियाँ अपनी-अपनी दिशाओं में तब तक आगे बढ़ती रहती हैं जब तक वे सभी अपने-अपने तरीके से आध्यात्मिक स्तर पर नहीं पहुँच जाती। आध्यात्मिक स्तर पर परस्पर विरोध परस्पर पूरक का कार्य करते हैं। उनकी एकता

विविधता में एकता है। श्री अरविन्द के तत्व दर्शन तथा समाज दर्शन में एकता हमेशा अनेकता में प्राप्त की जाती है। वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता एक दूसरे में छिपे रहते हैं। वे कहते हैं कि एक गतिशील विविधता मानव संस्कृति के पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य है।

17.2.8 आत्मसात्करण

जब कभी दो संस्कृतियों में सम्पर्क-संघर्ष होता है तो उनमें परस्पर लेन-देने की क्रिया होती है। यह परस्पर सांस्कृतिक विनिमय की क्रिया विकास की एक आवश्यक शर्त है। यह विनिमय अनुकरण के रूप में न होकर आत्मीकरण के रूप में होना चाहिए। सात्मीकरण से तात्पर्य यह है कि कोई भी संस्कृति दूसरी संस्कृति के तत्वों को ले तो उन्हें अपनी संस्कृति का अंग बना ले, उन्हें अपने में पचा ले। उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण करने की जरूरत नहीं है। उनमें अपने अनुकूल काटने और छांटने की जरूरत है, उनका परिष्कार करके उन्हें अपनाने की जरुरत है। इसे ही आत्म-सात्करण अथवा सात्मीकरण कहते हैं। संस्कृतियों के बीच अन्तक्रिया से संस्कृति समृद्ध होती है और उनमें विविधता आती है। भारत और योरुप की संस्कृतियों में अन्तक्रिया से ही सात्मीकरण और सहयोग का सुअवसर मिलेगा। समाज दर्शन की यह कमी है कि उसके द्वारा सांस्कृतिक विकास के सुनिश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते हैं। वह केवल पिछली असफलताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर सकता है। **संस्कृति और सभ्यता सामाजिक विकास की दशा है, निर्मल भविष्य की ओर बढ़ने की एक प्रणाली है।**

आध्यात्मिक संस्कृति के ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक संस्कृति को अपनी राह पर चलते हुए आगे बढ़ना चाहिए। ये जो विकास के अलग-अलग मार्ग हैं वे आध्यात्मिक स्तर पर एक हो जायेंगे, पर विविधता बनी रहेगी। यह विविधता ही मानव संस्कृति को समृद्धता प्रदान करती है। विविधता को रहने देकर एकता लाने का विचार सही है। संस्कृति का भौतिक योगदान संस्कृति की सफलता और असफलता का निश्चायक नहीं हो सकता है। संस्कृति का लक्ष्य तो मानव का संस्कार करना है, उसे ऊंचे ले जाना है। किसी संस्कृति के आदर्श जितने ऊंचे होते हैं, उन्हें प्राप्त करना उतना ही कठिन होता है। इसका अर्थ हुआ कि सांस्कृतिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए किसी शक्तिशाली तत्व को आधार बनाना पड़ेगा। इस शक्तिशाली आधार तत्व की कमी वर्तमान सांस्कृतिक संकट का कारण है। सांस्कृतिक विकास के आदर्श की पूर्णता के लिए मानव जाति के रूपान्तर की आवश्यकता है। यह रूपान्तर एक आन्तरिक क्रान्ति की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहा है। इस क्रान्ति के बिना मानव का भविष्य उज्जवल एवं प्रकाशमान नहीं बन सकता है।

17.2.9 अन्त:क्रिया की भूमिका

सांस्कृतिक संवृद्धि और आध्यात्मिक विकास के लिए अन्त:क्रिया जरूरी है। मनुष्य अकेले अथवा अलग-अलग आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकते। यह विकास तो परस्पर अन्तक्रिया से ही संभव है। व्यक्ति और राष्ट्र पहले स्वधर्म के सिद्धान्त पर आगे बढ़े। दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क के बिना भी कुछ काल तक आगे बढ़ना संभव हो सकता है। यह अलगाव लम्बे समय तक सम्भव नहीं है। आज जब दुनिया सिमट रही है, सिमटकर छोटी हो रही है तो व्यक्ति समाज और राष्ट्र में से कोई भी अलग-अलग रहकर, अकेले, रहकर विकास नहीं कर सकता। अन्तर्क्रिया अनिवार्य है। इसी से अनेकता में एकता आती है। पूर्व और पश्चिम के मिलन और सहयोग से आध्यत्मिक संस्कृति के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है।

17.3 नैतिकता : विकास के साधन के रूप में

विकास मानव, प्रकृति और परमतत्व का स्वाभाव है। विकास चलता रहना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार विकास के कई स्तर हैं। नैतिकता विकास को नैतिक स्तर की ओर ले जाती है। ध्यान रहे नैतिक

विकास मानव के विकास की आखिरी मंजिल नहीं है। विकास नैतिक स्तर से भी आगे जाता है। नैतिकता मुख्य रूप से मानसिक स्तर पर होती है। नैतिकता का स्तर अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान का स्तर है। मानसिक स्तर पर शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित का द्वन्द्व रहता है। मानव के मानसिक स्तर से ऊपर उठने पर ये द्वन्द्व मिट जाते हैं और मनुष्य असीम दैवी चेतना में पहुँच जाता है।

मनुष्य नैतिकता की ओर और नैतिकता से परे क्यों जाता है? इसलिए जाता है कि उसमें विकास करने, विस्तार करने और अपनी सीमित चेतना से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। अन्य शब्दों में यही प्रवृत्ति मानव को नैतिकता और उससे परे ले जाती है। नैतिकता परम लक्ष्य की खोज करती हुई बौद्धिक स्तर से आगे बढ़ती है। जिससे मानव की चेतना निरपेक्ष सत को पा सके।

मानव का विकास प्रकृति से परा प्रकृति की ओर है। इसलिए मानव विकास में पड़ने वाले स्तरों में नैतिक सोपान निश्चय ही एक अनिवार्य सोपान है। नैतिकता जहाँ प्रकृति से परे है वहीं पर प्रकृति नैतिकता से ऊपर है। मनुष्य की अनेकानेक प्रवृत्तियों में से नैतिक प्रवृत्ति भी एक है।

बुद्धि से निम्न अधिचेतन प्रवृत्तियों से नैतिक प्रवृत्ति और नैतिक क्रिया का जन्म होता है। मानव जीवन में जो कुछ महान और लघु है वह मूल प्रवृत्तियों की उपज है। नैतिकता भी मूल प्रवृत्तिजन्य है। इसीलिए मनुष्य सामाजिक नियम अथवा प्राकृतिक नियम की भाँति नैतिक नियम का पालन करता है। मनुष्य का विकास परम सत्य के पहले रुकने वाला नहीं है क्योंकि मनुष्य निचलने स्तरों पर संतोष नहीं पा सकता है। इसे विकास के पथ पर आगे चलते रहना है जब तक कि असीम दिव्य चेतना अथवा परम सत् की आखिरी मंजिल तक वह पहुँच नहीं जाता है। **नैतिकता विकास का एक साधन है क्योंकि नैतिकता विकास को आगे की ओर ले जाती है। श्री अरविन्द दर्शन में केवल विकास साध्य है और बाकी सब साधन हैं।** नैतिकता मानव के आन्तरिक विकास का साधन है। यह नैतिकता कोई बाहरी परिणाम की प्राप्ति के लिए नहीं है। नैतिकता मानव के आध्यात्मिक विकास में सहायक है और यही नैतिकता की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक नियम, प्रत्येक घटना दैवी प्रकृति की ओर बढ़ने का कदम है। नैतिक कर्म और नैतिक घटनाएँ मनुष्य के विकास को दैवी विकास की ओर ले जाती है। नैतिक विकास के तीन सोपान हैं—एक बुद्धि से निम्न, दूसरा बौद्धिक और तीसरा बुद्धि से परे।

श्री अरविन्द नीति दर्शन का परम लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार है। वह इसी साक्षात्कार के लक्ष्य को पाने के लिए नैतिक नियमों और आदर्शों का पालन करता है। नैतिक आदर्शों का निर्धारण देश-काल के अनुसार होता है। ईश्वर साक्षात्कार को सबसे बड़ा साध्य मानकर उसी का नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। अत: जो मानव और विश्व को उसकी दैवी पूर्णता में सहायक है वही शुभ है, वही उचित है और वह सब जो दैवी पूर्णता से दूर ले जाता है अशुभ और अनुचित है। लक्ष्य स्थिर न होने के कारण नैतिकता के कोई नियम स्थिर और निश्चित नहीं हो सकते। नैतिकता अथवा शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित की धारणाएं देश-काल के सापेक्ष हैं। उनमें देश-काल के अनुसार परिवर्तन दीखता है। श्री अरविन्द का दर्शन सर्वांग दर्शन है जिसमें ईश्वर साक्षात्कार ही नैतिक आदर्श है। श्री अरविन्द के विचार से गीता दिव्यजीवन का पालन करना सिखाती है। उनके लिए आदर्श व्यक्ति वह है जो ईश्वर के लिए कर्तव्य करता है। वह अपने लिए अथवा समाज के लिए कर्तव्य कदापि नहीं करता। मानसिक स्तर तक यही स्थिति रहती है। इस स्तर को पार कर लेने के बाद मनुष्य अपनी आत्मा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में कार्य करता है। जैसे-जैसे हम परम तत्व की प्राप्ति की ओर एक स्तर को पार कर दूसरे स्तर में प्रवेश करते हैं मूल्यों में बदलाव आता है। हमारी चेतना और जीवन के विस्तार के साथ निम्न तत्वों का रूपान्तर होता है। इसी रूपान्तर के साथ मूल्य भी रूपान्तरित होते हैं।

अहं का त्याग— आत्म साक्षात्कार का आदर्श प्राप्त करने के लिए अहं अथवा 'स्व' का त्याग बहुत आवश्यक है। अपनी इच्छाओं का अनुगमन करते रहने तक मनुष्य पशु स्तर पर रहता है। निम्न स्तर से उच्चतर स्तर की ओर उठना नैतिक प्रगति के लिए जरूरी है। यह तभी होगा जब अहं का विसर्जन होगा। अहं का विसर्जन नैतिक वृद्धि का पुष्प है। यही अहं का विसर्जन मानव के स्वार्थी पशु स्तर से निःस्वार्थ दिव्य तत्व तक विकास की आवश्यक शर्त है। अहं के रहते मनुष्य परम तत्व की ओर आकर्षित ही नहीं हो सकता। क्षुद्र अथवा निम्न अहं का त्याग करने से विस्तृत आत्मा का विकास होता है। **क्षुद्र अहं मनुष्य के स्तर का अहं है।** इस अहं का विस्तार धीरे-धीरे परिवार तक, फिर समाज अथवा समुदाय तक, और इसके बाद राष्ट्र तक होता है। कुछ चिंतक राष्ट्रआत्मा को अन्तिम मान लेते हैं। पर भारतीय राष्ट्र-आत्मा तक ही सीमित नहीं रहे क्योंकि वे आत्मा का विस्तार समस्त मानवता तक देखना चाहते हैं। सम्पूर्ण मानवता की आत्मा अथवा चेतना पर पहुँचकर भी वे रुकना नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में आत्मा का यह नैतिक विकास जो सम्पूर्ण मानवता की चेतना के विकास पर पहुँचता है सर्वोच्च चेतना का विकास नहीं है। श्री अरविन्द कहते हैं कि इस मानव की चेतना के और आगे आत्मा को इतना विस्तृत और गहरा बनाना है कि वह दिव्य सत्ता का साक्षात्कार कर ले। अन्य शब्दों में आत्मा का विस्तार और उसकी गहनता में वृद्धि का कार्य तब तक बंद नहीं होगा जब तक कि दिव्य परम तत्व के दर्शन और उसकी प्राप्ति न हो जाय। क्षुद्र अहं से अथवा सीमित अहं के प्रारम्भ-कर परमात्मा तक पहुँचने **के प्रत्येक कदम पर निम्न आत्मा का उच्च आत्मा के लिए त्याग ही आत्म साक्षात्कार के लिए आत्मा का त्याग है।**

साकारात्मक नैतिकता—अरविन्द दर्शन की खास विशेषता यह है कि इसमें अहं या निम्न आत्मा को नकारा नहीं गया है। **उसे स्वीकारा गया है।** उन्होंने उसके महत्व और सीमाओं को बतलाने का कार्य किया है। आत्म विकास में निम्न अहं का भी महत्व है पर उसकी सीमा है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उच्चतर आत्माओं के महत्व और सीमाओं का वर्णन है। वे सर्वांग वि "स में निम्न आत्मा को लेकर आगे बढ़े हैं। **इनके विकास में कोई भी स्तर ऊँचा तब माना जाता है जब वह निम्न स्तर के बाद मिलता है और उसमें निम्न स्तर का समावेश होता है।** उक्त ढंग से विचार अरविन्द के नीति दर्शन के महत्व को अच्छी तरह से स्पष्ट करता है।

मनोवैज्ञानिक नीति दर्शन—इनका नीति दर्शन मनोविज्ञान पर टिका है। श्री अरविन्द ने मानव के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में सब कही मनोवैज्ञानिक झुकावों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी है। इन झुकावों की अवहेलना करते वे कहीं भी नहीं दिखे हैं। यही कारण है कि वे स्वाभाविक विकास पर जोर देते हैं। दमन और दबाव को वे अच्छा नहीं मानते और उनसे बचने की सलाह देते हैं। वे आन्तरिक सच्चाई के जानकार (ज्ञाता) हैं। उनका कहना है कि दमन और दबाव से हताशएं बढ़ती हैं जिनका घातक प्रभाव मनुष्य और उसके समाज पर पड़ता है। उनके नैतिक विकास में आन्तरिक सच्चाई और क्रमिक विकास आवश्यक शर्तें हैं। **विकास के लिए मनुष्य अपने को तैयार करता रहता है। और तैयारी करके विकास की ओर अग्रसर होता है।** यह विकास एक आकस्मिक घटना नहीं है, **बल्कि एक प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे पूर्णता की ओर बढ़ती है।** मनुष्य पहले इच्छित भोगों का आनन्द प्राप्त करता है। और अपनी प्रवृत्तियों को संतुष्ट कर लेता है। जिससे वे पके फल के समान टूट कर गिर जाती है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे दैवी साक्षात्कार की ओर बढ़ता है और उसकी बाधाएं दूर होती चली जाती हैं।

नैतिक कल्पनाएँ— श्री अरविन्द नीति-दर्शन की कुछ कल्पनाएं हैं जिन्हें मानकर वे चले हैं। इन मान्यताओं को सिद्ध नहीं करना है, केवल मान लेना है। इसलिए इन कल्पनाओं को मान्यताएँ भी कहा जाता है। नैतिकता दैवी आवश्यकता पर केन्द्रित है, पर नीति कोई परम तत्व नहीं है। नैतिकता का दण्ड और पुरस्कार से कोई सरोकार नहीं है। इसमें कर्मों का फल देने वाले कर्माध्यक्ष का कोई विचार नहीं है।

पुर्नजन्म भी कोई अनिवार्य नैतिक कल्पना नहीं है। इस पर भी अरविन्द दर्शन में पुनर्जन्म के विचार को समर्थन प्राप्त है। कारण यह है कि विकास के आदर्श को एक जन्म मे पाना संभव नहीं है।

इनके नीति-दर्शन में **संकल्प की स्वतंत्रता** का महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि से निम्न और बुद्धि के नियंत्रण से स्वतंत्र आत्मा के अनुसार संकल्प करना है। चूंकि **आत्मा ही मूलरूप से परमात्मा ही** इसलिए **स्वतंत्र संकल्प का मतलब दैवी सत्ता के एक यंत्र के रूप में कार्य करना है।**

स्वदेशी की नैतिकता—भारत देश के लिए उन्होंने स्वदेशी नैतिकता के नियम को लागू किया। इस नियम के अनुसार भारतवासी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने ही देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि राष्ट्र की अपनी आत्मा होती है। जैसे व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज से काम करता है वैसे ही राष्ट्र को भी अपनी आत्मा के बताए मार्ग पर चलने की जरूरत है। राष्ट्र आत्म साक्षात्कार के लक्ष्य को तभी पा सकेगा जब वह स्वदेशी के नियम का पालन करे। वह स्वदेशी भाषा, स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी संस्कृति, स्वदेशी कला, धर्म और साहित्य और स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देकर ही स्वदेशी नियम का पालन कर सकता है। यह नैतिकता स्वदेशी के लिए साधन मात्र है।

हिंसा और युद्ध की नैतिकता—विकास जब तक मानसिक स्तर पर रहता है संघर्ष के बिना विकास एक कोरी कल्पना के समान हैं। संसार की वर्तमान स्थिति ऐसी है जिसमें हिंसा और युद्ध नैतिक दृष्टि से अनिवार्य हो चुके हैं, आध्यात्मिक आवश्यकता बन चुके हैं। जिनके लिए नैतिकता मात्र साधन है।

17.4 सारांश

इस इकाई में हमने पहले सामाजिक विकास के निर्धारक तत्व के रूप में संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन किया है। एकांगी विकास के खतरों का अध्ययन करने के उपरान्त यह जाना है कि आध्यात्मिक संस्कृति इन खतरों से हमारी रक्षा कर सकती है। संस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए अन्तर्क्रिया के महत्व को जाना है। इसके बाद नैतिकता का सामाजिक विकास के साधन के रूप में अध्ययन किया है। हमने यह भी देखा कि नैतिकता साध्य नहीं वरन् साधन है। नैतिकता से जुड़े सभी आवश्यक पक्षों पर हमने अध्ययन किया।

17.5 शब्दावली

अहं	—	स्व, अहंकार, अहंमन्यता
आन्तरिक	—	भीतरी, आभ्यन्तर
दिव्य	—	दैवी, आध्यात्मिक
द्वन्द्व	—	दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओं या भावों का जोड़ा
निरपेक्ष	—	स्वतंत्र रूप से विद्यमान और बिना किसी से संबंधित, पूर्ण
नि:स्वार्थ	—	स्वार्थ रहित, बिना स्वार्थ के
परा प्रकृति	—	चेतन प्रकृति, जड़ प्रकृति का विलोम
बर्बरता	—	असभ्यता, सभ्यता की पूर्व और उल्टी स्थिति
विसर्जन	—	त्याग, अंत, समाप्ति
सापेक्ष	—	तुलनात्मक, दूसरे पर अवलम्बित

17.6 संबंधित प्रश्न

प्र०-1 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए —

1. प्रत्येक संस्कृति का अपना .....होता है।
2. भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व..... है।
3. नैतिक व्यक्ति ..... बन जाता है।
4. सौन्दर्य प्रेमी मानव ..... होता है।
5. सामाजिक विकास के लिए .....और .....में समन्वय होना चाहिए।
6. ....., और .....मानव जीवन में सर्वोच्च तत्व नहीं है।
7. .....संस्कृति ही सच्ची संस्कृति है।
8. श्री अरविन्द नीति दर्शन का परम लक्ष्य .....है।
9. आत्म साक्षात्कार के लिए .....का त्याग बहुत आवश्यक है।
10. .....इच्छाओं के अवदमन को बुरा समझता है।

प्र०-2 सांस्कृतिक समृद्धि अन्तर्क्रिया पर आधारित है। कैसे ?

प्र०-3 मानव प्रजाति को विनष्ट होने से बचाने के लिए श्री अरविन्द ने कौन-सा एक मात्र उपाय बताया है?

प्र०-4 सांस्कृतिक विकास के विषय में अरविन्द किससे प्रभावित जान पड़ते हैं?

प्र०-5 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(अ) बौद्धिक संस्कृति (ब) स्वदेशी नैतिकता

प्र०-6 एकांगी विकास के क्या खतरे हैं ? समझाइए।

प्र०-6 आत्म साक्षात्कार के सन्दर्भ में आत्म-त्याग का क्या अर्थ है।

प्र०-8 श्री अरविन्द दर्शन में विकास का कोई भी स्तर ऊंचा कब माना जाता है ?

प्र०-9 श्री अरविन्द दमन और दबाव को अच्छा नहीं मानते क्यों ?

17.7 प्रश्नों के उत्तर

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. प्राणतत्व
2. आध्यात्मिकता
3. कठोरतावादी
5. नैतिकता और सौन्दर्य
6. नीति, सौन्दर्य, बुद्धि
7. आध्यात्मिक
8. ईश-साक्षात्कार

9. स्व

10. फ्रायड

2. जब दो संस्कृतियाँ अथवा एकाधिक संस्कृतियाँ सम्पर्क में आती हैं और उनमें एक लम्बे समय तक सम्पर्क बना रहता है तो उनमें अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। अन्तक्रिया का अर्थ पारस्परिक प्रभाव से है। इस अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप सम्पर्क में आई संस्कृतियों में सांस्कृतिक तत्वों का लेन-देन होने लगता है, जिससे नए सांस्कृतिक तत्वों के जुड़ने का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। इस सांस्कृतिक विनिमय का स्वाभाविक परिणाम है सांस्कृतिक समृद्धि।

3. मानव जाति के विनाश को बचाने के लिए श्री अरविन्द आध्यात्मिक संस्कृति के विकास को एकमात्र उपाय बताते है। आध्यात्मिक संस्कृति सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है, एक ऐसी संस्कृति है जो संकट और खतरों से दूर है। उन्हें अनुभव हुआ कि आध्यात्मिक रूपान्तरण में मनुष्य को स्थाई सुख और संतोष प्राप्त हो सकता है।

4. ट्वायनबी

5.अ- बौद्धिक संस्कृति-बुद्धि विकास को एक उच्च स्तर पर पहुँचाने का कार्य करती है। बुद्धि ने विकास की गति को तेज कर दिया है। बुद्धि विकास का अन्तिम तत्व नहीं है। विकास बौद्धिक स्तर से आगे भी जाता है। एक सीमा तक बुद्धि विकास का साधन बन सकती है। उस सीमा के बाद विकास की बागडोर बुद्धि से उच्चतर साधन के हाथ में सुपुर्द कर दी जाती है। फिर भी विकास में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है।

5. ब- स्वदेशी नैतिकता- अपने देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग एक स्वदेशी नैतिकता है। इसमें देश के बाहर बनी वस्तुओं के इस्तेमाल का बहिष्कार भी शामिल है। व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी आत्मा होती है। राष्ट्र के बताए मार्ग पर राष्ट्रवासियों को चलना चाहिए। अपने देश की भाषा, देश में निर्मित वस्तुओं, देश की संस्कृति, देश की कला, धर्म और साहित्य को बढ़ावा देना चाहिए तथा विदेशी माल के क्रय-विक्रय पर प्रतिबंध होना चाहिए। यही स्वदेशी नैतिकता है।

6. एकांगी विकास से पूर्ण विकास के लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन होता है। जीवन के एक अंग में विकास होने से असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संस्कृति, सभ्यता, नीति और वृद्धि में से एक का विकास होने से शेष तत्वों का विकास रुक जाता है। पूर्ण या सर्वांग विकास ही एक सच्चा विकास है। एकांगी विकास से कोई स्थाई संतोष अथवा सुख नहीं मिलता है। एकांकी विकास से संस्कृति के विनाश और बर्बरता का खतरा पैदा हो सकता है।

7. क्षुद्र अहं अथवा सीमित अहं से प्रारम्भ कर परमात्मा तक पहुँचने के प्रत्येक कदम पर निम्न आत्मा का उच्च आत्मा के लिए त्याग ही आत्मा साक्षात्कार के सन्दर्भ में आत्मा का त्याग है।

8. श्री अरविन्द दर्शन में विकास का कोई भी स्तर ऊंचा तब माना जाता है जब वह निम्न स्तर के बाद मिलता है और उसमें निम्न स्तर का समावेश होता है।

9. श्री अरविन्द दमन और दबाव को अच्छा नहीं मानते हैं क्योंकि दमन और दबाव जीवन के किसी भी क्षेत्र में अच्छे नहीं है। यदि किसी इच्छा या वासना का अवदमन किया जाता है तो

दुबारा जब वह उभरती है तो अधिक वेग से उभरती है जिसका घातक प्रभाव जीवन और समाज पर पड़ता है। अगर दबाव से कोई भी काम होता है तो दबाव के समाप्त होने पर रुक जाता है। श्री अरविन्द स्वाभाविक विकास को अच्छा मानते हैं। उनका कहना है कि दबाव से हताशाएँ बढ़ती हैं। उनकी मान्यता है कि विकास एक प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे पूर्णता की ओर आगे बढ़ती है। उनकी यह सलाह है कि मनुष्य पहले इच्छित भोगों को भोग ले जिससे उसकी भोग लिप्सा पके फल की भांति टूट कर गिर जाय अथवा नि:शेष हो जाय।

काई 18 : सामाजिक विकास के निर्धारक तत्व II : शिक्षा और धर्म

काई की रूपरेखा

ा उद्देश्य

1 प्रस्तावना

2 सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में शिक्षा

18.2.1 स्वयं शिक्षा

18.2.2 शिक्षा और मनोविज्ञान

18.2.3 शिक्षा का लक्ष्य

18.2.4 शिक्षा का सिद्धान्त

18.2.5 इन्द्रिय शिक्षा

18.2.6 नैतिक शिक्षा

18.2.7 धार्मिक शिक्षा

18.2.8 शारीरिक शिक्षा

18.2.9 शिक्षा द्वारा व्यक्ति का आन्तरिक और बाह्य विकास

3 सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में धर्म

18.3.1 धर्म का अर्थ

18.3.2 धर्म का महत्व

18.3.3 धर्म का सार आध्यात्मिकता

18.3.4 बुद्धि की अपर्याप्तता

18.3.5 धर्म दर्शन

18.3.6 सामाजिक विकास में धर्म का अंशदान

18.3.7 धर्म की सीमाएं

18.3.8 योग–सामाजिक विकास की पूर्ण एवं अन्तिम प्रणाली

4 सारांश

5 शब्दावली

6 उपयोगी पुस्तकें

7 संबंधित प्रश्न

8 प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के उपरान्त आप :

- अरविन्द के शिक्षा विषयक विचारों का उल्लेख कर सकेंगें।
- सामाजिक विकास प्रणाली के रूप में धर्म के अर्थ एवं महत्व का वर्णन कर सकेंगे।
- धर्म और बुद्धि में संबंध की विवेचना कर सकेंगे।
- सामाजिक विकास में धर्म का योगदान और सीमाएं बता सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सामाजिक प्रणाली के रूप में शिक्षा और धर्म का अध्ययन करेंगे। हम इस इकाई का प्रारम्भ सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में शिक्षा के विवेचन से करेंगे। इसके उपरान्त सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में धर्म का परीक्षण करेंगे।

18.2 सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में शिक्षा

18.2.1 स्वयं शिक्षा

श्री अरविन्द ने शिक्षा के विषय में चिंतन किया है। उनका यह चिंतन शिक्षा दर्शन के रूप में लोकप्रिय है। श्री अरविन्द के अनुसार सच्ची शिक्षा आत्म शिक्षा है। उनके शैक्षिक चिंतन में शिक्षार्थी ही शिक्षा का केन्द्र बिन्दु है। इनके शिक्षा दर्शन में शिक्षार्थी की भूमिका प्रमुख है और शिक्षक की भूमिका गौण । यदि कोई अन्दर से प्रेरणा पाकर शिक्षार्जन का कार्य करता है तो उसका आनन्द ही कुछ और होता है। शिक्षा बाहर से थोपी नहीं जा सकती और न ही जबरन दी जा सकी है। बलात शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं, कोई मूल्य नहीं। शिक्षक चाहे जितना श्रेष्ठ हो पर यदि शिक्षार्थी सुमतियुक्त और सुशील नहीं है तो शिक्षा अफलप्रसू सिद्ध होगी, निष्फल, निष्प्रयोजन अथवा व्यर्थ जायेगी और शिक्षार्थी पर शिक्षा का कोई असर नहीं होगा। शिक्षा में बालक की दिलचस्पी होनी चाहिए। इस दिलचस्पी के लिए शिक्षा बालक की रु चि के अनुकूल होनी चाहिए। रु चि और दिलचस्पी होने पर शिक्षा मनुष्य को उन्नत, परिष्कृत और उपयोगी बनाती है।

18.2.2 शिक्षा और मनोविज्ञान

शिक्षा मनुष्य में छिपी गुह्यतम शक्तियों, ज्ञान और सम्भावनाओं को उभारती और विकसित करती है। शिक्षा के द्वारा उसी का आविर्भाव होता है जो पहले से ही विद्यमान है पर छिपा छिपा रहता है। जिसका अन्तर्भाव नहीं होता उसका आविर्भाव भी नहीं होता । शिक्षा द्वारा कुछ नहीं गढ़ा जाता, कोई नई रचना नहीं की जाती अथवा कोई नया निर्माण नहीं होता है । जो पहले से छिपा है शिक्षा उसे प्रकट करती है। जैसे कली के अन्दर पुष्प का पूर्ण स्वरूप निहित होता है पर खिलने की प्रक्रिया द्वारा फूल का आकार बाहर आ जाता है और सुन्दर, सुगंधित एवं आकर्षक लगने लगता है। मनुष्य भी शिक्षा के माध्यम से अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है, उसका जीवन खिल सकता है, कुसुमित हो सकता है, शिक्षा के बिना वह अपूर्ण रहता है। अधूरी शिक्षा से वह अधखिला रह जाता है । पूर्ण शिक्षा से उसका पूर्ण विकास होता है। मनोवैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि मानव इस धरती पर कुछ विशिष्ट संरचना, शक्तियां और कौशल लेकर पैदा होता है। अत: शिक्षा मानव-प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए। इसी में उसकी सार्थकता है।

2.3 शिक्षा का लक्ष्य

मानव और समाज के लक्ष्य के अनुरूप हो यह अधिक तर्कसंगत है और यह शिक्षा का व्यावहारिक न्त है। शिक्षा का उद्देश्य भौतिक समृद्धि हो सकता है या फिर आध्यात्मिक उन्नति । श्री अरविन्द क्ष्य दिव्य मानव के माध्यम से दिव्य समाज की स्थापना करना है । अत: उनकी शिक्षा का उद्देश्य को दिव्य बनाकर दिव्य समाज को इस धरती पर उतार लाना है। वे सर्वांग शिक्षा के पक्षपाती थे। ी शिक्षा उन्हें पसन्द न थी। वे प्राचीन ऋषि-मुनियों से साम्य रखते हुए शिक्षा के तात्कालिक । पर उतना जोर नहीं देते हैं जितना कि उसके चरम लक्ष्य पर । मनुष्य में दैवी तत्व का पूरी तरह क्षात्कार शिक्षा का परम ध्येय है। भारत में शिक्षा प्रकाश और शक्ति का स्रोत है। शिक्षा हमारी, क, प्राणात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों एवं कुशलताओं के सम्यक् विकास द्वारा हमारी । को बदलती और उसे श्रेष्ठता प्रदान करती है। उनकी शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सम्पूर्ण भौतिक आध्यात्मिक विकास है।

2.4 शिक्षा का सिद्धान्त

साक्षात्कार की स्वतंत्रता शिक्षा का एक आदर्श होना चाहिए। यह आदर्श निरंतर विकसित होता हुआ शक्ति तक जाता है। दिव्य शक्ति चूँकि प्रत्येक वस्तु की जड़ में है, अत: सच्ची स्वतंत्रता दैवी है में बन्धन हानिकारक है। शिक्षा में दबाव के स्थान पर सहमति अधिक फलप्रद है । श्री अरविन्द ी साक्षात्कार के लिए प्रत्यगात्मा अथवा चैत्यपुरुष के विकास पर प्रकाश डाला है। मनुष्य के अन्दर इस चैत्यपुरुष की खोज शिक्षा का ध्येय है। अत: शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य विकास की ओर बढ़ती ात्मा को अपने में से सर्वोत्तम की अभिव्यक्ति करना है।

ी शिक्षा के एक अन्य सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। शिक्षण संस्थाओं के पाठ्य शिक्षा का माध्यम और पर्यावरण विद्यार्थी के स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। शिक्षा में स्वदेशी का अधिक उपयोगी है पर इससे यह अर्थ लेना ठीक नही है कि शिक्षा में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य की उपेक्षा का भाव विद्यमान है। अपनी राष्ट्रभाषा, मातृभाषाओं और क्षेत्रीय भाषाओं के द्वारा र्जन शिक्षा को सरल और बोधगम्य बनाते हैं और शिक्षा को स्वाभाविक स्वरूप प्रदान करते हैं । ाषा के द्वारा शिक्षार्जन से देश के साहित्य और इतिहास की वास्तविक जानकारी मिलती है। श्री न्द के अनुसार पहले बालक को मातृभाषा सिखानी चाहिए और इसके बाद ही अन्य भाषाओं को ने की बात सोचनी चाहिए।

2.5 इन्द्रिय शिक्षा

। इन्द्रियां ठीक से कार्य करें इसलिए उन्हें प्रशिक्षित करना आवश्यक है। अभ्यास से इन्द्रियों को क्षत किया जा सकता है। अभ्यास से इन्द्रियां ही प्रशिक्षित नहीं होती, वरन् जड़मति भी सुजान बन है। (करत करत अभ्यास से जड़मति होत सुजान। सासरी आवत जात से सिल पर पड़त निसान) ाँ ठीक तरह से कार्य करें इसके लिए तीन बाधाओं पर विजय पाना जरूरी है। पहली बाधा है त्मक। इसे नैतिक आदतों के विकास द्वारा दूर किया जा सकता है। दूसरी बाधा मानसिक है इसे क शक्तियों के नियंत्रण द्वारा जीता जा सकता है। तीसरी बाधा स्मृति की है इसे चित्त शुद्धि के म से दूर किया जा सकता है।

2.6 नैतिक शिक्षा

रविन्द हृदय की शिक्षा पर जोर देते हैं। इस शिक्षा के अभाव में बौद्धिक विकास का कोई औचित्य ै। हृदय की शिक्षा से तात्पर्य नैतिक शिक्षा से है। नैतिक शिक्षा के अभाव में बुद्धि का विकास

मनुष्य को अनैतिकता की ओर धकेल सकता है। मनुष्य के संवेग संस्कार और स्वभाव का रूपान्तर नैतिक विकास में सम्मिलित है। नैतिक शिक्षा आदेशमूलक न होकर सुझाव मूलक होती है बालक को सन्मार्ग की ओर बढ़ने की आवश्यकता है। इसके लिए उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए परन्तु हस्तक्षेप वर्जित है। इसके लिए सुझाव, निर्देशन और सहायता के लिए जगह है। शिक्षक ऊँचे आदर्श प्रस्तुत करके नैतिक शिक्षा दे सकते हैं। कठोर अनुशासन की जगह बड़ों के सम्मान और प्रशंसा के भाव विकसित करने की जरूरत है। आज जो अनुशासनहीनता या अनुशासन की समस्या है उसका प्रबल कारण शिक्षकों, अभिभावकों और अन्य बड़ों के प्रति असम्मान और घृणा में हो रही बढ़ोत्तरी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली का दोष यह है कि गुरू छात्रों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पा रहा है। आज वह छात्रों के लिए एक आदर्श शिक्षक नहीं है। यदि शिक्षक शिक्षार्थी का मित्र , मार्ग दर्शक और सहायक बने तो शिक्षार्थी को रचनात्मक बना सकता है। यदि बालक अनैतिक है, अपराधी है तो कठोर व्यवहार से उसे सुधारना या नैतिक बनाना संभव नहीं है। इसके लिए सहानुभूति, परिष्कार और सुधारक उपाय अधिक प्रभावी सिद्ध होंगे। विद्यार्थी के असभ्य व्यवहार के शुद्धिकरण की आवश्यकता है। बालक के हृदय को परिवर्तित कर उसे नैतिकता की ओर मोड़ा जा सकता है।

18.2.7 धार्मिक शिक्षा

धर्म की शिक्षाओं को जीवन में उतारने से लाभ है। कोरे धार्मिक उपदेश या कोरी धार्मिक शिक्षा तब तक निष्फल और प्रभावहीन रहेगी जब तक मनुष्य शुभ आचरण करना प्रारम्भ नहीं करता है। धार्मिक गुणों, शिक्षा और उपदेशों के कथन एवं श्रवण से कहीं अधिक उन पर अमल करना जरूरी है। धर्म की उपयोगी बातों, सिद्धान्तों, ईश्वर, मानवता और देश प्रेम जैसे तत्वों का ज्ञान शिक्षा द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए। सभी धर्मों का मूल उद्देश्य एक होने के कारण सभी लोग अपने अपने धर्मों (स्वधर्म) का पालन करने हुए दूसरे धर्मावलम्बियों से संबंध बनाये रख सकते हैं। नैतिक और धार्मिक शिक्षा के आधार पर ही कोई भी शिक्षा व्यवस्था सफल हो सकती है और वाञ्छित परिणामों तक पहुंच सकती है।

18.2.8 शारीरिक शिक्षा

औपचारिक शिक्षा के साथ साथ खेलकूद और व्यायाम की शिक्षा भी अपनी जगह महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निखार और सर्वांगीण विकास के लिए क्रीड़ा का अपना अलग महत्व है और वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का इसे अनिवार्य अंग माना जाता है। खेल-कूद से गुणों और नियमों का विकास होता है खेल की भावना का विकास होता है जो एक बहुत बड़ा सदगुण है। इस भावना के कारण खेल में हार-जीत होने पर लड़ाई झगड़े की सम्भावना न्यून हो जाती है। यही कारण है कि मानसिक शिक्षा के साथ साथ शारीरिक शिक्षा की उपयोगिता और अनिवार्यता पर श्री अरविन्द जोर देते हैं खेल और व्यायाम से मैत्री भाव (सखा-भाव) में वृद्धि होती है, प्रतियोगिता की भावना का विकास होता है जो व्यक्ति, समाज और देश के लिए अनिवार्य है। सहिष्णुता के गुण का भी विकास होता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक है। विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचारी होना आवश्यक लक्षण है। विद्यार्थी के पाँच लक्षणों में से एक लक्षण गृह त्यागी अथवा ब्रह्मचारी रहने का है। गृह त्यागी का अर्थ अविवाहित होना है क्योंकि हिन्दू धर्म ग्रन्थों में गृह शब्द घरवाली के लिए व्यवहृत हुआ है। 'न गृहं काष्ठ पाषाणैः दयिता यत्र तद्गृहम' में घर वाली को ही घर बताया गया है। अतः ब्रह्मचर्य व्रत का पालन छात्र का एक अनिवार्य लक्षण है । बिना शारीरिक विकास के सर्वांग विकास का लक्ष्य अधूरा ही रह जायगा। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है। मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने पूर्ण विकास के आदर्श को पूर्ण कर सकता है।

3.2.9 शिक्षा द्वारा व्यक्ति का आन्तरिक और बाह्य विकास

ा से मनुष्य का आन्तरिक विकास होता है। शिक्षित व्यक्ति अशिक्षित की तुलना में श्रेष्ठ होता है कि शिक्षा के माध्यम से उसकी बाह्य प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है, वह एक अनगढ़ व्यक्ति नहीं जाता। वह अनुभवी हो जाता है। ज्ञान चक्षुओं के खुलने से एक कढ़े हुए व्यक्ति का स्वरूप पा लेता उसे सही गलता, शुभ-अशुभ का ज्ञान हो जाता है।

ार्गीण विकास

अरविन्द का दिव्य पुरूषों के द्वारा दिव्य समाज की रचना का आदर्श उनके भविष्य का सपना था । ने हैं कि शिक्षा द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है। सर्वांगीण विकास में मनुष्य का शारीरिक, सिक, नैतिक और धार्मिक विकास सम्मिलित है। स्कूली शिक्षा से इस आदर्श को प्राप्त नहीं किया जा ता है। श्री अरविन्द के अनुसार आधुनिक शिक्षा प्रणाली और प्राचीन शिक्षा प्रणाली दोनों व्यक्ति र्ण विकास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसीलिए वे अपनी भावी शिक्षा योजना में प्राचीन और निक शिक्षा प्रणाली के स्थान पर ज्ञान प्राप्त करने के एक पूर्ण एवं गतिमान साधन के चुनाव पर केन्द्रित करते हैं। वे आधुनिक शिक्षा प्रणाली के दोषों अथवा कमियों से परिचित हैं । इसलिए शिक्षा प्रणाली की सीमाओं को भली भाँति जानते हैं। उनके शिक्षा दर्शन के सर्वांग ध्येय को पूरा करने मान शिक्षा अक्षम है। इस ध्येय की सिद्धि विश्वविद्यालयी शिक्षा से नहीं हो सकती है। इसके लिए ग के साधन का सुझाव देते है। योग मानव जीवन के विकास का सबसे अधिक प्रभावशाली और शाली साधन है।

रविन्द व्यक्ति का पूर्ण विकास तब तक नहीं मानते जब तक उसके सामाजिक पक्ष का विकास न नकी शिक्षा प्रणाली में व्यक्ति की शक्तियों, सामर्थ्यों और गुणों के विकास के साथ साथ सामाजिक के विकास को भी आवश्यक समझा गया है। उनका शिक्षा दर्शन एक सार्वभौम शिक्षा दर्शन है। शिक्षा दर्शन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की नींव रखी जा सकती है। श्री अरविन्द के र शिक्षा के सभी साधन सीमित हैं। जब सभी साधनों के विकास की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तो ही एक मात्र ऐसा साधन बचता है जो विकास को आगे की ओर ले जाता है। विकास की सर्वांग णाली का विवेचन इस खण्ड की इकाई पन्द्रह में हो चुका है।

3 सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में धर्म

3.1 धर्म का अर्थ

नुष्य की वह प्रतिक्रिया या अनुक्रिया है जिसका सीधा संबंध रहस्यों (समझ में न आने वाले तत्वों) कभी ऐसा भी था जब प्रकृति एक पहेली थी। पहेलियां बूझी जाती हैं । इनका अर्थ जन साधारण मझ में नहीं आता। पहेलियों को समझने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उदाहरण के 'सावन फूल, चैत में फल' एक पहेली प्रस्तुत है। यह पहेली किस वृक्ष के लिए है सबके लिए ना संभव नहीं है। पर जानकार व्यक्ति झट बता देगा कि यह पहेली 'बबूल के पेड़' की ओर करती है। धर्म भी इसी तरह एक पहेली है एक रहस्य है। महाजन अथवा धर्म गुरु धर्म की गुत्थियों मझा सकते हैं। श्री अरविन्द एक ऐसे ही धर्मगुरु हैं जो धर्म की गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश

में लगे। उन्होंने ईश्वर और मनुष्य के बीच एक धर्मदूत का कार्य किया। जो बातें लोकोत्तर, अतीन्द्रिय, अति प्राकृतिक अथवा उत्सामाजिक है उन्हीं से धर्म का नाता-रिश्ता है। धर्म इन्हीं को समझने का एक प्रयास है। उन्हीं के प्रति मनुष्य की आस्था को धर्म कहते हैं। यह रहा धर्म का एक पक्ष। इसका दूसरा पक्ष भी है।

धर्म मुख्य रूप से समाज से जुड़ा है और लगभग सभी समाजों में पाया जाता है। दुर्खीम धर्म की जड़ों को समाज में पाते हैं। वे समाज को ईश्वर का महिमा मंडित साम्राज्य कहते हैं।

धर्म आस्था की वस्तु है। आस्था के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं है। आस्था और विश्वास अलग-अलग हैं। आस्था यदि सत्य की कसौटी पर खरी न उतरे तो भी बनी रहती है। आस्थवान व्यक्ति आसानी से आस्था से डिगता नहीं है। विश्वास असत्य सिद्ध होने पर (सत्य की कसौटी पर खरा न उतरने पर) समाप्त हो जाता है। बाइबिल के अनुसार आस्था वह पुल है जो लौकिक को अलौकिक के साथ और बाहरी ज्ञान को आंतरिक ज्ञान के साथ जोड़ता है।

मैलिनास्की धर्म को एक क्रिया विधि, एक विश्वासों की व्यवस्था, एक समाजशास्त्रीय प्रघटना और एक व्यक्तिगत अनुभव मानते हैं। आपकी धर्म की परिभाषा से स्पष्ट है:

1. धर्म का समाज से प्रगाढ़ संबंध है।
2. धर्म व्यक्तिगत अनुभव है अर्थात् इसका एक व्यक्तिगत पक्ष भी है।
3. धर्म विश्वासों की एक प्रणाली है।
4. धर्म कार्य करने की एक प्रणाली है। कार्य करने की प्रणाली को संस्था कहते हैं। जिस प्रकार संस्था मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करती है धर्म भी एक संस्था के रूप में मानव विकास की आवश्यकता को पूरा करने में सहायता करता है।

सामाजिक विकास को प्रेरित और निर्देशित करने में जब बुद्धि और विवेक असमर्थ हो जाते हैं तब यह कार्य धर्म के द्वारा होता है। सामाजिक विकास की प्रणाली सामाजिक विकास के लक्ष्य और आदर्श के अनुरूप होनी चाहिए। सामाजिक विकास के ध्येय की प्राप्ति के लिए संस्कृति और सभ्यता, शिक्षा और नैतिकता की प्रणालियों को अपर्याप्त पाया गया। उक्त प्रणालियों का सामाजिक विकास में योगदान अत्यल्प है। विकास के ध्येय और आदर्श को पूरा करने में वे असफल पाई गयीं। अब धर्म को सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में कसौटी पर कसकर देखना है इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक विकास की जिन प्रणालियों की व्याख्या की गयी है धर्म उन सबसे अधिक विकसित प्रणाली है।

18.3.2 धर्म का महत्व

धर्म का सीधा संबंध दैवी शक्ति से है। धर्म एक नियंत्रक शक्ति है जो मनुष्य को सांसारिक हरियालियों से दूर रखता है। उसे वस्तुओं की बाह्य तथा अपूर्ण प्रतीतियों में फंसने नहीं देता। धर्म मनुष्यों का उद्धार करने वाला तथा विकास को गति प्रदान करने वाला एक प्रभावशाली साधन है। धर्म एक सारथी अथवा चारवाहे के रूप में कार्य करता है। धर्म विकास के रथ को उसके गंतव्य तक पहुंचाने में सहायता करता है। मनुष्य रूपी पशु को चराने अथवा नियंत्रित करने में धर्म की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हिन्दू मान्यता के अनुसार धर्म वह है जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस की सिद्धि हो। अभ्युदय से तात्पर्य भौतिक समृद्धि से है और नि:श्रेयस का अर्थ आध्यात्मिक समृद्धि से है। अत: धर्म इस लोक और परलोक दोनों को बनाने में सहायक है।

र्म मनुष्य की हर प्रकार से सहायता करता है चाहे उसका आन्तरिक विकास हो या सामाजिक
िकास। धर्म मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में सहायक है। दुःख की घड़ी में, संकटकाल में
ब माता-पिता और भाई सब साथ छोड़ देते हैं धर्म व्यक्ति का पूरी तरह से साथ देता है। यहां पर कार्ल
र्क्स का धर्म के विषय में कथन उद्धृत करने योग्य है। कार्लमार्क्स कहते हैं कि ''धर्म दलित वर्ग की
ाह है, निर्दयी विश्व की भावना है, निष्प्राण स्थितियों की आत्मा है। यह जनता के लिए अफीम का
ाम करता है। कार्लमार्क्स धर्म को शान्ति मिलने का एक उपाय मानते हैं। धर्म कराहती मानवता को
जात दिलाने वाला एक साधन है। कार्लमार्क्स ने धर्म को अफीम कहकर धर्म और अफीम के प्रभाव में
मानता स्थापित की है। अफीम एक नशा है उसी प्रकार धर्म भी एक नशा है और एक ऐसा नशा है जो
ुष्य को शान्ति प्रदान करता है, उसकी पीड़ा को कम कर देता है। शल्य चिकित्सक द्वारा रोगी को दी
ने वाली नशीली दवाइयों और इंजेक्शन का उद्देश्य रोगी की पीड़ा को कम करना है। धर्म का कार्य भी
नता की पीड़ा को कम करना है।

8.3.3 धर्म का सार आध्यात्मिकता

र्म का केन्द्र बिन्दु कोई न कोई अलौकिक, अतिप्रकृतिक , अतीन्द्रिय और उत्सामाजिक सत्ता है। यह
ता समाज से, इहलोक से, इन्द्रियों से, और प्रवृत्ति से परे है, इनसे बढ़कर है, इनके नियंत्रण में नहीं है।
ा सत्ता का अच्छा असर पड़े इसलिये इसे प्रसन्न करके मनुष्य सफलता, रिद्धि-सिद्धि और विकास
रना चाहता है। यह शक्ति सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान है। मनुष्य इससे तादात्म्य स्थापित करना
हता है। जो ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना चाहता है वह ध्यानमग्न हो ईश्वर के चिन्तन में लग जाय
ाधि में चला जाय। साधना एक ऐसा उपाय है जिससे व्यक्ति ईश्वर में विलीन हो सकता है। श्री
रविन्द के अनुसार सच्चा धर्म आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उसकी पूर्णता में अनुगमन करता है। श्री अरविन्द
पनी पुस्तक 'रिनांसा इन इण्डिया' में आध्यात्मिकता के विषय में लिखते हैं कि यह ''सर्वोच्च आत्मा,
ी शक्ति, सर्वग्राही इकाई को जानने का प्रयास और उसमें जीने का प्रयास तथा जीवन को उसके सभी
गों में सर्वोच्च दैवी मूल्य तक उठाने का प्रयास है।''

8.3.4 बुद्धि की अपर्याप्तता

र्म बुद्धि से परे है क्योंकि धर्म के सत्यों को बुद्धि से नहीं समझा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है
 बुद्धि निरर्थक है अथवा जो कुछ बुद्धि से परे है वह निरर्थक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि धर्म सार
ा में अति बौद्धिक है। धर्म को जानने के लिए धार्मिक बनना पड़ता है। बुद्धि से धर्म की जानकारी नहीं
सकती। जैसे बालक उन्नत विचारों को नहीं समझ सकता, अज्ञानी व्यक्ति गूढ़ वैज्ञानिक सत्यों में गति
ीं पा सकता उसी प्रकार धर्म को बुद्धि से नहीं जाना जा सकता । बुद्धि धर्म के आन्तरिक सार को नहीं
सकती। श्री अरविन्द के मतानुसार धार्मिक सिद्धान्त चैत्य के अनुभव द्वारा जाने जा सकते हैं। यदि
ई धर्म के सामान्य लक्षणों को एकत्रित कर धर्म के सार को जानने का प्रयास करता है तो उसका यह
ास भी निरर्थक है। ट्वायनबी ने एक ऐसा ही प्रयास किया है। धर्म के तत्वों को जानने के लिए
तिहासिक विधि उपयुक्त नहीं है। मनोवैज्ञानिक विधि से धर्म की गहराइयों, धर्म के तत्वों और सत्यों
समझा जा सकता है। धर्म का क्षेत्र, लक्ष्य और प्रक्रिया अतिबौद्धिक है। धर्म का सार ईश्वर की खोज
र ईश्वर को पाना है।धर्म के बुद्धि से न्यून पहलू में उसके दोष भी देखे जाते हैं। मनुष्य अज्ञानवश धर्म
चर्च, धार्मिक समाज या एक विशेष सम्प्रदाय मान बैठता है जिससे अत्याचार को बढ़ावा मिलता है।
र्मिक हठवादिता हिंसा और आतंक वाद को भड़का सकती है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में
सुधार को लेकर विरोध हुए हैं वे धर्मवाद के कारण हुए हैं। धर्म को चर्च अथवा सम्प्रदाय मान लेने
जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कठिनायां उत्पन्न हुई हैं। धर्म को चर्च या सम्प्रदाय मान लेना एक बुनियादी

भूल है। इसी भूल के कारण जीवन में धर्म के प्रति विद्रोह की भावना भी भड़की है। सत को अथवा परमतत्व को बुद्धि के बल पर कैसे जाना जा सकता है। धर्म में अज्ञान और अन्धविश्वास को मिटाने में अथवा धर्म के हानिकारक तत्वों को नष्ट करने में बुद्धि ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। धर्म की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्म आस्था पर जीवित रहता है, न कि विवेक पर। बुद्धि से निम्न तत्वों को धर्म से निकालने की आवश्यकता नहीं है उन्हें आध्यात्मिक प्रकाश से शुद्ध करने और उन्नत बनाने की आवश्यकता है।

18.3.5 धर्म दर्शन

श्री अरविन्द ने अपना धर्म दर्शन विकसित किया है। वे कहते हैं कि धर्म के क्षेत्र में बुद्धि की गति नहीं है फिर भी बुद्धि पूरी तरह से बेकार नहीं है। वे बुद्धि को अनुभव के अधीन रहने की बात करते हैं। वे धर्म के अनुभवों को बुद्धि के स्थिर सांचों में बांध देने को अनुचित मानते हैं। धर्म के बुद्धि से निम्न पहलुओं के समाधान के लिए बुद्धि की और अधिक जरूरत है। धर्म के अज्ञान और अन्धविश्वास से जुड़े पहलुओं पर बुद्धि के द्वारा ही विजय पाई जा सकती है। धर्म के रूढ़िगत और हानिकारक पहलुओं को बुद्धि के बल पर शुद्ध किया जा सकता है। वे बुद्धि से निम्न, रूढ़िगत और हानिकारक तत्वों को धर्म की परिधि से बाहर कर देने के पक्ष में नहीं है। वे इन तत्वों को आध्यात्मिक आलोक में सुधारना और ऊँचा उठाना चाहते हैं। अध्यात्म तत्व जिस प्रकार मानव की अन्य शक्तियों को ऊपर उठाता है, प्रकाशित करता है उसी तरह बुद्धि को भी रूपान्तरित करता है। संक्षेप में यही श्री अरविन्द धर्म दर्शन है।

18.3.6 सामाजिक विकास में धर्म का अंशदान

धर्म व्यक्ति और समाज के विकास में क्या क्या कर सकता है, कितना लाभप्रद हो सकता है, व्यक्ति और समाज को कितना ऊँचा उठा सकता है इसी से सामाजिक विकास में उसके कार्य भाग का आंकलन किया जा सकता है। धर्म समाज के विकास को प्रेरित करने वाली शक्ति है, व्यक्ति को नियंत्रित करने वाली शक्ति है। समाज के विकास को गति और दिशा प्रदान करने में धर्म काफी आगे है। संस्कृति और सभ्यता , शिक्षा और नैतिकता की तुलना में धर्म सामाजिक विकास का एक प्रगत अथवा उन्नत साधन है। धर्म का प्रभाव मानव जीवन और समाज पर अन्य साधनों की तुलना में अधिक है। धर्म की अपनी एक अलग पकड़ है। धर्म की जड़ें गहराई तक व्याप्त हैं। विकास के मार्ग में आने वाले भटकाव और उलझनों को समाप्त करने में धर्म मनुष्य की सहायता करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाने में समाज को संगठित करने में धर्म का योगदना सर्वविदित है। समाज के पुननिर्माण में आस्था जाग्रत कर धर्म समाज को आगे बढ़ाता है और संगठन को बनाये रखता है। यदि मनुष्य को आगे बढ़ना है तो धर्म का सहारा लेना है। धर्म का प्रभुत्व रहने पर अन्याय अत्याचार जैसे तत्वों को पनपने का अवसर नहीं मिलता। अन्याय, शोषण, दमन और उत्पीड़न आदि अधार्मिक है। इनकी वृद्धि से सामाजिक विकास रुक सकता है। ये अशान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। आत्मिक विकास के लिये शान्ति अपेक्षित है।धर्म के मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य को शान्ति मिलती है शान्ति के आने से आत्मा का विकास होता है। शान्ति और समर्पण से आध्यात्मिक विकास को बल मिलता है और वह आगे की ओर बढ़ता है। धर्म मानव के आध्यात्मिक विकास में सहायक है।

धर्म मानव की सामान्य से निम्न और सामान्य से परे जाने की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। धर्म मानव को सांसारिक सुखों एवं उलझनों में फँसने से बचाता है और उसे अपने गन्तव्य की ओर बढ़ने में सहायता करता है। इन्द्रियों के अधिकाधिक सुख का विकास अथवा भौतिक सुख-सुविधाओं की वृद्धि धर्म का ध्येय नहीं है । धर्म का ध्येय मानव की आध्यात्मिक सुख सुविधाओं में वृद्धि करना है। यदि कोई भी प्राणी इस लोक और परलोक दोनों मे भव्य, सुन्दर और आनन्दमय जीवन का विकास कर आनन्दित होना

ता है तो धर्म उसके लिए एक शरणस्थली के समान है। शुभ में और मनुष्य की दैवी सम्भावनाओं में स्था के लिए धर्म से प्रेरणा मिलती है। सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रत्येक गतिविधि का आधार शुभ में मनुष्य की दैवी सम्भावनाओं में आस्था है। धर्म शुभ के विकास में सहायक है। मनुष्य की दैवी भावनाओं एवं शुभ के विकास का धर्म एक साधन है। धर्म द्वारा शुभ के विकास से पुरुषार्थ की प्राप्ति ी है। अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की पूर्ति धर्म द्वारा विहित आचरण करने से होती है। अर्थ और न के सेवन से संसार में सुख मिलता है। मोक्ष के सेवन से परलोक में सुख मिलता है। यह सुख र से तादात्म्य का सुख है। ईश्वर साक्षात्कार हो जाने से पुनर्जन्म की संभावना समाप्त हो जाती है पुनर्जन्म न होने से मृत्यु का खतरा भी सदा के लिए विलुप्त हो जाता है। मनुष्य जन्म मृत्यु के से छुटकारा पा जाता है । जब धर्म जीवन में इतना मूल्यवान है तो मानव प्राणी उसका सेवन क्यों करता? अरविन्द दर्शन में मोक्ष को महत्व नहीं प्राप्त है उन्हें तो इस संसार को ही दिव्य स्वरूप प्रदान ना पसन्द है। धर्म मनुष्य में दिव्य तत्व का विकास करता है। उसे दिव्य प्राणी बनाने का कार्य करता इस प्रकार धर्म श्री अरविन्द के भावी सपने को साकार करने का साधन है पर यह इस दिशा में एक तम साधन नहीं है।

3.3.7 धर्म की सीमाएं

ाजिक विकास के कार्य को पूरा करने में धर्म एक अन्तिम साधन नहीं है। अन्तिम साधन तो योग है। धर्म सामाजिक विकास का एक उच्चतर साधन अवश्य है। योग के अलावा सामाजिक विकास के साधनों अथवा पद्धतियों की इस खण्ड में चर्चा की गयी है उनमें धर्म का स्थान सबसे ऊंचा है पर से ऊँचा स्थान धर्म को नहीं प्राप्त है। धर्म से मोक्ष प्राप्त करने की सम्भावना का तो संयोग बनता है पूर्ण साक्षात्कार के लिए धर्म अपर्याप्त है। धर्म मनुष्य को आन्तरिक प्रकाश के बिन्दु तक तो ले जाता पर उसके आगे नहीं। धर्म द्वारा चैत्यीकरण, रूपान्तरण और संकलन न होने के कारण ईश ात्कार की आस्था की पूर्ति नहीं हो पाती। धर्म हमारा सम्पर्क दैवी शक्तियों से करा देता है पर दैवी क्यों से अभिन्नता (तादात्म्य) स्थापित कराने में असमर्थ है। सर्वमुक्ति के प्रयास में धर्म की कठिनाई रूप से देखी जा सकती है। सामाजिक विकास की एक पद्धति के रूप में धर्म असफल रहा है कि सामाजिक विकास के सर्वमुक्ति के आदर्श से धर्म सदैव दूर रहा है । इसका कारण यह है कि व्यक्तिगत मोक्ष तक ही सिमट कर रह गया है। और व्यक्तिगत मुक्ति से आगे बढ़ने की ओर ध्यान हीं दिया । जितने धार्मिक महापुरुष और ईश्वर के सेवक हुए हैं उन्होंने मानव जाति की सेवा श्य की है पर उसे और उसकी चेतना को रूपान्तरित करने में असफल रहे हैं।

3.3.8 योग-सामाजिक विकास की पूर्ण एवं अन्तिम प्रणाली

का मानव आत्मा के विकास में योगदान है पर उसमें कमियां हैं। धर्म की इन कमियों का निराकरण द्वारा हो जाता है। योग सर्वमुक्ति के आदर्श को पूरा करने में पूरी तरह से सफल है। इकाई दो में ग योग की चर्चा में यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि केवल योग ही एक मात्र ऐसी प्रणाली है जो अरविन्द ने जिस आदर्श समाज की स्थापना का सपना देखा है उसे पूरा करने के लिए पूरी तरह से ुक्त है।

3.4 सारांश

इकाई में आपने शिक्षा और धर्म का अध्ययन सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में किया। ाजिक विकास में शिक्षा और धर्म की उपादेयता और असफलताओं के बारे में आपने पढ़ा। दोनों की

उपादेयता अपने-अपने ढंग से अलग है। श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन और धर्मदर्शन को प्रस्तुत किया गया। शिक्षा और धर्म से जुड़े अन्य उपयोगी पक्षों की भी चर्चा इस इकाई में की गयी है।

18.5 शब्दावली

अभ्युदय	भौतिक कल्याण
अलौकिक	संसार से परे, पारलौकिक
आस्था	न डिगने वाला विश्वास
गृह त्यागी	अविवाहित, ब्रह्मचारी
नि:श्रेयस	पारलौकिक कल्याण
न्यून	कम
पहेली	रहस्य
लौकिक	सांसारिक
व्यक्तित्व	व्यक्ति का स्वभाव और स्वरूप
शुद्धिकरण	परिष्कार

18.6 उपयोगी पुस्तकें

शर्मा रामनाथ, श्री अरविन्द का समाजदर्शन, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

श्री अरविन्द, ह्यूमन सायकिल, अमेरिकन एडीशन

श्री अरविन्द, रिनांसा इन इण्डिया

श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, वाल्यूम दो, सेकेण्ड एडीशन

श्री अरविन्द, द सिस्टम आव नेशनल एजूकेशन

18.7 संबंधित प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये-

(अ) स्वयं शिक्षा (ब) धर्म दर्शन (स) धर्म का सार आध्यात्मिकता

2. इन्द्रिय शिक्षा का क्या प्रयोजन है? समझाइये।
3. शिक्षा के परिणाम क्या हैं? स्पष्ट कीजिये।
4. धर्म और बुद्धि में संबंध का परीक्षण कीजिये।
5. सामाजिक विकास में धर्म की असफलता की चर्चा कीजिये।
6. खाली स्थान भरिये :
   1. शिक्षा का उद्देश्य .....हो सकता है या फिर .....उन्नति
   2. शिक्षा में ..... का भाव अधिक उपयोगी है।
   3. .....से इन्द्रियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है।
   4. ..... की शिक्षाओं को जीवन में उतारने से लाभ है।
   5. धर्म.....की वस्तु है।

8.8 प्रश्नों के उत्तर

प्र. स्वयं शिक्षा — इसका अर्थ अपने आप शिक्षा से है। शिक्षा का केन्द्र बिन्दु शिक्षार्थी को माना जाता इसमें शिक्षार्थी का मुख्य स्थान होता है। शिक्षक का स्थान इसमें गौण होता है। इसमें बलात शिक्षा के ए कोई स्थान नहीं है।

. धर्म दर्शन — श्री अरविन्द के धर्म दर्शन में बुद्धि की धर्म के क्षेत्र में गति नहीं है। फिर भी उनके नुसार बुद्धि पूरी तरह से व्यर्थ नहीं है। वे बुद्धि को अनुभव के अधीन रखना चाहते हैं। वे धर्म के ् से निम्न तत्वों के समाधान के लिए बुद्धि को अधिक उपयोगी मानते हैं। धर्म के अज्ञान और धविश्वास से जुड़े पहलुओं का परिष्कार करने में बुद्धि को ज्यादा फायदेमन्द मानते हैं। वे धर्म में ् से निम्न तत्वों को धर्म से बाहर निकालने के बजाय आध्यात्मिक आलोक से उन्हें शुद्ध करना और त बनाना चाहते हैं।

. धर्म का सार आध्यात्मिकता — आध्यात्मिकता धर्म का प्राण है, सार है। आध्यात्मिकता धर्म का लक लक्षण है। इसके अभाव में धर्म को धर्म नहीं कहा जा सकता है। सर्वोच्च आत्मा, दैवी शक्ति जानने का प्रयास उसी में जीने का प्रयास ओर सम्पूर्ण जीवन को सर्वोच्च दैवी मूल्य तक उठाने का स अध्यात्मिकता है। सरल शब्दों में आध्यात्मिकता परमात्मा से संबंध का द्योतक है।

इन्द्रिय शिक्षा का प्रयोजन इन्द्रियों को प्रशिक्षित करना है। अभ्यास इसका सरल और सर्वोत्तम य है। इन्द्रिय ठीक से तभी कार्य कर सकती है जब संवेगात्मक, मानसिक और स्मृति की बाधाओं को कर दिया जाता है। संवेगात्मक बाधा को अभ्यास से, मानसिक बाधा को मानसिक शक्तियों के नियंत्रण तथा स्मृति की बाधा को चित्त शुद्धि से दूर किया जा सकता है।

शिक्षा का परिणाम मनुष्य का चतुर्दिक (सर्वांगीण) विकास है। शिक्षा से मनुष्य के ज्ञान चक्षु ा जाते हैं, उसकी बाह्य प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है, वह पहले जैसा एक अनगढ़ व्यक्ति नहीं रह ा, वह अनुभवी हो जाता है। उसे सही-गलत, अच्छे और बुरे का ज्ञान हो जाता है। वह एक क सांमंजस्यशील प्राणी बन जाता है। उसका शारीरिक , मानसिक नैतिक और धार्मिक विकास हो ा है।

धर्म और बुद्धि दो अलग-अलग प्रत्यय हैं पर दोनों एक दूसरे से पूरी तरह अलग नहीं है। धर्म से परे अथवा बुद्धि से आगे की घटना है और बुद्धि धर्म के पूर्व की घटना है। फिर भी यह नहीं ा जा सकता है कि बुद्धि धर्म के लिए एकदम अनावश्यकत तत्व है। श्री अरविन्द के धर्म दर्शन में और धर्म के संबंध पर प्रकाश डाला जा चुका है।

धर्म सामाजिक विकास का एक प्रगत और उन्नत साधन है। धर्म सामाजिक विकास को आगे बढ़ाने क प्रेरक तत्व का कार्य करता है। उसकी भूमिका मानव जीवन एवं सामाजिक विकास में एक ाहे अथवा एक सारथी जैसी है। सारथी रथ को हांकने में महारथ हासिल किये हुए होता है। ाहा जानवरों को नियंत्रण में रखने का कार्य करता है। धर्म सामाजिक विकास में बाधक तत्वों पर ाहे के समान नियंत्रण रखता है और एक सारथी की भांति विकास को तब तक आगे बढ़ाता रहता जब तक कि विकास की मंजिल प्राप्त न कर ली जाय। मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक सुख धाओं की वृद्धि में धर्म एक प्रभावशाली साधन रहा है।

1. भौतिक समृद्धि, आध्यात्मिक
2. स्वदेशी
3. अभ्यास
4. धर्म
5. आस्था

इकाई 19 : राष्ट्रीयता और मानव एकता

इकाई की रुपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 राष्ट्रीयता और मानव एकता परस्पर विरोधी नहीं
19.3 राष्ट्रीयता की नई व्याख्या
19.4 राष्ट्र क्या है?
19.5 सृष्टि क्या है?
19.6 राष्ट्र आत्मा की संकल्पना
19.7 आध्यात्मिक राष्ट्रीयता
19.8 राष्ट्रीयता और मानव एकता
19.9 मानव एकता का आदर्श
19.10 सारांश
19.11 शब्दावली
19.12 उपयोगी पुस्तकें
19.13 संबंधित प्रश्न
19.14 प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- राष्ट्रीयता और मानव एकता पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द की राष्ट्रीयता की धारणा की व्याख्या कर सकेंगे।
- राष्ट्र की आत्मा की विवेचना कर सकेंगे।
- आध्यात्मिक राष्ट्रीयता संबंधी श्री अरविन्द के विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

यह इस खण्ड की अन्तिम इकाई है। इस इकाई में श्री अरविन्द के राष्ट्रीयता और मानव एकता संबंधी चिंतन की एक झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। राष्ट्रीयता के अर्थ, राष्ट्र विकास और मानव एकता से जुड़ी समस्याओं और कठिनाइयों का अध्ययन करने का सुअवसर यहां आप को मिलेगा। अन्त में आप मानव एकता का परिचय पा सकेंगे।

19.2 राष्ट्रीयता और मानव एकता परस्पर विरोधी नहीं

राष्ट्रीयता और मानव एकता के प्रत्यय अप्रकट में एक दूसरे के विरोधी लगते हैं, पर वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। प्रकट में वास्तव में वे एक दूसरे के सहायक हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जो एक राष्ट्र विशेष तक सीमित है, उसका संबंध एक राष्ट्र विशेष से होता है। एक राष्ट्र की

ीयता दूसरे राष्ट्रों के मार्ग में बाधक बन सकती है, दूसरे राष्ट्रों के विकास और प्रगति में व्यवधान डाल कती है और इस प्रकार यह एक संकुचित भावना की अभिव्यक्ति है जिससे यह संकीर्णता की परिधि स्थान पाने के लिए विवश है। इस तरह की राष्ट्रीयता एक प्रकार की संकीर्णता है, संकुचित विचार- ा है जो मानवता तक विस्तृत होने में असमर्थ-सी लगती है। राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीयता है तो संकीर्णता एक प्रकार ही, पर इसे विस्तृत संकीर्णता कहना अधिक अच्छा रहेगा। संकुचित संकीर्णता से विस्तृत कीर्णता कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जब कोई व्यक्ति अपनी क्षुद्र वासनाओं एवं स्वार्थों की पूर्ति तक सीमित ा है तो इसे संकीर्णतम संकीर्णता कहना अधिक उपयुक्त होगा। जब व्यक्ति अपने परिवार के हितों की चता है तो उसकी संकीर्णता के दायरे का विस्तार होना प्रारम्भ हो जाता है। जब आगे वह क्रम से गाँव, ाक, तहसील, जिला, प्रदेश और राष्ट्र के हितों को अपने हितों में स्थान देता है तो उत्तरोत्तर उसकी कीर्णता का विस्तार होता चला जाता है। राष्ट्र स्तर के हितों की बात सोचने से राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र भक्ति ओर आकृष्ट होने से मनुष्य विस्तृत संकीर्णता की ओर बढ़ता है। जब तक कोई सीमा रहेगी, संकीर्णता गी, भले ही संकीर्णता की उत्तरोत्तर सीमा की वृद्धि के साथ यह संकीर्णता वृहत्तर और व्यापक कीर्णता का स्वरूप ले ले। जब राष्ट्रीयता सभी राष्ट्रों और मानवता तक फैल जाती है तब उसके संकुचित रूप का स्थान विशद व्यापकता ले लेती है। राष्ट्रीयता की इसी प्रवृत्ति के कारण राष्ट्रीयता मानव ता में सहायक सिद्ध होती है। श्री अरविन्द चिंतन में राष्ट्रीयता और मानव एकता एक दूसरे के गरीत नहीं हैं। श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता की ऐसी धारणा का विकास किया है जो मानव एकता में वक न होकर सहायक हो।

के विचार से व्यक्ति राष्ट्र का अंग है। पर व्यक्ति की वैयक्तिकता, स्वधर्म और पूर्णता को राष्ट्र द्वारा ण मिलता है। एक राष्ट्र के अन्दर व्यक्ति अपने विशिष्ट व्यक्तिगत लक्षणों के साथ अपना विकास ने के लिए स्वतंत्र है। वे आगे कहते हैं कि विश्व राष्ट्र (विश्व समाज) ऐसा होना चाहिए जिसका येक राष्ट्र अपनी विशेषताओं, संस्कृति, धर्म और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए मानवता के कास में योगदान कर सके। इस प्रकार प्रत्येक अंग स्वयं में पूर्ण है और वृहत्तर पूर्ण का एक अंग है। ाहरणार्थ व्यक्ति स्वयं में पूर्ण है पर राष्ट्र का एक अंग अथवा घटक है। इसी तरह राष्ट्र स्वयं में पूर्ण है मानवता, जो राष्ट्र से विस्तृत प्रत्यय है, का एक घटक अथवा अंग है। इस प्रकार मानवता और ोयता में पूर्णता एवं घटक होने का संबंध है। जब तक घटक तत्वों में तालमेल अथवा संगति (जिसे ता कहते हैं) रहेगी तब तक विकास की गति बिना किसी विघ्न के बनी रहेगी।

9.3 राष्ट्रीयता की नई व्याख्या

अरविन्द की राष्ट्रीयता एक विशिष्ट प्रकार की राष्ट्रीयता है। उन्हें एक दैवी आदर्श मिला था राष्ट्रोत्थान राष्ट्रजागरण को तेज करने के लिये। भारत एक वरदानी राष्ट्र है, सभी राष्ट्रों से श्रेष्ठ है क्योंकि कृष्ण र राम ने यहीं अवतरित होना चाहा। भारत देश को ही अपने जन्म के लिए उपयुक्त समझा। किसी वे ने कहा है,

''जन्मे थे यहीं राम-सीता, गूंजी थी यहीं मधुर गीता।
जमुना का श्याम किनारा है, यह भारत वर्ष हमारा है॥''

ने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ दैवी शक्तियों ने अवतार लिया है। दिव्य पुरुषों का जन्म हुआ है। कृष्ण, विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द जैसे पुरुष यहां हुए हैं जो दिव्य शक्ति से ओत प्रोत थे। श्री विन्द की दैवी शक्ति ने ही राष्ट्रीयता की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। साधारण अर्थों में राष्ट्रीयता राष्ट्र प्रेम थवा राष्ट्रभक्ति है। यदि एक राष्ट्र का निवासियों में राष्ट्र प्रेम का भाव है तो उस राष्ट्र का विकास गतिमान गा। इस राष्ट्र प्रेम के आगे देशवासी अपने क्षुद्र हितों एवं स्वार्थों का त्याग करते रहेंगे और राष्ट्र विकास प्रेरणा एवं उत्साह उनमें विगुणित होते चले जायेंगे।

श्री अरविन्द को योगावस्था में दो आदेश मिले। पहला आदेश राष्ट्र को उठाने का था। दूसरा आदेश (संदेश) मिला कि मानवजाति में यह वाणी सुनाओ कि सनातन धर्म ही मानवता का धर्म है। वासुदेव ने इसी सनातन धर्म को उन पर प्रकट किया। केवल धर्म के लिए और धर्म के द्वारा भारत का अस्तित्व है। हिन्दुस्तान का अस्तित्व सनातन धर्म में है, सनातन धर्म उसका प्राण है, उसकी आत्मा है। हिन्दुस्तान और सनातन धर्म एक दूसरे से अभिन्न हैं। हिन्दुस्तान का अर्थ है सनातन धर्म और सनातन धर्म का अर्थ है हिन्दुस्तान। दोनों एक दूसरे में घुले-मिले हैं। दोनो आप में घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं। श्री अरविन्द को यह सन्देश मिला कि जाओ और कहो कि हिन्दुस्तान की प्रशंसा सनातन धर्म की प्रशंसा है, हिन्दुस्तान की संवृद्धि सनातन धर्म की संवृद्धि है। भारत का विकास और विस्तार सनातन धर्म का विकास और विस्तार है, हिन्दुस्तान का पतन सनातन धर्म का पतन है। सनातन धर्म की महिमा से ही भारत की महिमा है।

जिसे हिन्दु धर्म कहते हैं वह सनातन धर्म ही है, उसे ही भारत राष्ट्र ने स्वीकर किया है। इस सनातन धर्म की रक्षा का भार भारत को सौंपा गया है। यह धर्म एक देश की सीमा से बँधने के लिए नहीं आया है। यह वह वैश्विक धर्म है जो सभी को अपने में समेट लेता है । यह धर्म सारे विश्व और सारी मानवता में फैलने के लिए आया है। यह धर्म यह मानता है कि ईश्वर सभी मनुष्यों में है कण-कण व्यापी है। राष्ट्र में ईश्वर है। हम ईश्वर में जन्म लेते हैं और उसी में जीते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं सनातन धर्म राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता राजनीति नहीं है, धर्म है, कर्म है। हिन्दू राष्ट्र का आविर्भाव सनातन धर्म के साथ हुआ । सनातन धर्म इसे परिचालित करता है और इसे विकसित करता है। सनातन धर्म के नष्ट होने के साथ ही राष्ट्र नष्ट हो जायेगा।

श्री अरविन्द कहते हैं कि राष्ट्र के निर्माण के लिए देश प्रेम के अतिरिक्त देश के प्रति पूजा की भावना आवश्यक है । वे राष्ट्र के प्रति भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक दृष्टिकोण को ही सब कुछ नहीं मानते हैं। वे राष्ट्र के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता पर जोर देते हैं। उनकी राष्ट्रीयता की धारणा को समझने के लिए राष्ट्र आत्मा की धारणा को समझना आवश्यक है।

19.4 राष्ट्र क्या है ?

सभी देशवासियों की पुंजीभूत शक्ति का नाम राष्ट्र है। राष्ट्र एक भूखण्ड का नहीं है। राष्ट्र एक विराट् शक्ति है। सभी देशवासियों की सम्मिलित शक्ति है। कहते हैं कि किसी एक देवता की अकेली शक्ति से महिषासुर दैत्य का बध होते न देख सभी देवताओं ने अपनी-अपनी शक्ति मिलाकर भवानी की रचना की और भवानी ने उसका वध किया। उसी तरह दस बीस अथवा सौ-पचास लोगों की शक्ति से देश का निर्माण नहीं हो सकता। यह तो सभी राष्ट्रवासियों की एकत्रित (सम्मिलित) शक्ति का परिणाम है। खेद है कि यह सम्मिलित शक्ति सोई हुई है। श्री अरविन्द कहते हैं कि भीतर के ब्रह्म को जगाकर इसे जगाना है।

यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम एक राष्ट्र बनते हैं या बिखर जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। ईश्वरीय शक्ति हमारे अन्दर विराजमान है, इसलिए हम सभी निर्माता हैं, हम सब भगवान है। पूरा जीवन उसकी सृष्टि है।

19.5 सृष्टि क्या है?

नये रूपों की रचना करने को ही सृजन नहीं कहते । प्राचीन की सुरक्षा भी सृजन है। ध्वंस भी खुद में सृजन है। हमें उक्त में से हम जैसा सृजन चाहते हैं उसे चुनना होगा क्योंकि हम सर्वशक्तिमान के ही रूप

र अंश हैं। शक्ति पाने के लिए शक्ति की उपासना करनी होगी। जापान के उदय का मूल स्रोत र्निक था। भारत में आध्यात्मिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता है।

अरविन्द भीतर के ब्रह्म को जाग्रत करने के लिए कहते हैं जो कि एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है शरीर र बुद्धि के प्रयत्न से इस कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। राष्ट्रीय मन के लिए धर्म ही सहज मार्ग है। ारी अन्तरात्मा ही शक्ति का स्रोत है।

9.6 राष्ट्र आत्मा की संकल्पना

न दैवी परम सद्वस्तु की अभिव्यक्तियां हैं व्यक्ति, राष्ट्र और मानवता। इनमें से प्रथम दो (व्यक्ति और ष्ट्र) के जीवन का साध्य आत्म विकास है। व्यक्ति की आत्मा की धारणा के आधार पर श्री अरविन्द ने ष्ट्र-आत्मा की संकल्पना को विकसित किया है । उनका मानना है कि व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी त्मा होती है जिसके लिए उसका अस्तित्व होता है। जिस प्रकार व्यक्ति एक आत्मा है, उसी तरह ष्ट्र भी एक आत्मा है। शरीर, प्राण और मानस को व्यक्ति नहीं कहा जाता। आत्मा को व्यक्ति कहा जाता । भूखण्ड, भावात्मक एकता और मानसिक जीवन राष्ट्र नही है बल्कि इनके पीछे दिखने वाली ष्ट्रआत्मा राष्ट्र है। जैसे व्यक्ति के आत्म विकास के लिए शरीरिक , प्राणात्मक और (मानसिक विकास ावश्यक है वैसे ही राष्ट्र आत्मा का विकास, राष्ट्र भूमि की रक्षा, राष्ट्र की भावात्मक एकता में बढ़ोत्तरी था राष्ट्र का साहित्यिक, वैज्ञानिक दार्शनिक और सांस्कृतिक विकास तथा अन्य सब तरह का मानसिक कास अनिवार्य है। व्यक्ति और राष्ट्र में आत्मा के विकास के लिए इनमें से किसी भी विकास को ाड़ा नहीं जा सकता है। जिस तरह व्यक्ति के जीवन में आत्म साक्षात्कार उसका धर्म है उसी तरह राष्ट्र के ावन में राष्ट्र आत्मा का साक्षात्कार राष्ट्र धर्म है। जैसे व्यक्ति के लिए आत्म साक्षात्कार दैवी आदेश है सी तरह राष्ट्र आत्मा का साक्षात्कार दैवी आदेश है।

हाँ एक बात विशेष ध्यान देने की है। अहं और आत्मा एक नहीं हैं । भूलवश अहं को आत्मा समझ ने से व्यक्ति को हानि उठानी पड़ती है। अहंकार व्यक्ति को पतन की ओर ले जाता है। राष्ट्रीय अहं राष्ट्र लिए हानिकारक एवं पतनकारी है। जो राष्ट्र राष्ट्रीय अहं का शिकार हो जाता है उसमें दादागिरी या नेया भर में छा जाने की प्रवृत्ति का विकास हो जाता है जो एक न एक दिन उसे पतन के गर्त में धकेल ती है ।

सरी बात ध्यान देने की यह है कि जैसे व्यक्ति के जीवन में आत्म साक्षात्कार एक क्रमिक और कठिन क्रिया है वैसे ही राष्ट्र के जीवन में राष्ट्र आत्मा का विकास कठिन एवं क्रमिक है। व्यक्ति के सभी क्षों में स्वतंत्रता, समन्वय और एकता की क्रमिक वृद्धि उसके आत्मिक विकास की परिचायक है वैसे ही ष्ट्र के विभिन्न वर्गों में स्वतंत्रता , समन्वय और एकता की क्रमिक वृद्धि राष्ट्र के आत्मिक विकास का रिचायक है। व्यक्ति में आत्मा के विकास से दूसरे व्यक्तियों से समन्वय का भाव उसमें जागता है और ष्ट्र आत्मा के विकास द्वारा दूसरे राष्ट्रों से समन्वय की ओर वह राष्ट्र आगे बढ़ता है। व्यक्ति के आत्म कास में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है और राष्ट्रीय आत्मा के विकास में ही राष्ट्र का कल्याण ाहित है।

ष्ट्र और व्यक्ति की संरचना में उक्त समानताओं से यह समझ लेना एक भूल होगी कि व्यक्ति और राष्ट्र नों में कोई भेद नहीं है। व्यक्ति के विभिन्न अंगों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है पर राष्ट्र के अंग जो यक्ति हैं उनका अपना-अलग स्वतंत्र अस्तित्व है।

19.7 आध्यात्मिक राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द राष्ट्रीयता की व्याख्या एक नये ढंग से करते हैं। उनकी राष्ट्रीयता उन चिंतकों से भिन्न है जो भौतिकवादी हैं और राष्ट्र के भौतिक विकास को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं श्री अरविन्द आध्यात्मवादी हैं और उनकी राष्ट्रीयता भी आध्यात्मिक है। भौतिक विकास को राष्ट्रीय विकास मान लेने से साम्राज्यवाद और उपनिवेश वाद जैसी बुराइयां फलने-फूलने लगती हैं। जिससे संसार के बहुत से राष्ट्रों को संकटों और कष्टों का सामना करना पड़ता है। प्रजातिवाद और धर्मवाद को राष्ट्रीयता मान लेना भी मुनासिब नहीं है क्योंकि ये संकीर्णताएं हैं। राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक आधार देकर उन्होंने विश्व मंगल का पथ प्रशस्त किया है। इससे सर्वांग विकास होगा । इससे सभी राष्ट्र अलग-अलग प्रगति के पथ पर बढ़ते हुए सम्पूर्ण मानवता की प्रगति में अपना योगदान दे सकते हैं।

आध्यात्मिक राष्ट्रीयता सर्वथा दमनमुक्त एवं शोषण मुक्त होगी। इससे न तो व्यक्ति का दमन होगा और न ही दूसरे राष्ट्रों का। इसमें राष्ट्र के सभी वर्गों, सभी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण एकता और पूर्ण समन्वय के जीवन की ओर ले जाया जाता है। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता में राष्ट्र के जीवन के सभी पहलुओं (भौतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक आदि) की प्रगति को आवश्यक माना जाता है। राष्ट्र के सभी पहलुओं का विकास सर्वांग विकास है। अत: आध्यात्मिक राष्ट्रीयता राष्ट्र के सर्वांग विकास पर बल देती है। किसी एकांगी विकास के लिये इसमें स्थान नहीं है। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता की यह मान्यता है कि समष्टि की हर इकाई को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता में राष्ट्रीय अहं के त्याग का भाव निहित है और राष्ट्र आत्मा को ही सदवस्तु माना जाता है। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता में सन्तों से लेकर दुष्टों तक को कानून व पुलिस के दबाव द्वारा परिवर्तित करने का प्रयास नहीं होता है बल्कि उनमें आन्तरिक बदलाव का प्रयास होता है। आध्यात्मिकता के पथ पर चलने वाले राष्ट्र में व्यक्ति को स्वतंत्र विकास का अवसर और अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आध्यात्मिक राष्ट्र युद्ध से दूर रहते हैं। आन्तरिक से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्रता आध्यात्मिक राष्ट्र का एक नियम है। आध्यात्मिक राष्ट्र में कोई भी अपने सुख एवं स्वार्थ के लिए नहीं जीता है। वह अपनी दिव्य अहं मुक्त प्रकृति के अनुसार चलता है। संक्षेप में आध्यात्मिक राष्ट्र में आध्यात्मिकता के विकास पर बल है। सभी राष्ट्रों के आध्यात्मिक विकास से मानव एकता का द्वार खुलेगा।

19.8 राष्ट्रीयता और मानव एकता

श्री अरविन्द के विचार से जो सिद्धान्त राष्ट्र का विकास करते हैं वे ही सभी मनुष्यों की एकता के विकास में सहायक होते हैं। यह एक विवाद रहित सत्य है कि व्यक्ति का पोषण समाज (समष्टि) अथवा राष्ट्र द्वारा होता है और समाज तथा राष्ट्र की रचना में व्यक्ति सहयोग देते हैं। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि (समाज अथवा राष्ट्र) में पारस्परिक सामंजस्य अथवा समन्वय की बात अति आवश्यक है। व्यक्ति की परिपूर्णता का समर्थन करने वाला समाज निश्चय ही पूर्ण समाज होगा। यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्ति के विकास के लिए राष्ट्र का विकास आवश्यक है और राष्ट्र के विकास के लिए व्यक्ति का विकास आवश्यक है। पूर्ण और पूर्ण के घटक दोनों में से किसी एक के विकास से काम नहीं चल सकता क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अत: दोनों का विकास आवश्यक है। व्यक्तित और राष्ट्र के विकास के बाद सम्पूर्ण मानवता का विकास आवश्यक है। जैसे परिवार और राष्ट्र के विकास के लिए व्यक्ति को मिटाना जरूरी नहीं है उसी तरह राष्ट्रों की स्वतंत्रता के बने रहते हुए भी मानव एकता स्थापित हो सकती है। अन्य शब्दों में, राष्ट्रों कीस्वतंत्रता मानव एकता में कतई बाधक नहीं है। मानवता के विकास के लिए राष्ट्रों का विकास बाधक न होकर साधक है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच सामंजस्य से ही मानव एकता स्थापित हो

सकती है राष्ट्रों के विभिन्न वर्गों अथवा विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनाव पूर्ण व कलह पूर्ण संबंधों से मानव एकता का स्वप्न पूरा न हो सकेगा। यदि सभी राष्ट्र आध्यात्मिक विकास के आदर्श को लेकर आगे बढ़ें तो शायद मानव एकता का सपना साकार हो उठे।

19.9 मानव एकता का आदर्श

श्री अरविन्द ने मानव एकता के विषय में जो भी चिंतन किया है वह उनकी कृति "द आइडियल आव ह्यूमन यूनिटी" में संग्रहीत है। मानव विभेद से कहीं अधिक मानव अभेद उन्हें अत्यधिक प्रिय था। यही कारण है कि वे मानव एकता का स्वप्न संजोए हुए थे। वे मानव एकता में ही मनुष्य जाति का कल्याण निहित मानते थे। जब तक मनुष्य-मनुष्य आपस में लड़ते रहेंगे, विरोधी बने रहेंगे, प्रतयेक मनुष्य अपने स्वार्थों की सिद्धि में तृप्ति का अनुभव करेगा, दूसरों के हितों की उपेक्षा करेगा, मनुष्य-मनुष्य में मेल, परस्पर प्रेम के भाव जाग्रत न होंगे तब तक फलस्वरूप मानव एकता का स्वप्न साकार न हो सकेगा। विकास की प्रक्रिया में पहले व्यक्ति का विकास होता है फिर समाज और राष्ट्र का विकास होता है और तत्पश्चात् मानवता का विकास हाता है। मनुष्यता का विकास, विकास शृंखला की सबसे बाद वाली कड़ी है। व्यक्ति और मानवता के विकास के मध्य में पड़ने वाली कड़ी है राष्ट।

राष्ट्रों का विकास अन्त में मानव एकता की ओर झुकता है। राष्ट्र के विकास का उद्देश्य मानव एकता का विकास होना चाहिए। मानव एकता का विकास-विकास की वह स्थिति है जहां मनुष्यों मे एका अथवा एक होने का भाव जागता है। मानव एकता का अर्थ है मानव संघ की स्थापना। यह एका अथवा एकता का ही बल है जो मनुष्यता की रक्षा करने की सामर्थ्य रखता है। इसमें सन्देह नहीं है कि सभी मनुष्य एकता को एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानते हैं पर वास्तविक समस्या यह है कि इस मानव एकता को कैसे स्थापित किया जाय? मानव एकता को स्थापित करने के लिये क्या करना चाहिये और किससे बचना चाहिए?

श्री अरविन्द राष्ट्रीय अहंमन्यता को मनुष्य एकता में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं और राष्ट्रीय अहं भाव को त्यागने अथवा नष्ट करने की सलाह देते हैं। राष्ट्रीय अहंमन्यता अपने सभी रूपों मे मानव एकता के लिए हानिकारक है। किसी राष्ट्र को अपनी शक्ति पर गर्व, अपने प्राबल्य पर अभिमान अपनी विद्या पर गरूर, अपनी श्रेष्ठता का घमंड एकता को कुचल सकते हैं। इसी राष्ट्रीय अहंकार ने युद्धों संघर्षों आदि के लिए मार्ग खोल दिया है। आज वे राष्ट्र जो विश्व की महाशक्तियों में से हैं वे अपने अहंकार के आगे अन्य राष्ट्रों को भुनगा समझते हैं। ये महाशक्ति सम्पन्न महाराष्ट्र अन्य राष्ट्रों को या तो अपने अधीन रखते हैं या फिर उनमें से कुछ को संरक्षण देते हैं या फिर उन्हें अपने मित्र बनाकर रखते हैं। हर हालत में ये महाराष्ट्र समानता के विचार को पनपने नहीं देते जब कि समानता मनुष्य एकता के लिए आवश्यक शर्तों में से एक है। मानव एकता की दूसरी आवश्यक शर्त है स्वतंत्रता। राष्ट्रीय गरूर स्वतंत्रता के तत्व को भी कमजोर बनाता है। जब कोई एक राष्ट्र अथवा कई राष्ट्र अपने गरूर में चूर होते हैं तो वे अन्य राष्ट्रों की स्वाधीनता को छीन लेते हैं तथा उन्हें अपने अधीन अथवा पराधीन बनने के लिए विवश कर देते हैं। किसी भी सुस्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं है कि पराधीन रहकर कोई भी राष्ट्र अपना स्वतंत्र विकास नहीं सकता है। मानव एकता लाने वाला तीसरा तत्व बन्धुत्व का भाव है। आज की परिस्थितियों में बन्धुत्व का विचार कोरा सपना है, उसे वास्तविकता का रूप दे पाना संभव नहीं लगता हैं ऐसी भी अरविन्द की सोच है।

इसी अहंभाव अथवा गरूर के कारण राष्ट्रों के अन्दर व्यक्तियों और वर्गों पर तथा राष्ट्र के बाहर कमजोर राष्ट्रों पर अत्याचार होता है। आन्तरिक अत्याचारों में तो इधर कमी आई है पर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अभी स्थिति खराब ही है।

मानव एकता लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव की आवश्यकता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि अब तक की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं यह दबाव बनाने में पूर्णतया असफल रही हैं। ये संस्थाएं राष्ट्रों के अहं भाव को नहीं दबा सकी हैं और इसलिये ये राष्ट्रों के बीच होने वाले भावी युद्धों से उन्हें नहीं बचा सकतीं। अन्तर्राष्ट्रीय संघ अथवा संगठन युद्धों को टालने के लिए सेना में कटौती और निःशस्त्रीकरण का सुझाव देते हैं जो समस्या का सही निदान नहीं है। सही निदान तो है अहं का त्याग अथवा अहं का समापन क्योंकि अहं के न रहने पर युद्ध का इरादा ही नहीं बनता। अहं के लोप से उत्पन्न युद्ध न करने का इरादा मानव एकता का मार्ग खोल देने के लिए काफी सहायक हो सकता है।

एक कठिनाई अथवा कमी और है जिसने मानव एकता के स्वप्न को धराशायी किया है। अभी अधिकतर राष्ट्र विकास की दृष्टि से पशु स्तर पर हैं। पशु स्तर पर होने का कारण स्पष्ट है कि उनमें उच्च मनोभावों के विकास एवंआत्म नियंत्रण की आशा करना एक निरी मूर्खता है। मानव एकता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों का विकास मनुष्यत्व या इंसानियत के स्तर पर हो। श्री अरविन्द कहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का स्वतंत्र और पूर्ण आत्म विकास होने की आवश्यकता है। जब प्रत्येक राष्ट्र सच्ची राष्ट्र आत्मा का विकास कर आगे बढ़ेगा तो राष्ट्रों के बीच विकसित अथवा उत्पन्न संबंधों में तालमेल बनेगा जिससे मानव एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा।

मानव एकता की स्थापना के लिए श्री अरविन्द व्यक्ति और राष्ट्र के स्तर पर स्वाधीनता को आवश्यक मानते हैं स्वाधीनता एक ऐसा तत्व है जिसके अभाव में राष्ट्र का सच्चा व सही विकास संभव नहीं हैं। पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा रहकर क्या कोई राष्ट्र उन्नति अथवा प्रगति कर सकता है? नहीं। भारत को ही लीजिये। 200 वर्षों की गुलामी के दिनों में भारत के विकास की गति क्या थी और आज आजादी के 56 वर्षों के बाद भारत का विकास राष्ट्र के हर क्षेत्र में किसी से छिपा नहीं है। आज दुनिया में उसका क्या स्थान है सर्वविदित है।

श्री अरविन्द राष्ट्रों के पूर्ण एवं स्वतंत्र विकास पर जोर देते हैं वे कहते हैं कि व्यक्ति और राष्ट्र स्तर पर मनोवैज्ञानिक शक्तियों के विकास द्वारा मानव एकता के आदर्श को चरितार्थ किया जा सकता है क्योंकि ये शक्तियां ही राष्ट्रों के संबंध तय करती हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान परिस्थितियों में मानव जाति की एकरूपता, एक दुष्कर कार्य है फिर भी जैसे छोटे-छोटे राज्यों से आज संसार में बड़े राज्य बन सके हैं उसी तरह, धैर्य रखने की जरूरत है भविष्य में हो सकता है कि मानव जाति की एकता के आदर्श को भी पाया जा सके।

19.10 सारांश

इस इकाई में आपने सर्वप्रथम यह अध्ययन किया कि राष्ट्रीयता और मानव एकता में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है। इसके बाद राष्ट्रीयता और राष्ट्र के बारे में पढ़ा । इसके उपरान्त राष्ट्र आत्मा, आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के बारे में एक-एक करके अनुशीलन किया। इस इकाई के अन्त में मानव एकता के बारे में अध्ययन किया । इस इकाई के अध्ययन से श्री अरविन्द के राष्ट्रीयता और मानव एकता विषयक चिंतन से आपने पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया होगा।

19.11 शब्दावली

अस्तित्व होने का भाव, विद्यमानता

अहंमन्यता अहं भाव, गरूर, अहंकार

19.12 उपयोगी पुस्तकें

सिंह, कर्ण, 'प्राफेट आव इण्डियन नेशनलिज्म',

श्री अरविन्द : द आइडिअल आव ह्यूमन यूनिटी

19.13 संबंधित प्रश्न

(1) निम्नलिखित कथनों के सामने दिये हुये कोष्ठक में सत्य/असत्य लिखिये।

1. जब तक घटक तत्वों में तालमेल रहेगा विकास चलता रहेगा।( )
2. मानवता का प्रत्यय राष्ट्र के प्रत्यय की तुलना में संकुचित है। ( )
3. श्री अरविन्द को राष्ट्र जागरण का दैवी आदेश मिला था । ( )
4. साधारण अर्थ में राष्ट्रीयता राष्ट्र प्रेम है। ( )
5. श्री अरविन्द ने राष्ट्र आत्मा के विषय में कुछ नहीं कहा । ( )
6. राष्ट्रवासियों की पुंजीभूत शक्ति का नाम राष्ट्र है । ( )
7. हिन्दू धर्म सनातन धर्म हैं। ( )
8. राष्ट्र की सोई हुई शक्ति को जगाने के लिए श्री अरविन्द भीतर के ब्रह्म को जगाने के लिए परामर्श देते हैं । ( )
9. सनातन धर्म राष्ट्रीयता है। ( )

(2) श्री अरविन्द को योगावस्था में कौन से दो आदेश मिले थे?

(3) हिन्दुस्तान और सनातन धर्म में क्या संबंध है?

(4) सनातन धर्म क्या है?

(5) श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता को भौतिक या अन्य आधार न देकर आध्यात्मिक आधार क्यों दिया है?

(6) श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय अहं को त्यागने के लिए क्यों कहा है? राष्ट्रीय अहं में क्या क्या बुराइयां हैं?

19.14 प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. सत्य 2. असत्य 3. सत्य 4. असत्य
5. असत्य 6. सत्य 7. सत्य 8. सत्य 9. सत्य

प्र. 2 पहला आदेश राष्ट्र को उठाने का मिला। दूसरा आदेश यह था कि जाओ, मानव जाति में यह वाणी

सुनाओ कि सनातन धर्म ही मानवता का धर्म है। वासुदेव ने इसी सनातन धर्म को उन पर प्रकट किया था।

प्र. 3 हिन्दुस्तान और सनातन धर्म में अटूट एवं प्रगाढ़ संबंध है। हिन्दुस्तान का अस्तित्व सनातन धर्म में है। सनातन धर्म हिन्दुस्तान का प्राण है, उसकी आत्मा है। हिन्दुस्तान और सनातन धर्म एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। सनातन धर्म की महिमा से भारत की महिमा है। भारत की प्रशंसा सनातन धर्म की प्रशंसा है। हिन्दुस्तान का विकास और विस्तार सनातन धर्म का विकास और विस्तार है। सनातन धर्म को ही भारत ने अपनाया है। इस सनातन धर्म की रक्षा का दायित्व भारत को सौंपा गया है।

प्र. 4 सनातन धर्म कोई कौल अथवा विश्वास नहीं हैं। यह जीवन है, जीने की चीज है। यह मनुष्यत्व की प्राप्ति और बन्धन से मुक्ति का धर्म है । सनातन धर्म हिन्दू धर्म है। यह धर्म देश की सीमा से बंधने नही आया है। यह एक वैश्विक धर्म है। यह धर्म सारे विश्व और समस्त मानवता में फैलने के लिए आयाहै। इस धर्म की मान्यता है कि ईश्वर सभी मनुष्यों में है। राष्ट्र में ईश्वर है। हम ईश्वर में जन्म लेते हैं और उसी में जीते हैं।

प्र. 5 श्री अरविन्द राष्ट्रीयता को केवल आध्यात्मिक आधार देने के पक्ष में थे क्योंकि भौतिक आधार देने से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद जैसी बुराइयां उत्पन्न हो सकती थीं जिससे संसार के बहुत से राष्ट्रों को संकटों और कष्टों को झेलना पड़ सकता था। प्रजातिवाद और धर्म वाद को भी राष्ट्रीयता का आधार नहीं माना क्योंकि इनसे भी बुराइयां पैदा हो सकती थीं। लोक मंगल अथवा योग क्षेम का पथ दिखलाने के लिए राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक आधार देना उन्हें उपयुक्त लगा। आध्यात्मिकता द्वारा सभी राष्ट्र अलग-अलग प्रगति के पथ पर बढ़ते हुए समस्त मानवता की प्रगति में अपना योगदान दे सकते हैं आध्यात्मिक राष्ट्रीयता दमन और शोषण से पूरी तरह मुक्त होती है। यह राष्ट्र के सर्वांग विकास पर बल देती है। इसमें राष्ट्रीय अहं का भाव नहीं होता है।

प्र. 6 श्री अरविन्द राष्ट्रीय अहं को मनुष्य एकता में सबसे बड़ा रोड़ा मानते हैं। मानव एकता का बेधड़क विकास होता रहे इसलिए राष्ट्रीय अहं को त्याग देने या समाप्त कर देने के वे पक्षधर हैं। राष्ट्रीय अहं से उत्पन्न दादागीरी अथवा संसार भर में फैल जाने का भाव मानव एकता के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है। किसी राष्ट्र का अपनी शक्ति, वर्चस्व, श्रेष्ठता और ज्ञानी होने का अभिमान मानव एकता को कुचल सकता है । अहंकार से युक्त मनुष्य को आदमी आदमी नहीं एक भुनगा लगने लगता है । अहंकारी देश अपने गरूर के नशें में चूर रहते हैं और मानव प्रगति तथा मानव एकता में बाधक सिद्ध होते हैं गर्व के नशें में धुत राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को पराधीन बनाते हैं, उन पर अत्याचार करते हैं। मानव एकता के आदर्श को पाने के लिए समानता, स्वतंत्रता और भाई चारे के भाव आवश्यक हैं जिन्हें राष्ट्रीय अहं के रहते पनपने का अवसर नहीं मिलता है।

खण्ड

4

महात्मा गाँधी

इकाई 20

गाँधी जी का आध्यात्मिक दर्शन

इकाई 21

महात्मा गाँधी का सामाजिक चिन्तन

इकाई 22

गाँधी के आर्थिक विचार

इकाई 23

गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन

खंड 4 का परिचय : महात्मा गाँधी

यह खण्ड महात्मा गाँधी के विचारों के विषय में है। इसमें उनके आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों का विशद वर्णन किया गया है।

इस खण्ड की प्रथम इकाई में गाँधीजी के आध्यात्मिक दर्शन की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है। मूलत: गांधीजी की चिन्तनदृष्टि अध्यात्मिक-धार्मिक थी। व्यावसायिक जगत में उसका प्रस्फुटन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि रूपों में हुआ। एक आध्यात्मिक चिन्तक होने के कारण इन्होंने भौतिक जगत् को केवल उतना ही आवश्यक माना जितना कि जीवन के लिए न्यूनतम आवश्यकतायें होती है।

दूसरी इकाई गांधीजी की सामाजिक विचारधारा को व्यक्त करती है । गांधीजी ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें व्यक्ति की पशु प्रवृत्ति मूल रूप से समाप्त हो जाय और प्रेम, सत्य एवं अहिंसा पर व्यक्ति का जीवन आधारित हो। व्यक्तियों के मध्य प्रेम और सद्भावना बढ़े, समानता की वृद्धि हो, सभी की उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों। ऐसे समाज को उन्होंने सर्वोदय समाज की संज्ञा दी जिसमें सभी का समान रूप से उदय या उन्नति हो।

तीसरी इकाई में आर्थिक विचारधारा का वर्णन किया गया है। गांधी जी की आर्थिक विचारधारा अधिकाधिक उत्पादन व उपभोग पर आधारित नहीं है। इनका चिन्तन आवश्यकताओं की सीमितता व आर्थिक संसाधनों पर पूरे समाज का बराबरी का हक है, पर आधारित है। इनके आर्थिक चिन्तन में ग्राम स्वराज्य व ट्रस्टीशिप महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं।

इकाई चार में गांधीजी की राजनैतिक विचारधारा का वर्णन है। गांधीजी का विचार था कि राजनीति कोई स्वतंत्र व्यापार न होते हुए जीवन का एक अंग है एवं जीवन की मान्यतायें एवं मूल्य राजनीतिक क्षेत्र में भी लागू होते हैं। धर्म अनुप्राणित भारत जैसे देश में राजनीति भी धर्म एवं नैतिकतापरक हो ऐसा गांधी का विचार था। उन्होंने ऐसी शासन व्यवस्था की कल्पना की जिसमें राज्य का कम से कम हस्तक्षेप हो और व्यक्ति स्वयं के द्वारा शासित हो।

महात्मा गाँधी : एक जीवन परिचय

महात्मा गाँधी आधुनिक भारत के उन महान विचारकों में सबसे प्रमुख थे जिन्होंने भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण की और अपने विचारों को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुरूप ढाला। गाँधी जी ने एक संयत और विश्व-प्रेमी राष्ट्रवाद की कल्पना की और यह कोशिश कि एक ऐसे प्रभुत्व सम्पन्न और स्वतंत्र भारत का उदय हो जो पीड़ित तथा कराहते हुए विश्व को शान्ति और सद्-इच्छा का सन्देश दे सके। गाँधी अपने युग के महान् नेता थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग कर मानवता का मार्ग दर्शन किया। उन्होंने समस्त भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने प्रभावशाली जन आन्दोलन के रूप में संगठित किया। गाँधी जी आजीवन सत्यान्वेषी रहे। यही उनका जीवन था, उनकी शक्ति आत्मा की शक्ति थी और आत्मा के बल पर उन्होंने संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी एवं सत्य और अहिंसा को शस्त्र के रूप प्रयोग करते हुए देश को स्वतन्त्रता दिलायी। गाँधी जी की कार्य शक्ति और क्षमताएं आश्चर्यजनक थीं। इसका अन्दाजा गोपाल कृष्ण गोखले के इस कथन से लगाया जा सकता है कि ''उनमें मिट्टी से वीर पैदा करने की शक्ति है।'' वर्तमान में केवल उन्हीं की मृत्यु पर यह कहा जा सकता था जो पं0 जवाहर लाल नेहरू ने कहा, ''एक गरिमा चली गयी, हमारे जीवन को ऊष्मा और आलोक देने वाला सूर्य अस्त हो गया है और हम शीत और अंधेरे में खड़े काँपते हैं।''

गाँधीजी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 में काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनका पूरा नाम मोहन दास करमचन्द गाँधी था। गांधी के पिता पोरबन्दर, राजकोट और बीकानेर रियासतों में दीवान रहे। उनके पिता और पितामह अपनी ईमानदारी के लिए काठियावाड़ की छोटी रियासत में प्रख्यात थे। उनकी माता एक साधु प्रकृति की अत्यन्त धार्मिक महिला थीं और बालक गाँधी पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा। 1876 में गाँधी जी अपने माता-पिता के साथ राजकोट चले गये जहाँ उनकी प्राथमिक शिक्षा हुई। राजकोट हाईस्कूल में एक साधारण योग्यता के, किन्तु समय के बहुत पाबन्द और शिक्षकों के आज्ञाकारी छात्र थे। पहले उन्होंने गुजराती स्कूल में और बाद में अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। सन् 1883 में 13 साल की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा के साथ कर दिया गया। 1884-85 में कुसंगति में पड़कर उन्होंने चोरी-छिपे माँस भक्षण किया लेकिन उनका सत्यवादी मन इस बात को छिपा नहीं सका। उन्होंने अपने माता-पिता से क्षमा-याचना कर अपने दोषों का प्रायश्चित किया। असत्य का त्याग कर सत्य का वरण किया। मोहन दास जब 16 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। 17 वर्ष की आयु में उन्होंने मैट्रिक पास की और 1888 में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये वे इंग्लैण्ड चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने खान-पान, वेशभूषा और रहन-सहन में अंग्रेजियत अपना ली थी, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अंग्रेजियत को त्यागकर भारतीयता को अपना लिया। इंग्लैण्ड में ही गाँधी जी ने अंग्रेजी में अनुवादित गीता का अध्ययन किया और इससे उनकी धार्मिक प्रवृत्ति पुष्ट हुई।

1891 में विधि की शिक्षा ग्रहण कर गाँधी जी भारत लौटे और वकालत करना प्रारम्भ किया। स्वभाव से शर्मीले एवं लज्जाशील होने के कारण वकालत क व्यवसाय में वे बहुत अधिक सफल नहीं हुए। काठियावाड़ तथा बम्बई में थोड़े दिनों तक वकालत करने के बाद दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी नामक एक मुस्लिम व्यापारिक संस्था में दक्षिण अफ्रीका में कानूनी कार्यवाही की देखरेख के लिये उन्हें युक्ति मिली। दक्षिण अफ्रीका में नाटाल के सर्वोच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में पंजीकृत किये जाने वाले वे प्रथम भारतीय थे। गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका में केवल एक वर्ष के लिये गये थे किन्तु बीस वर्ष रहे। दक्षिणी अफ्रीका में काले-गोरे का भेद और देशवासियों की दयनीय स्थिति देखकर उन्हें बहुत

आघात लगा और उनके हितों की रक्षा के लिये संघर्ष करने हेतु उन्होंने वहीं रहने का निश्चय किया। गाँधी जी 1893 से 1914 तक अनवरत संघर्ष करते रहे। यहाँ उन्होंने अपनी नैतिक मान्यताओं पर ऐसी परिस्थितियों में अमल किया जिसमें हजारों असहाय और पीड़ित व्यक्तियों के हिताहित का प्रश्न सामने था। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी ने अनिवार्य पंजीकरण और हस्तमुद्रण, अन्त: प्रान्तीय अप्रवास पर प्रतिबन्ध, बन्धक मजदूरों पर लगाये गये कर, ईसाई विवाहों के अतिरिक्त अन्य सभी विवाहों को अमान्य ठहराने वाले कानूनों आदि का विरोध किया। एक लम्बे अर्से तक गाँधी जी भारतीयों के साथ वहाँ रहे और सत्याग्रह एवं अहिंसा के आधार पर गोरी सरकार से संघर्ष किया। भारतीयों को अफ्रीका में कुली कहकर पुकारा जाता था, अत: गाँधी जी को भी वहाँ कुली बैरिस्टर कहा जाने लगा। भारतीयों को वहाँ रेल के प्रथम दर्जे के डिब्बे में बैठने की इजाजत नहीं थी। एक बार गाँधी जी प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठकर जा रहे थे तो उनका सामान बाहर फेंक दिया गया और उन्हें धक्के देकर उतार दिया गया। इन सभी बातों से गाँधी जी बहुत क्षुब्ध हुए। दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अन्यायों के विरुद्ध लड़ने के लिये गाँधी जी ने नेपाल भारतीय कांग्रेस संगठन का गठन किया। संघर्ष के नये तरीके अहिंसा, उपवास और सत्याग्रह के कारण गाँधी जी की ख्याति चारों ओर फैल गयी, उनके संघर्ष से वहाँ की गोरी सरकार को झुकना पड़ा तथा भारतीयों को मानवीय अधिकार देने पड़े। इसके बाद गाँधी जी इंग्लैण्ड चले गये जहाँ उनकी भेंट गोपाल कृष्ण गोखले से हुई और वे उनसे बहुत प्रभावित हुए। 1909 में इंग्लैण्ड से दक्षिण अफ्रीका लौटते समय जहाज में उन्होंने 'हिन्द स्वराज्य' की रचना की और कुछ ही समय बाद 'एथिकल रिलीजन' नामक पुस्तिका लिखी।

प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने के समय तक गाँधी जी ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोगी के रूप में ही अधिक प्रस्तुत हुए। 1915 में भारत लौटने पर बम्बई की जनता ने गाँधी जी को 'महात्मा' की उपाधि दी। 1917 में ही गाँधी जी ने भारतीय की सक्रिय राजनीति में पदार्पण किया। इस समय गाँधी जी को अंग्रेजों की न्याय प्रियता में पूरा विश्वास था, इसलिये उन्होंने भारतीय जनता को बिना किसी शर्त के ब्रिटिश सरकार को सहायता देने के लिये प्रेरित किया। गाँधी जी ने भारत में अपना राजनीतिक जीवन चम्पारन के सत्याग्रह से आरम्भ किया और इस क्षेत्र में नील की खेती करने वाले कृषकों पर गोरे जमींदारों के अत्याचारों की जाँच करने के लिये सरकार को एक कमीशन नियुक्त करने को बाध्य किया। 1918 ई0 में ही गाँधी जी ने खेड़ा जिले में कर न दो आन्दोलन और अहमदाबाद के मजदूर आन्दोलन में सफलता प्राप्त की। गाँधी जी ने साबरमती के तट पर अहमदाबाद के निकट अपना आश्रम बनवाया। यही आश्रम बाद में साबरमती आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 1917 में उन्होंने भारतीय मजदूरों को बन्धक बनाकर श्रम करने हेतु देश के बाहर भेजने की नीति का विरोध किया। गाँधीजी एक राजभक्त भारतीय थे, किन्तु 1919 में ब्रिटिश सरकार द्वारा "रौलट एक्ट" पास किये जाने और अप्रैल 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के कारण उनका ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं रहा। 1919 में गाँधी जी ने रोलेट एक्ट के विरोध में सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की। इसी समय खिलाफत के प्रश्न पर भारत का मुसलमान वर्ग भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हो गया। अत: हिन्दू - मुसलमान एकता में विश्वास रखने वाले महात्मा जी ने इसे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने का उपयुक्त अवसर समझा और 1920 में उन्होंने सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन का बहुत प्रसार हुआ, किन्तु धीरे धीरे यह हिंसक रूप धारण करने लगा। अत: 4 फरवरी 1922 के चौरी - चौरा काण्ड से दु:खी होकर गाँधी जी ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया। मार्च 1922 को गाँधी जी को राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर 6 वर्ष की सजा दी गयी, किन्तु जेल में उनका स्वास्थ्य खराब होने के कारण 5 फरवरी 1924 को जेल से उन्हें मुक्त कर दिया गया। इसी वर्ष वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये।

सन् 1930 में गाँधीजी ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। सन् 1942 में

उन्होंने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' शुरू किया जिसमें 'करो या मरो' (Do or Die) का नारा दिया। गाँधी जी को इस कार्य में सफलता नहीं मिली और उन्हें बन्दी बना लिया गया। सन 1944 में जेल से रिहा होने के बाद उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता समस्या के समाधान के लिये प्रयास किया। इसी समय उनकी धर्मपत्नी कस्तूरबा का निधन हो गया।

मुहम्मद अली जिन्ना और मुस्लिम लीग ने भारत से पृथक पाकिस्तान निर्माण की मांग रखी। बहुत समझाने पर भी जिन्ना पाकिस्तान के निर्माण की बात पर अड़े रहे। गाँधी जी देश के बटवारे के विरुद्ध थे, किन्तु ब्रिटिश नीति, मुस्लिम लीग की हठधर्मिता और साम्प्रदायिक दंगों के कारण उन्हें विभाजन करने के लिय बाध्य होना पड़ा। गाँधीजी के अथक प्रयासों के कारण 15 अगस्त 1947 को भारत आजाद हुआ और दुर्भाग्यवश भारत 1947 में खण्डित हो गया।

गाँधी जी सदैव रचनात्मक कार्यों में लगे रहे और साम्प्रदायिक तनावों को कम करने एवं दलितों के उत्थान के लिये प्रयत्नशील रहे। गाँधी जी का व्यक्तित्व महान था, वे समुद्र के समान गम्भीर और गहरे तथा हिमालय के समान दृढ़ और ऊँचे थे। सत्याग्रही नेता, योद्धा पथ प्रदर्शक, उपदेशक और सन्त सब कुछ थे। 30 जनवरी 1948 को जब गाँधी जी दिल्ली में संध्याकालीन प्रार्थना सभा के लिय जा रहे थे तब नाथूराम गोडसे नामक युवक ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी और हे राम कहते हुए उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु पर महान वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने कहा था, ''आगे आने वाली पीढ़ियां शायद ही यह विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसे हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।'' डॉ. स्टेन्ले जोन्स ने लिखा है, ''हत्यारे ने महात्मा गाँधी की हत्या करके उन्हें अमर बना दिया। मृत्यु से वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलशाली हो गये।''

गाँधी जी ने अपने विचारों को समय-समय पर विभिन्न लेखों, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के माध्यम से प्रकट किया है उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं — मेरे सत्य के प्रयोग, हिन्दू स्वराज्य, सर्वोदय, सत्याग्रह, आदि हैं। आपने पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया जिनमें - नवजीवन, यंग इण्डिया, हरिजन, हरिजन सेवक आदि उल्लेखनीय हैं।

गाँधी जी के विचारों पर माता के पवित्र जीवन एवं पिता की सादगी का अमिट प्रभाव पड़ा। टालस्टाय की रचना "The Kingdom of God is with in you" तथा जॉनरस्किन की पुस्तक "Unto this ast" का भी प्रभाव पड़ा। गीता उनके विचारों की सदैव पथ प्रदर्शक रही। उन्होंने लिखा है, ''जब मैं संशयों और निराशाओं से घिरा होता हूँ और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश रश्मि नहीं दिखायी देती तब मैं भगवद्गीता की ओर मुड़ता हूँ।''

इन पुस्तकों के अलावा उन पर रामायण, महाभारत, कुरान और बाइबिल का भी प्रभाव पड़ा। जैन, बौद्ध एवं कन्फ्यूशियस धर्म के प्रेम और अहिंसा सम्बन्धी विचारों को भी उन्होंने ग्रहण किया।

इकाई 20 गाँधीजी का आध्यात्मिक दर्शन

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 ईश्वर की अवधारणा

20.3 सत्य की अवधारणा

20.4 साध्य व साधन में एकता

20.5 अहिंसा की अवधारणा

20.5.1 अहिंसा के तीन रूप

20.5.2 नकारात्मक और सकारात्मक अहिंसा

20.5.3 अहिंसा की विशेषताएं

20.5.4 अहिंसा का प्रयोग

20.6 धर्म सम्बन्धी अवधारणा

20.7 सारांश

20.8 उपयोगी पुस्तकें

20.9 बोध प्रश्न

20.10 प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गाँधी की ईश्वर, सत्य, साध्य व साधन, कर्म व पुनर्जन्म, अहिंसा व धर्म की अवधारणा को भलीभाँति स्पष्ट कर सकेंगे।
- गांधी जी की अहिंसा की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- ईश्वर व सत्य की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- साध्य व साधन की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- कर्म व पुर्नजन्म की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- अहिंसा व धर्म की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मवाद से ओत-प्रोत था। उनके राजनीतिक, आर्थिक, एवं सामाजिक विचारों पर आध्यात्म एवं धर्म का स्पष्ट प्रभाव है। उनके आध्यात्मवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता,

साधनों की श्रेष्ठता एवं अहिंसा का विशिष्ट स्थान है। गांधी के आध्यात्मिक दर्शन में ये विभिन्न पहलू कोई बिखरी हुई कड़ियां नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। गांधी के समस्त कार्यों की प्रेरणा और सभी कार्यों का लक्ष्य अध्यात्म था। वे उसी के लिए प्रयत्नशील थे।

20.2 ईश्वर की अवधारणा

गांधी जी आस्तिक थे। ईश्वर में उनकी अटूट आस्था थी। वे सत्य और ईश्वर में कोई भेद नहीं करते थे। उनके अनुसार संसार की समस्त गतिविधियों का संचालन करने वाली शक्ति का नाम ईश्वर है। उनकी आस्था ईश्वर में इतनी थी कि वे हवा और पानी के बिना जीवित रहने की कल्पना कर सकते थे, किन्तु ईश्वर के बिना नहीं।

गांधीजी का विचार था कि ईश्वर की सत्ता को न तो ऐन्द्रिक शक्तियों के साक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है और न ही उसे एक ज्यामिति की प्रमेय की भाँति तर्क द्वारा समझाया जा सकता है। ईश्वर की सत्ता को तर्क से सिद्ध करना असंभव है, क्योंकि वह तर्क से परे है । वे यह स्वीकार करते थे कि मुझसे यदि तर्क द्वारा दूसरों को विश्वास दिलाने के लिए कहा जाय तो मैं एकदम परास्त हो जाऊँगा । यदि ईश्वर से बुद्धि की ही तृप्ति होती हो तो वह ईश्वर ही नहीं रहेगा। ईश्वर को ईश्वर होने के लिए तो हृदय पर शासन करना चाहिए । ईश्वर की सत्ता का सबसे अच्छा प्रमाण उन लोगों के आचरण में परिवर्तन आना है जो कि अपने अन्तर्हृदय में उसकी उपस्थिति को अनुभव कर चुके हैं। जो मनुष्य ईश्वर में विश्वास रखते हैं वे निर्भीक हो जाते हैं और सत्य तथा न्याय से प्रेम करते हैं। वे घृणा, दुर्भावना, लोभ, शक्ति की तृष्णा इत्यादि का परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार के हृदय परिवर्तन का सबसे सुन्दर रूप हमें प्रत्येक देश और काल के पैगम्बरों और अवतारों के जीवन में देखने को मिलता है। उनका साक्ष्य ईश्वर की सत्ता का सबसे पक्का प्रमाण है।

गाँधीजी ने ईश्वर को मानवता से कभी पृथक नहीं माना। उन्होंने ईश्वर शब्द का अर्थ विस्तार से किया और उसे 'दरिद्र नारायण' कहकर पुकारा जिसका अर्थ है 'गरीबों का ईश्वर' । उन्होंने 'स्वर्ग के भगवान' को धरती पर उतार दिया, उसे अलौकिक से लौकिक बना दिया । गांधी जी ने ईश्वर को महान लोकतंत्रवादी भी कहा, क्योंकि उसने हमें बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की खुली छूट दे रखी है।

गांधीजी ईश्वर में अपनी आस्था को दूसरों पर बलपूर्वक थोपने के पक्ष में नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर दया और करुणा का सागर है जो अपनी सत्ता मनवाने का इच्छुक नहीं है। गांधी ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध तो नहीं किया, लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ चिरप्रचलित प्रमाण अवश्य दोहराए। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि ईश्वर के अस्तित्व का सीमित प्रमाण देना सम्भव है। जगत में व्यवस्था है और प्रत्येक पदार्थ तथा जीवित प्राणी एक अटल नियम से बंधा हुआ है। यह नियम अन्धा नहीं है, क्योंकि मनुष्यों के आचरण को किसी अन्ध नियम के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। तो फिर समस्त जीवन को चलाने वाला वह नियम ईश्वर ही है। गांधो जी ने कहा कि जब चारों ओर हर चीज बदल रही है नष्ट हो रही है, तब इस सम्पूर्ण परिवर्तन के पीछे कोई चेतना शक्ति ऐसी अवश्य है जो बदलती नहीं। यह चेतना शक्ति सब को धारण किए हुए है, सबका सृजन करती है,यह जीवनदायी शक्ति अथवा सत्ता ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं है।

20.3 सत्य की अवधारणा

महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन सत्यमय था। सत्य के सामने और किसी बात से वह समझौता नहीं करते थे, सत्य और ईश्वर में वह कोई भेद नहीं मानते थे। गांधी जी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है।

सत्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं— तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वह सत्य है, किन्तु सभी का अन्तःकरण एक जैसी बात नहीं कहता । सत्य को ग्रहण कर उसे व्यक्त करने के लिए अन्तरात्मा का शुद्ध होना आवश्यक है, क्योंकि शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज ही सत्य हो सकती है। दुष्टात्माओं की आवाज सत्य नहीं हो सकती है। आत्मा की शुद्धि के लिए गाधीजी ने कई उपाय बताये हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भीकता एवं शारीरिक श्रम आदि को अपनाकर आत्मा की शुद्धि की जा सकती है। गांधी जी मानते हैं कि पूर्ण सत्य की प्राप्ति संभव नहीं है क्योंकि आत्म शुद्धि के साधनों को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सकता फिर भी इन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्तरोत्तर सत्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

गाँधी के लिए सत्य ही ईश्वर है, शाश्वत और सनातन सिद्धान्त है । अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं मेरे मत में सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश है। जब तक मैं इस सत्य का साक्षात्कार न कर लूँ तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य मानती है, उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर मैं अपना जीवन व्यतीत कर सकता हूँ। गांधीजी का मत था कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में सत्य का पालन किया जाना चाहिए, चाहे उसका परिणाम जो भी हो, उसका कितना ही मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। गांधी जी सत्य को शाश्वत मानते थे। वे कहते थे— ''एक सत्य ही है, इसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगत् में नहीं है।''

गांधीजी के अनुसार मधुर वाणी, शिष्ट आचरण, परोपकार, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और मैत्रीभाव ही सत्य की खोज के आधार हैं। सत्य की खोज सभी कर सकते हैं चाहे वह महात्मा हो या बालक । सत्य के शोध के साधन सरल भी हैं और कठिन भी। उन्होंने विश्वशान्ति एवं विश्व बन्धुत्व के लिए सत्य की खोज को आवश्यक माना। गांधीजी के सत्य की व्यावहारिक उपयोगिता यह भी है कि यदि विश्व के शक्तिशाली देश दबाव की राजनीति छोड़कर शाश्वत सत्य की खोज में लग जायं तो सारे झगड़े ही समाप्त हो जायेंगे और विश्व बन्धुत्व एवं विश्वशान्ति की कल्पना साकार हो जायेगी।

20.4 साध्य एवं साधन में एकता

गांधीजी यह मानते थे कि हमारे साध्य ही नहीं वरन् साधन भी उच्च होने चाहिए क्योंकि जैसे साधन होंगे वैसे ही साध्य की प्राप्ति होगी। गांधीजी ने साध्य को जितना महत्व दिया है उतना ही साधन को भी। गांधीदर्शन में इन दोनों को अलग नहीं किया गया है। साध्य का ऊँचा होना पर्याप्त नहीं है। साधन की उच्चता और नैतिकता भी आवश्यक है और यदि सच पूछा जाय तो साधन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल उसके हाथ में नहीं होता है, किन्तु कर्म अवश्य हाथ में होता है, इसलिये जो हाथ में है वह ज्यादा महत्वपूर्ण है। गांधी जी कहते हैं ''यदि पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन उपलब्ध नहीं है तो उस साध्य को त्याग देना चाहिए।'' अपवित्र साधनों से उच्च साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसा हम बोयेंगे वैसा ही हम काटेंगे। साधनों की पवित्रता के अनुपात पर जोर देते हुए उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में लिखा कि – ''साधन एक बीज के समान है तथा साध्य एक वृक्ष के समान है और साध्य तथा साधन में उसी प्रकार अटूट सम्बन्ध है जिस प्रकार का एक बीज तथा वृक्ष में होता है।'' जिस प्रकार अच्छी फसल के लिए अच्छे बीजों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से अच्छे साधनों के बिना उत्तम ध्येय तक नहीं पहुंचा जा सकता।

गाँधीजी का 'साधनों की पवित्रता' का विचार उन्हें मार्क्सवाद से भिन्न करता है। जहाँ मार्क्सवाद एक वर्गहीन समाज के आदर्श की प्राप्ति के लिए हिंसा और क्रान्ति का उपदेश देता है वहां गांधीजी के अनुसार हिंसा द्वारा निर्मित वर्गहीन समाज उन्हें स्वीकार्य नहीं है। गांधी जी की आस्था तो खून का कतरा गिराए

बिना ही स्थापित होने वाले वर्गहीन समाज में है। साधनों की पवित्रता का यह विचार राजनीति को गांधी की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

20.5 अहिंसा की अवधारणा

महात्मा गांधी के तीन अमोघ अस्त्र थे — सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह। इनका प्रयोग उन्होंने देश को शान्तिमय तरीके से स्वराज्य तक पहुँचाने में किया। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कोई भी क्षेत्र इन साधनों के स्पर्श से बच न सका।

गांधी जी की अहिंसा की अवधारणा भारतीय दार्शनिक चिन्तन के साध जुड़ी हुई है। छन्दोग्य उपनिषद् में तप, दान, सरलता और सत्य के साथ, अहिंसा के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। पातंजलि ने आत्म-शुद्धि की साधना मे अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है। महाभारत में अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म, तप और सत्य माना गया है। गौतम की शिक्षाओं में अहिंसा का उपदेश है। भगवान महावीर तो अहिंसा के अवतार माने जाते हैं। गांधीजी के विचारों पर उपरोक्त भारतीय चिन्तन की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। इसके साथ ही उन्होंने बाइबिल के पर्वत-प्रवचन तथा टालस्टाय के ग्रन्थों से भी अहिंसा के विचार को ग्रहण किया है। गांधीजी ने अहिंसा को व्यापक मान्यता दी है। उनका मानना है कि सत्यरूपी साध्य की खोज के लिए साधन का नैतिक होना अनिवार्य है और यह खोज हम अहिंसा रूपी साधन द्वारा ही कर सकते हैं।

सामान्यत: अहिंसा का अर्थ किसी को न मारना लगाया जाता है। पर गांधीजी ने इसे आंशिक माना है। यह विचार स्थूल और सीमित विचार है। अहिंसा इससे अधिक है। इसमें ब्रह्मचर्य , अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सभी कुछ आ जाते हैं। गांधीजी के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक लेता है तो वह हिंसा है। तिरस्कार एवं अहंकार भी हिंसा है । झूठ बोलना, ठगना, कम तोलना, विवशता का अनुचित लाभ उठाना, बुरा विचार, द्वेष, बैर, डाह, किसी का बुरा चाहना, आदि सभी हिंसा हैं। क्रोध, संग्रह, अनावश्यक विरोध, पशुबल का प्रयोग, चोरी सभी हिंसा है। गांधीजी की अहिंसा सर्वोच्च प्रेम, सर्वोच्च दयालुता और सर्वोच्च आत्मबलिदान है। यह शुद्धता और स्वच्छता पर आधारित है। इसमें घृणा, द्वेष और हिंसा का लेशमात्र स्थान नहीं है।

20.5.1 अहिंसा के तीन रूप

गांधीजी अहिंसा को सर्वोच्च, नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक मानते हैं। अहिंसा के तीन रूप हो सकते हैं, सर्वोत्तम अथवा जागृत अहिंसा, औचित्यपूर्ण अथवा व्यावहारिक अहिंसा और भीरू लोगों की अथवा निकृष्ट अहिंसा। जागृत अहिंसा को व्यक्ति अपनी नैतिकता के कारण स्वीकार करता है, यह व्यक्ति की अन्तरात्मा की पुकार पर जन्म लेती है। इस प्रकार की अहिंसा बहुत बलशाली होती है। यह असंभव को भी संभव कर सकती है। इसमें शक्ति का अपार स्रोत रहता है। औचित्यपूर्ण अहिंसा वह अहिंसा है जिसे हम आवश्यकता पड़ने पर औचित्य के आधार पर अपनाते हैं। यद्यपि इसमें जागृत अहिंसा के समान अपार शक्ति नहीं होती फिर भी यदि इमानदारी और दृढ़ता से इसका पालन किया जाय तो यह लाभदायी सिद्ध होती है। भीरूओं की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा है। वह वास्तव में अहिंसा है ही नहीं। यह तो भय, डर और मजबूरी का परिणाम है। इस अहिंसा से कुछ नहीं होता है। कायरता की गांधीजी निन्दा करते हैं। वे तो कायरता और हिंसा में हिंसा को पसन्द करते हैं।

वास्तव में अहिंसा दर्शन ही नहीं अपितु कार्यपद्धति और जीवन है। यह व्यक्ति के व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं है अपितु सामाजिक परिवर्तन और मानव सभ्यता के विकास का आधार है। अहिंसा पर विचार करते समय गांधीजी ने अतिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया, वे काफी व्यावहारिक थे। उन्होंने

जीवन निर्वाह के लिए की जाने वाली हिंसा को पाप नहीं माना। मनुष्य, जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले जीव जन्तुओं को मारने के भी विरोधी नहीं थे। शरीर के पोषण और आश्रितों की रक्षा के लिए की गई हिंसा को उन्होंने पाप नहीं माना ।

20.5.2 नकारात्मक और सकारात्मक अहिंसा

अहिंसा के दो पक्ष हैं- एक नकारात्मक और दूसरा सकारात्मक। किसी प्राणी को काम, क्रोध, लोभ आदि के वशीभूत होकर हिंसा न पहुँचाना, अहिंसा का नकारात्मक रूप है तथा प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता, इनमें से एक अथवा एक से अधिक तत्वों से युक्त अहिंसा, सकारात्मक है। वस्तुतः उपरोक्त भावनाएं सकारात्मक अहिंसा के मूल तत्व हैं। हिंसा का आधार विद्वेष है उसी प्रकार अहिंसा का आधार प्रेम है। यही कारण है कि अहिंसा का व्रत लेने वाला व्यक्ति शत्रु से घृणा नहीं करता अपितु वह शत्रु की बुराई से घृणा करता है। अहिंसा में धैर्य तत्व का भी महत्व है। यदि अहिंसावादी व्यक्ति को अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं मिलती तो वह निराश नहीं होता, वह पुनः धैर्य पूर्वक प्रयत्न करता है। अहिंसा, निष्क्रियता या अकर्मण्यता नहीं है अपितु सतत प्रयत्नों और बुराइयों का प्रतिकार करना है। अन्यायी के अत्याचार से अहिंसावादी कभी घबड़ाता नहीं है। गांधी जी अहिंसा को कायरों, डरपोकों का हथियार नहीं मानते, वे उसे वीरों और साहसी लोगों का गुण मानते हैं । अहिंसा योद्धा का गुण है यदि हम वीर पुरुष नहीं हैं, हममें आत्म बल नहीं है तो ऐसी स्थिति में हम अहिंसा का पालन नहीं कर सकते हैं।

20.5.3 अहिंसा की विशेषताएं

गांधीजी की अहिंसा की दो विशेषताएं हैं पहली विशेषता यह है कि गांधीजी ने अहिंसा का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है तथा दूसरी विशेषता यह है कि गांधीजी ने अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार करके उसे नूतन आयाम प्रदान किया है। गांधीजी के पूर्व, अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव की हत्या न करना और आहार-विहार में सात्विक रहना मात्र था। पर गांधीजी ने इस विचार को बढ़ाया। उनका कहन था कि अहिंसा खान-पान के विचार से परे है। एक मांसाहारी अहिंसक हो सकता है और एक शाकाहारी हिंसक हो सकता है। इसी प्रकार गांधीजी ने अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार किया। गांधीजी के पूर्व अहिंसा, व्यक्तिगत गुण माना जाता था। पर गांधीजी ने अहिंसा को व्यक्तिगत गुण की परिधि से निकालकर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सार्वजनिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। गांधीजी का कहना था कि अहिंसा यदि व्यक्तिगत गुण है तो मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है, वह करोड़ों लोगों की है। हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत गुण नहीं हैं। साहस, अहिंसा और हिंसा दोनों में होता है पर जहां हिंसक अपनी रक्षा के लिए हिंसा द्वारा साहस का प्रदर्शन करता है, वहां अहिंसक अपनी रक्षा के लिए हिसा का प्रयोग नहीं करता। वह संयम का प्रयोग करता है। हिंसा से किसी के शरीर और स्थिति पर विजय प्राप्त की जा सकती है पर अहिंसा से शरीर और मन दोनों पर विजय प्राप्त की जाती है। अहिंसा,प्रेम द्वारा शत्रु को जीतना है।

20.5.4 अहिंसा का प्रयोग

गांधीजी ने अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी किया। गांधीजी ने अहिंसा को एक अस्त्र के रूप में संगठित किया। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार प्रशिक्षण द्वारा हिंसा को संगठित किया जा सकता है, उसी प्रकार अहिंसा को भी संगठित किया जा सकता है। यदि अहिंसा संगठित नहीं हो सकती तो वह धर्म नहीं है। गांधीजी ने कहा, यदि मुझमें कोई विशेषता है तो यही कि मैं सत्य और अहिंसा को संगठित कर रहा हूँ। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन करके

होंने भारत को स्वतंत्र कराया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने साम्प्रदायिक झगड़ों एवं अस्पृश्यता निवारण लिए अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग किया। कई दिन का कठोर उपवास करके वे लोगों का ध्यान ाज की बुराइयों की ओर आकृष्ट करते रहे तथा समानता एवं प्रेम पर जोर देकर साम्प्रदायिक एवं तीय भेदभाव को नष्ट करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करते रहे। गांधीजी अहिंसा को आत्मिक बल नते थे जिसमें कठोर हृदय को पिघलाने की शक्ति होती है। कुछ समय के लिए हिंसा चाहे विजयी जाये, किन्तु अन्ततः उसे पराजित होना ही पड़ेगा। गांधीजी का विश्वास था कि जहाँ अन्याय, उत्पीड़न र भय के और मानव परम्परा, समाज, कानून, दण्ड या अविवेक के कारण टुकड़ा और दबा हुआ है ं अहिंसा को संगठित कर अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। दक्षिण अफ्रीका, चम्पारन, ा और दाण्डी यात्रा में गांधीजी ने अहिंसक साधनों द्वारा जनमत को संगठित करके यह बता दिया कि हिंसा संगठित हो सकती है और यह ऐसा अस्त्र है जो कभी विफल नहीं होता और द्वेष या शत्रुता पैदा ीं करता। इस प्रकार से गांधीजी की अहिंसा समाज की बुराइयों एवं समस्याओं से लोहा लेने का अस्त्र तो युद्ध का एक नैतिक विकल्प भी। यह बुराई को अच्छाई से जीतने का सिद्धान्त है जिसमें कोई बदले भावना नहीं है, कोई षडयन्त्र नहीं है, कोई प्रतिकार नहीं है, कोई संगठित युद्ध या गुप्त हत्या नहीं

0.6 धर्म सम्बन्धी अवधारणा

धीजी के अनुसार धर्म, संसार की नैतिक अनुशासन की व्यवस्था है। धर्म, व्यक्ति के जीवन और समाज आधारभूत तत्व है। उन्होंने समाज में व्याप्त धर्म के विकृत रूप को देखा और अपने प्रयोगों तथा कर्षों के आधार पर धर्म की पुनः एक व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने धर्म को जीवन और समाज आधारभूत तत्व स्वीकार किया और कहा कि इसको निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण र शून्य हो जाते हैं। गांधीजी ने धर्म के क्षेत्र में संसार के प्रत्येक कार्य, व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष और ाज के प्रत्येक अंग को समेटा।

ीजी के धर्म सम्बन्धी विचार संकुचित नहीं थे। सामान्यतः धर्म को संप्रदाय के साथ भी जोड़ाजाता है। गांधी के लिए धर्म का यह रूढ़िगत अर्थ नहीं है। यह तो धर्म को विकृत करके देखना या समझना है। ीजी के लिए धर्म, मानव समाज का शाश्वत तत्व है। जो सीमित और संकुचित भावनाओं और ारों से परे हैं। गांधीजी का धर्म, मानवतावादी है, वह आक्रामक या सीमित नहीं है। अपितु धर्म हित के लिए सभी के मंगल शुभ के विचार को लेकर चलने वाला है। यह हिन्दुत्व या इस्लामियत से है। गांधीजी की आस्था हिन्दू धर्म में गहरी थी। इसका कारण यह है कि हिन्दू धर्म व्यापकता और धर्म समन्वय की दृष्टि वाला है। हिन्दू धर्म सब धर्मों के साथ शान्तिपूर्ण तरीके से रहने में विश्वास ता है।

त्मा गांधी ने मानवतावादी धर्म का पोषण किया जिसका चरम लक्ष्य सेवा है। गांधी धर्म के प्रमुख ा हैं— सत्य, प्रेम व अहिंसा। जो व्यक्ति वस्तुतः मनुष्य कहलाना चाहता है उसके दैहिक, मानसिक सांस्कृतिक गुणों का विकास इन्हीं तत्वों पर आधारित होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक व्यक्तित्व में दैहिक तत्व को प्रमुख स्थान देते हैं और गांधीजी का धर्म भी इसकी उपेक्षा करता, क्योंकि उनका विश्वास था कि व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मोक्ष की स्थिति में है और "मोक्ष अर्थ हर प्रकार से स्वस्थ होना ही है। अमरत्व तो आत्मा का गुण है, उसके लिए सब शुद्ध शरीर पैदा ने का प्रयत्न करें।" अपनी इस व्याख्या द्वारा गांधीजी ने व्यक्तित्व के दैहिक तत्व को भी धर्म के म लक्ष्य मोक्ष या अमरत्व से सम्बन्धित कर दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के दैहिक, मानसिक और

आचरणात्मक पक्षों को धर्म से सम्बन्धित किया।

गांधी की धार्मिक आस्था में ऊँच नीच, जात-भेद, पंथ भेद, रंगभेद को कोई स्थान नहीं था। जो धर्म मनुष्य मनुष्य में अन्तर करता है उसे वे धर्म नहीं मानते थे। उनका विचार था कि ईश्वर ने मनुष्य को ऊँच-नीच के साथ पैदा नहीं किया है, वे अस्पृश्यता में विश्वास को भगवान का निषेध मानते थे। सभी ईश्वर के अंश हैं फिर छुआ छूत का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है । जो सामाजिक दृष्टि से गिरे हुए हैं जिन्हें हम अस्पृश्य कहते हैं, उनकी सेवा करना सच्चा धर्म है। गांधीजी ने दरिद्रों में ईश्वर का वास देखा। वे दरिद्र नारायण की सेवा, ईश्वर की सेवा मानते थे। गांधी जी धार्मिक थे, पर अंधविश्वासी नहीं। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों और अंधविश्वासों को समाप्त करने का कार्य किया। विश्व के सभी धर्मों की मूल शिक्षाएं एक सी हैं। सभी सत्य, सद् आचरण, प्रेम, मानव सेवा, अहिंसा और सद्भाव पर विश्वास करते हैं, अत: सभी धर्मों के द्वार मानव मात्र के लिए खुले रहने चाहिए। गांधीजी, धर्म परिवर्तन के समर्थक नहीं थे। उनके आश्रम में सभी धर्मों के अनुयायी रहते थे, पर उन्होंने किसी का भी धर्म परिवर्तन नहीं किया और न किसी को धर्म परिवर्तन की सलाह दी। भारत में ईसाई सन्तों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि जो भी मानवतावादी कार्य उन्होंने किये हैं वह उत्तम हैं लेकिन उसका मूल्य जाता रहेगा यदि वे अपना उद्देश्य दूसरों को ईसाई बनाने का रखेंगे।

प्राय: धार्मिक व्यक्ति अराधना के लिए किसी एकान्त और निरापद स्थान को खोजता है। पर्वत शिखरों पर या गुफाओं में बैठकर अराधना करता है। गांधीजी का विचार था कि वस्तुत: धर्म की अभिव्यक्ति तो समाज में रहते हुए हमारे कार्यों में होनी चाहिए। गरीब, असहाय, पीड़ित लोगों की सेवा, सच्ची साधना है। प्रार्थना की शक्ति में उन्होंने अपना विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर के प्रति प्रार्थना कोई याचना (Petition) नहीं है वरन् ईश्वर का यशोगान है और आत्मा की आवाज है। प्रार्थनाओं से व्यक्ति को शक्ति मिलती है और वह भौतिक तृष्णाओं से दूर रहने में सक्षम बनता है। प्रार्थनाओं में मन को सन्तोष देने की जबरदस्त शक्ति है। लाखों-करोड़ों, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई प्रार्थना से अपने जीवन में शान्ति का अनुभव करते हैं।

गांधी जी के धर्म ने 'निष्काम कर्म' का उपदेश दिया। जब मनुष्य परिणाम का अध्ययन करता रहता है तो वह बहुधा कर्तव्य भ्रष्ट हो जाता है, उसे अधीरता घेरने लगती है । फलस्वरूप क्रोध के वशीभूत होकर वह न करने योग्य कार्य भी करने लग जाता है । अत: परिणाम के प्रति असक्ति और मोह उचित नहीं है । श्रेष्ठ कर्म वही है जो बन्धन मुक्त होकर किया जाय। धर्म का अभिप्राय है कि व्यक्ति अपनी पाशविक प्रकृति पर विजय पा ले और स्वयं को ईश्वर से तथा अपने ही साथ अन्य मनुष्यों से सम्बद्ध कर ले।

गांधीजी जिस धर्म को समाज और राजनीति में प्रविष्ट करना चाहते थे वह एक सार्वभौमिक धर्म है। हम उसे मूल धर्म भी कह सकते हैं। यह धर्म सत्य की खोज, अपने सृष्टा को जानने की इच्छा है। यह एक सर्वव्यापक प्रभाव है, निरा कर्मकाण्ड नहीं। यह व्यक्ति को पवित्र बनाता है उसे शेष सृष्टि से अपनी एकात्मीयता अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है।

20.7 सारांश

गांधीजी मूलत: आध्यात्मिक संत थे। उनकी आध्यात्मिक निष्ठा का प्रस्फुटन जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ। उन्होंने आधुनिक जगत में व्याप्त भौतिकवाद, भ्रष्टाचार, हिंसा आदि का हल अपने आध्यात्मिक विचारों के द्वारा दिया। गांधीजी का विचार है कि हम किसी मशीनी सिद्धान्त से सत्यान्वेषण नहीं कर सकते । मानव के अंदर निहित ईश्वरीय तत्व का समुचित उद्घाटन ही समस्त मानव-व्यापारों का

य होना चाहिए। इस विचार के माध्यम से उन्होंने केवल आध्यात्मीकरण की आवश्यकता को ही त्व नहीं दिया गया बल्कि मानवीयकरण की आवश्यकता को भी गहराई से महसूस किया।

0.8 उपयोगी पुस्तकें

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन	-	डा. अमरेश्वर अवस्थी डा. राम कुमार अवस्भी
भारतीय राजनीतिक चिन्तन	-	डा. गोविन्द प्रसाद शर्मा
सत्य के प्रयोग	-	महात्मा गांधी
गांधीवाद की रूपरेखा	-	गोपीनाथ धवन
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तक	-	विश्वनाथ प्रसाद वर्मा
रोजगार समाचार 28 जनवरी	-	3 फरवरी 1995

0.9 बोध प्रश्न

धु उत्तरीय प्रश्न —

महात्मा गांधी के ईश्वर की अवधारणा को संक्षेप में समझाइये।

महात्मा गांधी के अनुसार सत्य क्या है? समझाइये।

साध्य-साधन के गाँधी जी के विचारों को संक्षेप में बताइये।

गांधी के धर्म सम्बन्धी विचार को संक्षेप में बताइये।

र्घ उत्तरीय —

गांधी की अहिंसा की अवधारणा की विशद व्याख्या करें।

गांधी के आध्यात्मिक चिंतन के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए ।

गांधी के धर्म सम्बन्धी विचारों की विस्तृत विवेचना करें।

घु उत्तरीय प्रश्न —

ईश्वर को जीवन्त शक्ति मानते हैं—

म) मार्क्स (ब) गांधी (स) अम्बेडकर (द) इनमें से कोई नहीं

गांधी के अनुसार सत्य है —

म) अन्तरात्मा की आवाज (ब) बहुत से लोगों द्वारा प्रदत्त विचार (स) दोनों

:) इनमें से कोई नहीं। —

"यदि पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन उपलब्ध नहीं है तो उस साध्य को त्याग देना चाहिए।" उक्त कथन किसका है—

म) जवाहर लाल नेहरू (ब) गांधी जी (स) भीमराव अम्बेडकर

:) इनमें से कोई नहीं।

व्यक्ति अपनी नैतिकता के कारण जिस प्रकार की अहिंसा को अपनाता है उसे गांधी ने कहा है—

म) जाग्रत अहिंसा (ब) औचित्यपूर्ण अहिंसा (स) निकृष्ट अहिंसा

:) इनमें से कोई नहीं ।

20.10 प्रश्नों के उत्तर

1. (ब) 2. (अ) 3. (ब) 4. (अ)

इकाई 21 महात्मा गांधी का सामाजिक चिन्तन

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 सर्वोदय की अवधारणा

21.2.1 सर्वोदय की विशेषताएं

21.3 अस्पृश्यता निवारण

21.4 महिला उत्थान

21.5 विवाह

21.6 नशाबन्दी

21.7 शिक्षा

21.8 सारांश

21.9 उपयोगी पुस्तकें

21.10 बोध प्रश्न

21.11 प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गान्धी जी के सर्वोदय की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे
- उनके अस्पृश्यता के निवारण पर टिप्पणी कर सकेंगे
- उनके महिला उत्थान, विवाह, नशाबन्धी और शिक्षा सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकेंगे

21.1 प्रस्तावना

गांधीजी का सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन उनके नैतिक समाज की अवधारणा पर आधारित है। गांधीजी का मानना था कि जब तक स्वस्थ और व्यवस्थित समाज नहीं बनेगा, तब तक अच्छी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं विकसित नहीं हो सकती हैं। सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक प्रगति और राजनीतिक स्थिरता तथा व्यवस्था परस्पर सम्बद्ध हैं और इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। हमारा अतीत शानदार था और हमने दुनिया का मार्गदर्शन किया। यदि भारत को अपना खोया हुआ गौरव पुन: प्राप्त करना है तो समाज सुधारकों तथा समाज के अन्य नेताओं को आदर्श समाज बनाने के लिए सतत् प्रयत्न करना होगा।

1.2 सर्वोदय की अवधारणा

ात्मा गांधी जान रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'Unto This Last' से बहुत अधिक प्रभावित थे। गांधी के द्वारा रस्किन की इस पुस्तक का गुजराती भाषा में 'सर्वोदय' शीर्षक से अनुवाद किया गया। इस में न आधारभूत तथ्य थे —

सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है।

एक नाई का कार्य भी वकील के समान ही मूल्यवान है क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपने कार्य से स्वयं की आजीविका प्राप्त करने का अधिकार होता है, और

श्रमिक का जीवन ही एक मात्र जीने योग्य जीवन है।

ी जी ने इन तीनों कथन के आधार पर अपनी सर्वोदय की विचारधारा को जन्म दिया।

ोदय का अर्थ है सब की समान उन्नति। एक व्यक्ति का भी उतना ही महत्व है जितना अन्य क्तियों का सामूहिक रूप से है। सर्वोदय का सिद्धान्त गांधी ने बेन्थम तथा मिल के उपयोगितावाद के ोध में प्रतिस्थापित किया। उपयोगितावाद 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' प्रदान करना ता है। गांधी जी तो "सर्वेभन्तु सुखिन:" के पक्षपाती थे। उपयोगितावाद को उन्होंने भौतिकवाद का यि माना। उन्होंने कहा कि किसी समाज की प्रगति उसकी धन सम्पत्ति से नहीं मापी जा सकती, उसकी ति तो उसके नैतिक चरित्र से आंकी जानी चाहिये। जिस प्रकार इंग्लैण्ड में रस्किन तथा कार्लाईल ने योगितावादियों को विरोध किया, उसी प्रकार गांधी ने मार्क्स से प्रभावित उन लोगों के विचारों का डन किया जो भारतीय समाज को एक औद्योगिक समाज में बदलना चाहते थे।

1.2.1 सर्वोदय की विशेषताएं

दय की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

) सर्वोदय समाज अपने व्यक्तियों को इस तरह से प्रशिक्षित करता है कि व्यक्ति बड़ी से बड़ी ठनाइयों में भी अपने साहस व धैर्य को त्यागता नहीं है। उसे यह सिखाया जाता है कि वह कैसे जिये । सामाजिक बुराइयों से कैसे बचे। इस तरह सर्वोदय समाज का व्यक्ति अनुशासित तथा संयमी होता

) यह समाज इस प्रकार की योजनाएं बनाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को नौकरी मिल सके अथवा ऐसा कार्य मिल सके जिससे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति श्रम करना पड़ता है।

) सर्वोदय समाज पाश्चात्य देशों की तरह भौतिक संपन्नता और सुख के पीछे नहीं भागता है न उसे प्राप्त करने की इच्छा ही प्रगट करता है, किन्तु यह इस बात का प्रयत्न करता है कि दय समाज में रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं जिनमें रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा द है की पूर्ति होती रहे । ये वे सामान्य आवश्यकतायें हैं जो प्रत्येक व्यक्ति की हैं और जिनकी पूर्ति । आवश्यक है।

) सर्वोदय की विचारधारा है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण सभी क्षेत्रों में समान रूप में करना चाहिए कि दिल्ली का शासन भारत के प्रत्येक गांव में नहीं पहुंच सकता। वे आर्थिक, सामाजिक तथा नीतिक क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने के पक्षधर थे।

(5) इस समाज में किसी भी व्यक्ति का शोषण नहीं होगा क्योंकि इस समाज में रहने वाले व्यक्ति आत्म संयमी, धैर्यवान, अनुशासनप्रिय तथा भौतिक सुखों की प्राप्ति से दूर रहते है। इस समाज के व्यक्ति भौतिक सुखों के पीछे नहीं भागते, इसलिये इनके व्यक्तित्व में न तो संघर्ष है और न ही शोषण की प्रवृत्ति ही। यह अपने पास उतनी ही वस्तुओं का संग्रह करते हैं, जितनी इनकी आवश्यकताएं हैं।

(6) गांधीजी का मत था कि भारत के गांवों का संचालन दिल्ली की सरकार नहीं कर सकती। गांव का शासन लोकनीति के आधार पर होना चाहिए क्योंकि लोकनीति गांव के कण-कण में व्याप्त है। लोकनीति बचपन से ही व्यक्ति को कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित करती है और कुछ कार्यों को करने से रोकती है। इस तरह व्यक्ति स्वत: अनुशासित बन जाता है।

(7) सर्वोदय का उद्देश्य किसी एक क्षेत्र में उन्नति करने का नहीं है बल्कि सभी क्षेत्रों में समानरूप से उन्नति करने का है। वह अगर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध है तो व्यक्ति को सत्य, अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए भी दृढ़संकल्प है।

21.3 अस्पृश्यता निवारण

गांधीजी सामाजिक जीवन में समानता के पक्षधर थे। वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक होते हुए भी उन्होंने ऊँच-नीच की भावना का सख्त विरोध किया एवं अस्पृश्यता को 'हिन्दू समाज का कोढ' की संज्ञा दी। गाँधी जी का मत था कि वर्ण व्यवस्था का मूल कारण काम के बंटवारे के लिए था, किसी काम को छोटा या किसी काम को बड़ा समझने के लिए नहीं। वर्ण व्यवस्था इसलिए तर्कसंगत है क्योंकि इनके अनुसार मनुष्य को अपनी अभिरुचि एवं योग्यता के अनुसार काम मिलता है। अगर जुलाहे का बेटा जुलाहे का काम करे तो वह अपने पिता द्वारा उपलब्ध योग्यता को आगे बढ़ा सकता है और इससे कपड़ा उद्योग उन्नति करता चला जायेगा। किन्तु अगर जुलाहे के बेटे में डाक्टर या इंजीनियर बनने की अभिरुचि है तो उसको समाज नहीं रोक सकता। इस बात की उसको पूरी आजादी है । अभिरुचि तथा योग्यता के अनुसार कार्य का बँटवारा - गांधी का यही सिद्धांत था। इसी भावना से वर्ण व्यवस्था कायम की गयी थी। कालान्तर में कुछ पेशे निम्न श्रेणी के और कुछ पेशे उच्च श्रेणी के समझे जाने लगे। यहीं से वर्ण व्यवस्था में विकृति आना प्रारम्भ हो गयी । जब इस व्यवस्था में विकृति आयी अस्पृश्यता कीभयानक बीमारी भी भारतीय समाज में व्याप्त हो गयी तथा कुछ लोगों को इतना नीच समझा जाने लगा कि उनको छूना भी वर्जित कर दिया गया।

गांधी जी का विचार था कि जब तक अस्पृश्यता को आमूल नष्ट नहीं कर दिया जायेगा, हिन्दू समाज उन्नति नहीं कर सकेगा। गांधी को महात्मा फुले जैसे लोगों से भी इस विषय में प्रेरणा मिली। अछूतोद्धार के लिए गांधी ने कई क्रान्तिकारी कदम उठाये। वे जो कुछ भी कहते थे उसको खुद करके दिखाते थे। इसलिये अपने आश्रम में अछूतोद्धार का काम सबसे पहले किया। सदियों से चली आ रही परम्परा के अनुसार मैला उठाना भारत में सबसे निकृष्ट कार्य समझा जाता रहा है। गांधी जी ने हरिजन बस्तियों में जाकर स्वयं यह कार्य किया और अपने आश्रम वासियों को भी यही हिदायत दी कि वे भी ऐसा ही कार्य करें ताकि निम्न वर्ग के लोगों के अन्दर निहित छोटेपन की भावना का ह्रास हो और वे भी अपने को उच्च वर्ग के लोगों में खपा सकने में समर्थ हो। सवर्णों को उन्होंने बार बार याद दिलाया कि जो अपने जैसे मनुष्यों में किसी को छोटा समझे वह जघन्य अपराध तथा पाप का भागी है। एक मेहतर की भी वही अहमियत है जो एक डाक्टर या इंजीनियर की है।

गांधी जी ने अछूतों को 'हरिजन' कहा। उन्होंने कहा — "मां बच्चे का मैला उठाती है, इसलिए वह पवित्र मानी गयी है। रोगी की सेवा करने वाली बहिन अत्यन्त दुर्गन्ध वाली वस्तुएं उठाती है, उसका हम

म्मान करते हैं, तब जो सदैव पाखाने साफ कर हमें निरोग रखने में सहायता करते हैं, उनकी हम पूजा यों न करें।''

ांधी जी ने निम्न जातियों विशेषकर हरिजनों के उत्थान को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया तथा ोवन पर्यन्त संघर्ष किया। उनका विचार था कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिए अस्पृश्यता को आमूल ट करना जरूरी है। 1932 में उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। इस संघ ने अस्पृश्यता ावारण, पिछड़े वर्गों को उन्नति दिलाने, श्रम के महत्व को स्थापित करने तथा मानव-मानव के बीच ाहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाने के प्रयत्न किये। इस संघ के द्वारा अस्पृश्यों को सार्वजनिक स्थानों का उपयोग था मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने हेतु भी समय-समय पर आन्दोलन किए गये। संघ के यत्नों से दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों में हरिजनों को प्रवेश की अनुमति प्रदान की गयी। अस्पृश्यों शिक्षा के प्रसार तथा उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भी हरिजन सेवक संघ ने यत्न किया।

ातंत्र भारत की सरकार ने अस्पृश्यता के उन्मूलन का सांविधानिक प्रावधान किया है। संविधान का नुच्छेद 17 किसी भी रूप में अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रतिबंध लगाता है । 1955 ई0 में पास किये गये स्पृश्यता निवारण अधिनियम द्वारा किसी भी व्यक्ति द्वारा निम्न जातियों के विरुद्ध किए गये कार्य के ाए दांडिक कार्यवाही का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक गति के लिए विशेष अवसरों का प्रावधान किया गया है।

1.4 महिला उत्थान

धीजी स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास करते थे। वे एक ऐसे सामाजिक वातावरण में पले थे जहां ी को पुरुष से नीचे स्थान दिया जाता था । उन्हें कुछ लोगों द्वारा दी जाने वाली यह दलील कतई मान्य ीं थी कि भारतीय समाज में स्त्री का स्थान पुरुषों से नीचा है या यह कि स्त्रियां बुद्धि तथा योग्यता में षों से किसी प्रकार कम हैं। वे भली-भाँति जानते थे कि इस भेद-भाव का कोई भी प्रमाण भारतीय र्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। वे इतिहास को साक्षी देकर कहते थे कि प्राचीन रत में जीवन के अनेक क्षेत्रों में पुरुषों से स्त्रियां आगे थीं और सामाजिक जीवन में उन्होंने अपने को र उठाया। गांधीजी को पूर्ण विश्वास था कि स्त्री पुरुष की संगिनी है और उसी के समान मानसिक ताओं से युक्त है। पुरुष की गतिविधियों में भाग लेने और उसके साथ स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता के धिकारों का उपभोग स्त्री का बराबर हक है। गांधीजी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार और जादी देने का पक्ष लिया। उन्होंने नारी को चरित्र की दृष्टि से उच्च माना और उसे प्यार, मूक तपस्या, ा और ज्ञान की मूर्ति बताया। उन्होंने कहा कि अहिंसा के नैतिक शस्त्र का प्रयोग वह पुरुष की क्षा अधिक क्षमता के साथ कर सकती है क्योंकि उसमें प्रेम और बलिदान करने की शक्ति अधिक ी है।

धीजी ने पर्दा प्रथा का विरोध किया। उनका विचार है कि पर्दे से चरित्र की पवित्रता नहीं आंती। चरित्र विकास तो भीतर से होता है गांधी जी ने स्त्रियों को सलाह दी कि वे अपनी स्थिति को ऊपर उठाने का त्न करें । उन्हें पुरूषों की दासी नहीं बने रहना है। उन्हें चाहिए कि वे चरित्र, योग्यता तथा विवेक के व गुणों से अपने को आभूषित करें। गांधी जी के अपने शब्दों में, ''पुरुष का जन्म स्त्री से होता है, का मांस स्त्री के मांस से और हड्डी स्त्री की हड्डी से बनती है । ..... स्त्रियों अपने असली रूप आओ और अपना संदेश दो।'' गांधीजी ने स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता का ही पोषण

नहीं किया बल्कि उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता की भी वकालत की। स्त्रियों के संपूर्ण विकास के लिए व निरन्तर प्रयत्न करते रहे। उनका कहना था "मैं ऐसे माता-पिता के प्रति जो अपनी पुत्रियों को अशिक्षित रखते हैं एवं उनका पालन-पोषण केवल किसी साधन सम्पन्न नौजवान से विवाह कर देने के लिए करते हैं, गलत दृष्टिकोण के लिए दु:ख प्रकट करता हूँ।"

इस प्रकार गांधी जी ने समाज की आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्रियों की उन्नति एवं उन्हें सामाजिक समानता दिलाने के लिए अथक संघर्ष किया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में उनके विचारों का ही परिणाम था कि स्त्रियों ने घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर पुरुषों के समान संघर्ष किया। वास्तव में गांधीजी जिस आदर्शवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे, वह स्त्री, पुरुषों की समानता एवं परस्पर सहयोग पर ही अवलम्बित था।

21.5 विवाह

गांधीजी विवाह को एक पवित्र बंधन मानते थे। उन्होंने विवाह को एक व्यावहारिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि विवाह का उद्देश्य भोग नहीं बल्कि प्रजनन है। यह आत्मानुशासन की व्यवस्था है। यह एक भयानक भूल है कि पति पत्नी को अपनी सम्पत्ति समझे। दोनों के मध्य प्रेम वासना से मुक्त होना चाहिए। गांधीजी ने अन्तर्जातीय और अन्तर्सम्प्रदाय विवाह का समर्थन किया। अस्पृश्यता निवारण के उद्देश्य से उन्होने सवर्ण हिन्दुओं को हरिजन कन्याओं के साथ विवाह की सलाह दी। वेश्यावृत्ति को उन्होंने घोर अभिशाप माना। गांधीजी ने बाल-विवाह का विरोध किया। उनका विचार था कि अपरिपक्व आयु में विवाह के कारण स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इससे बच्चे भी अधिक पैदा होते हैं। भारत में बड़ी संख्या में बाल विधवाओं का प्रमुख कारण बाल-विवाह है । विवाह तभी होना चाहिए जब दोनों विवाह की उपयोगिता एवं उससे उत्पन्न होने वाले दायित्व को पूरी तरह जानें । कम उम्र में विवाह के कारण लड़कियों की शिक्षा नहीं हो पाती है। उन्होंने समाज सुधारकों से अपील की कि वे व्यापक रूप से फैली इस बुराई का विरोध करें।

गांधीजी विधवा पुनर्विवाह के समर्थक थे। उनका कहना था कि वे सभी स्त्रियां जो विधवा हो गयी हैं, को विवाह का अधिकार मिलना चाहिए। उन्हें कठोर एवं एकाकी जीवन जीने को बाध्य करना किसी भी रूप में नैतिक नहीं है। गांधीजी स्वीकार करते थे कि स्वेच्छा से विधवा बने रहना हिन्दू धर्म का एक महान वरदान है किन्तु जबरन वैधव्य अभिशाप है। उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि विधवाओं को बेहिचक पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी चाहिए।

गांधीजी ने दहेज का विरोध करते हुए कहा कि यह मूलत: रूढ़िवादी जाति व्यवस्था से जुड़ा है तथा इसका उन्मूलन, स्त्रियों में पर्याप्त शिक्षा के प्रसार तथा उन्हें अपने पैरों पर खड़ा कर देने से ही हो सकेगा। गांधीजी की दृष्टि में इस प्रथा के कारण बहुत सी लड़कियों को आत्म-नियन्त्रण का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। यह समग्र पद्धति आपसी वैमनस्य तथा समस्याएं पैदा करती है।

21.6 नशाबन्दी

गांधीजी का विचार था कि किसी भी प्रकार के मादक पदार्थ समाज की सुचारू व्यवस्था में बाधा उत्पन्न करते हैं। नशाखोरी से समाज के उस वर्ग को सर्वाधिक हानि पहुँच रही है, जिसके कंधों पर उज्जवल

रत के निर्माण की जिम्मेदारी है। हमारे युवा वर्ग को मादक पदार्थ भारतीय संस्कृति, संस्कार और ल्यों से दिग्भ्रमित कर रहे हैं। मद्यपान को गांधी विषपान की संज्ञा देते थे और इसे मानसिक, शारीरिक ौर नैतिक पतन का कारण मानते थे। उनकी दृष्टि में शराबी और चोर एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है। योंकि जहा चोर केवल धन सम्पत्ति चुराता है, वहां शराबी न केवल अपनी सम्पत्ति को, बल्कि अपनी था पड़ोसी की इज्जत को भी जोखिम में डालता है। उनके अनुसार पूर्ण नशाबन्दी लागू करने के लिए रत की परिस्थितियां सर्वथा उपयुक्त हैं - यहाँ शराब खोरी का न तो फैशन है और न ही इसे म्मानसूचक समझा जाता है। उनका कहना था कि जो राष्ट्र मदिरा पान की आदत से ग्रस्त हो उसका र्नाश निश्चित है।

तंत्रता संग्राम के दौरान उन्होंने मादक पदार्थों के सेवन का विरोध करने के लिए एक कार्यक्रम मद्य एवं ड़ी की दुकानों पर धरने को भी बनाया था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान स्त्रियों ने इस क्षेत्र में क्रेय भूमिका निभायी थी। स्वयं सरकार ने भी गांधीजी को एक धरने की अनुमति प्रदान कर दी थी।

1.7 शिक्षा

ीजी का विश्वास था कि भारतवासियों की बहुत सी सामाजिक समस्याओं का समाधान उत्तम शिक्षा-ति से हो सकता है। ऐसी पद्धति जो भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हो। उनके अनुसार हम जिन ामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं वे एक आदर्श शिक्षा व्यवस्था ! ही संभव है।

ीजी का विचार है कि शिक्षा आत्मसाक्षात्कार या अपने को पहचानने की कला है। अगर शिक्षा दोषपूर्ण ा सिर्फ आर्थिक स्वार्थों को समझने वाली है तो देश में आदर्श व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती। ीजी के शिक्षा दर्शन की यह मूल अवधारणा है।

ीजी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के विरोध में दिए, जो जबरन भारत पर दी गयी थी। अंग्रेजों को केवल ऐसे शिक्षितों की आवश्यकता थी जो उनकी शासन व्यवस्था में रात्मक योगदान कर सकें। वे नहीं चाहते थे कि भारत के लोग सही अर्थ में शिक्षित हो जायं और ों के खिलाफ आवाज उठाने लगें। इसलिए उन्होंने अपनी शिक्षा पद्धति को ज्ञानपरक नहीं वरन् विदेशी ापरक बना दिया। अंग्रेजी शिक्षा में भारतीयकरण का अभाव था। भारतीय आत्मा शून्य थी।

ा का अर्थ केवल साक्षरता ही नहीं है बल्कि शिक्षा तो व्यक्ति की आत्मा, बुद्धि और शरीर का ास करती है, उसके चरित्र का निर्माण करती है। इस दृष्टि से गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की योजना त की जो एक क्रान्तिकारी योजना है। भारत की सामाजिक - आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति यादी शिक्षा द्वारा ही पूरी की जा सकती है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना भी है। बुनियादी शिक्षा के अपने सिद्धान्त को गांधीजी ने वर्धा में त किया इसलिए इसे "वर्धा स्कीम आफ एजूकेशन" भी कहा जाता है।

जी की बुनियादी शिक्षा (Basic education) की प्रमुख बातें निम्नांकित हैं—

7 से 14 वर्ष तक की उम्र तक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए और नि:शुल्क भी। अनिवार्य नए क्योंकि बिना बुनियाद बनाये मकान खड़ा नहीं किया जा सकता और नि:शुल्क इसलिए क्योंकि के 80 प्रतिशत परिवार शिक्षा का खर्च नहीं उठा सकते हैं।

शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो, विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं, ऐसा इसलिए आवश्यक है कि

शिक्षा का मूल उद्देश्य रटना नहीं बल्कि समझना है और गहराई से समझना अपनी मातृभाषा में ही सम्भव है। इसमें भाषा सम्बन्धी व्यवधान नहीं होना चाहिए।

(3) शिक्षा के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को कोई न कोई दस्तकारी (हस्तशिल्प) का काम सीखना चाहिए जिससे कि वह भविष्य में स्वावलम्बी बन सके। इससे वह शिक्षा के साथ उपार्जन भी करेगा ताकि अपना खर्च स्वयं वहन कर सके।

(4) शिक्षा जीवन के यथार्थ से जुड़ी हो और दूसरों पर निर्भर रहने की आदत से छुटकारा दे।

(5) शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य है अच्छे नागरिक पैदा करना । अच्छे नागरिकों से ही अच्छा देश बनता है और अच्छे नागरिक बनाने में अच्छी शिक्षा की प्रमुख भूमिका है।

(6) शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको समान रूप से है। स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ही शिक्षा की जरूरत है।

जब गांधीजी ने उच्च शिक्षा की बात की तब भी उनके बुनियादी सिद्धान्त वही रहे। इतना उन्होंने और जोड़ दिया कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य देश की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।

गांधीजी का यह स्पष्ट विचार था कि विद्यार्थियों को भारत जैसे एक विकासशील देश में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका समझनी चाहिए एवं उसका निर्वाह करना चाहिए किन्तु साथ ही साथ वे उनको सक्रिय राजनीति में भाग लेने से भी रोकते हैं, क्योंकि वे अपनी अपरिपक्वता के कारण कुछ स्वार्थी तत्वों के हाथों में उपकरण मात्र बनकर रह जाएंगे।

वर्तमान समय में गांधी जी की शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा अत्यन्त प्रासंगिक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि बुनियादी शिक्षा का स्वरूप छात्र केन्द्रित है जो आपस में प्रतिस्पर्धा की भावना को जन्म न देकर आपसी सहयोग को बढ़ावा देती है। व्यावसायिक शिक्षा न केवल आत्मनिर्भर बनाने में युवा वर्ग को सहयोग करेगी, अपितु वर्तमान समय में व्याप्त भीषण बेरोजगारी जैसी समस्या का निराकरण भी इसके माध्यम से हो जायेगा। उच्च नैतिक भावना परक शिक्षा से न केवल समाज में गलाकाट प्रतियोगिता का ही अन्त होगा अपितु विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक बुराइयाँ यथा भ्रष्टाचार, अपराधीकरण, नशा खोरी आदि का भी शनैः शनैः उन्मूलन हो जायेगा।

21.8 सारांश

गांधीजी का सामाजिक चिन्तन भारतीय सामाजिक समस्याओं का एक सरल एवं व्यावहारिक हल प्रस्तुत करता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में तीव्र गति से बढ़ती असमानता की खाई ने उनके सर्वोदय के विचार को एक बार पुनः प्रासंगिक बना दिया है। महिलाओं की स्थिति में सुधार के उनके प्रयत्न सराहनीय है। उनके ही प्रयत्नों से बड़ी संख्या में महिलाओं ने असहयोग, सविनय अवज्ञा और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया तथा देश में व्याप्त सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। बुनियादी शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धी उनके विचार बढ़ती बेरोजगारी एवं मूल्यहीनता का सुन्दर इलाज है। अस्पृश्यता और नशाबंदी जैसी सामाजिक समस्याओं को गांधीजी ने अभिशाप माना तथा उनके निवारण के लिए ठोस प्रयत्न किया। उन्होंने विवाह को एक व्यावहारिक आवश्यकता माना तथा बाल विवाह व दहेज प्रथा का विरोध किया।

21.9 उपयोगी पुस्तकें

1.	आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन	डा. अमरेश्वर अवस्थी डा. रामकुमार अवस्थी
2.	सत्य के प्रयोग	महात्मा गांधी जी
3.	सर्वोदय	महात्मा गांधी जी
4.	भारत का स्वतंत्रता संघर्ष	प्रो. विपिन चन्द्र
5.	गांधी, नेहरू, टैगोर और अम्बेडकर	डा. एम.सी. जोशी

21.10 बोध प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न —

1. गांधीजी के अस्पृश्यता संबंधी विचारों का संक्षेप में वर्णन करें।
2. महिला उत्थान संबंधी गांधी.के चिन्तन पर प्रकाश डालिए।
3. विवाह संबंधी गांधी के विचारों को स्पष्ट करें।
4. गांधी जी के नशाबन्दी पर क्या विचार थे?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न —

1. गांधी जी की सर्वोदय की विचारधारा का विस्तृत रूप में वर्णन करें।
2. गांधीजी की सामाजिक विचारधारा पर प्रकाश डालिये।
3. गांधी को शिक्षा संबंधी अवधारणा की विस्तृत विवेचना करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न —

1. Unto this last किसकी पुस्तक है—

(अ) रस्किन (ब) गांधी (स) मिल (द) मार्क्स

2. अछूतों को 'हरिजन' कहा है —

(अ) अम्बेडकर ने (ब) ज्योतिबा फुले ने (स) रैदास ने (द) गाँधी जी ने

3. बुनियादी शिक्षा व्यवस्था की अवधारणा को जन्म दिया —

(अ) जवाहरलाल नेहरू (ब) आचार्य नरेन्द्र देव (स) गांधी जी (द) जय प्रकाश नारायण

4. अस्पृश्यता निवारण अधिनियम किस सन् में पारित हुआ —

(अ) 1950 (ब) 1952 (स) 1955 (द) 1960

21.11 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर 1. (अ) 2. (द) 3. (स) 4. (स)

इकाई 22 गांधी के आर्थिक विचार

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 संरक्षता सिद्धान्त (ट्रस्टीशिप)

22.3 औद्योगीकरण

22.4 कुटीर उद्योग

22.5 नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और गाँधी

22.6 सारांश

22.7 उपयोगी पुस्तकें

22.8 बोध प्रश्न

22.9 प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी जी के संरक्षता सिद्धान्त का उल्लेख कर सकेंगे।
- उनके औद्योगिकरण व कुटीर उद्योग की विवेचना कर सकेंगे।
- नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और गाँधी जी के आर्थिक विचारों की तुलना कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

गांधीजी वैज्ञानिक अर्थ में अर्थशास्त्री नहीं थे, इसलिए उनके आर्थिक विचार किसी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इसके बावजूद गांधी ने अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। गांधीजी का आर्थिक चिन्तन अर्थशास्त्र को आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाला था। उनके चिन्तन का लक्ष्य अन्यायपूर्ण असमानता को समाप्त कर शोषण रहित समाज की स्थापना करना था। इसके लिए उन्होंने ऐसी आर्थिक व्यवस्था का समर्थन किया, जो विलासिता और दिखावे का त्याग कर मनुष्य को सरल, शान्त और अहिंसक जीवन जीने के लिए प्रवृत्त करे।

22.2 संरक्षता सिद्धान्त (ट्रस्टीशिप)

संरक्षता का सिद्धान्त, गांधीजी के आर्थिक चिन्तन में महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, यह वर्तमान आर्थिक विषमतो के दुष्परिणामों को दूर करने का अहिंसक तरीका है। गांधीजी व्यक्तिगत सम्पति का अन्त चाहते थे, लेकिन व्यक्ति को अपनी सम्पति से वंचित करने के लिए वे मार्क्सवादी क्रान्ति के पक्षपाती नहीं थे। सत्य और अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन उनका प्रमुख अस्त्र था। उन्होंने कहा कि यदि किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार

में भारी सम्पत्ति मिली है अथवा किसी ने व्यापार-उद्योग से भारी मात्रा में धन एकत्र किया है तो यह सम्पूर्ण सम्पति वास्तव में उस व्यक्ति की न होकर सारे समाज की है। अत: यह उचित होगा कि जिस व्यक्ति ने सम्पत्ति का संचय किया है वह स्वयं को सम्पति का स्वामी न समझकर ट्रस्टी समझे। सम्पति उसके पास रहे, वह अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए उसमें से वाजिब खर्च करे और अतिरिक्त सम्पति को समाज की धरोहर समझे जिसका उपयोग समाज के लिए ही होना है। सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक सम्पति पर ही व्यक्ति अपना अधिकार समझे और धन का शेष भाग सम्पूर्ण राष्ट्र का मानते हुए सभी के कल्याण पर खर्च करने को हृदय से तत्पर रहे।

स सिद्धान्त में दो बातें निहित हैं— (1) अपेक्षा से अधिक धन पूंजीपति के पास एक न्यास के रूप में हेगा। (2) अपेक्षा से अधिक धन का प्रयोग समाज कल्याण के लिए होगा।

ांधीजी का मत है कि जो धनिक ऐसा नहीं करेगें, उसके विरुद्ध हिंसा नहीं वरन् अहिंसात्मक असहयोग वं सत्याग्रह चलाया जायेगा। फिर भी सफलता न मिले तो सरकार उसके उद्योग को अपने हाथ में लेकर नहित में इसका उपयोग करेगी। इस प्रकार गांधीजी अहिंसात्मक साधनों से सामाजिक न्याय स्थापित रना चाहते थे।

धीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में न तो पूँजीवादी व्यवस्था की विसंगतियां है और न ही साम्यवादी वस्था के दोष हैं। इसमें न तो निजी उद्यम द्वारा उत्पन्न असमानताएं और शोषण की स्थिति पैदा होती और न ही सार्वजनिक उद्यम की हिंसा और स्वतंत्रता के हनन की सम्भावना। इसमें वर्ग संघर्ष की म्भावना भी कम होगी। सहकारी संस्थाओं के माध्यम से इसमें श्रम और पूँजी के सम्बन्ध में तालमेल ाया जायेगा।

धीजी के ट्रस्टीशिप का यह सिद्धान्त मार्क्सवाद के निकट प्रतीत होता है, किन्तु गांधी और मार्क्स में दो ब्य भिन्नताएं हैं। एक तो यह कि मार्क्स वर्ग-संघर्ष का समर्थन करते थे। गांधी वर्ग-संघर्ष की इजाजत ीं देते। संघर्ष के स्थान पर वे प्रेम के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। ट्रस्टी को स्वयं यह मानकर चलना ा कि अपनी सम्पति का वह स्वामी नहीं, संरक्षक मात्र है और जब आवश्यकता हो इसका वितरण वह ाज के हित के लिए स्वेच्छा से कर दे। मार्क्स और गाँधी में दूसरा अंतर यह है कि मार्क्स व्यक्तिगत पति के अधिकार को पूर्णतया नकार देते हैं और लाभ के सिद्धान्त को असमानता का मूल कारण मानते गांधी व्यक्तिगत सम्पत्ति के खिलाफ नहीं है—वे तो सिर्फ यह मानते हैं कि व्यक्तिगत सम्पति का अर्थ ण करने वाला स्वामित्व नहीं है। मार्क्स की तरह गांधीजी पूंजीपतियों का सफाया का नहीं चाहते थे ् उनके व मजदूरों के सम्बन्धों में परिवर्तन लाना चाहते थे। वे स्वामियों का सफाया करके समाज को की योग्यताओं से वंचित नहीं करना चाहते थे, उन्हें अतिरिक्त धन का ट्रस्टी बनाना चाहते थे। वे कहते के प्रतिभावान की बुद्धि को कुण्ठित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसे व्यक्ति की आय बड़े भाग को राज्य के हित में उसी तरह प्रयोग में लिया जाना चाहिए जिस तरह संयुक्त परिवार में पिता ने कमाने वाले पुत्रों की आय का उपयोग करता है। पुत्र केवल न्यास के रूप में ही अपनी आमदनी अपने पास रख सकते हैं।

ोजी ट्रस्टीशिप की योजना को एक वृहद् क्रान्ति कहते थे। वे कहते थे कि एक पूंजीपति की सम्पति जब्त कर उसे जनता में वितरित करना स्वयं में असाधारण क्रान्ति है, परन्तु ट्रस्टीशिप की योजना तो ी भी वृहद क्रान्ति है क्योंकि ट्रस्टीशिप में जनता पूंजीपति की न केवल सम्पत्ति का उपयोग करती है क उसकी योग्यता, जानकारी और अनुभव का भी प्रयोग करती है।

ोजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में "दोहरे स्वामित्व" की बात निहित है जिसे उन्होंने "वैध" और तेक" स्वामित्व की संज्ञा दी है। वैध रूप में, सम्पत्ति या भूमि पर पूंजीप गैर जमींदार का स्वामित्व

होगा, परन्तु नैतिक रूप से उस पर समाज का स्वामित्व होगा। इस प्रकार सारी सम्पति पर, जिसे गांधीजी समाज की उत्पत्ति मानते हैं, धनिकों और श्रमिकों अथवा जमींदारों और कृषकों का स्वामित्व रहेगा। वे पूंजीपतियों और जमींदारों से कहा करते थे कि ''आप अपने धन का उपयोग उसे त्याग कर करें।''

गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त तभी सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सकता है जब व्यक्ति का नैतिक विकास अति उच्च स्तर पर हो। यदि पूँजीपति इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करें तो निश्चय ही व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण बंद हो जायेगा। यदि राष्ट्र इस सिद्धान्त की भावना को अपनाए तो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के कारण कम हो जायेंगे। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त पूर्णत: अहिंसात्मक है जिसमें अमीरों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि जो धन उनके पास है वह जनता के श्रम का फल है, केवल उन्हीं के प्रयासों का फल नहीं यह एक सामाजिक उत्पत्ति है अत: व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए समाज के लिए इसका उपयोग करना हर दृष्टि से उचित है।

22.3 औद्योगीकरण

गाँधीजी बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के कट्टर विरोधी थे। उनका विश्वास था कि बड़े पैमाने के उत्पादन से ही विभिन्न सामाजिक और आर्थिक दोष उत्पन्न हुए हैं। बड़े उद्योगों को चलाने के लिए बड़ी मात्रा में धन, कच्चे माल एवं बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है। कच्चे माल और बड़े बाजारों की खोज साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है जो नैतिकता के विरुद्ध है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में बड़े कारखानों की स्थापना से बेकारी और गरीबी को प्रोत्साहन मिलेगा। औद्योगीकरण में मानव श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं। भारत जैसे देश में पहले से ही काम और साधन कम हैं और जनशक्ति अधिक है अत: मशीनों का प्रयोग उचित नहीं है। बड़े-बड़े उद्योगों से होने वाला उत्पादन गरीब कारीगरों को नुकसान पहुंचाता है। श्रमिकों और मालिकों में अनावश्यक विवाद एवं संघर्ष पैदा करता है तथा समाज में अशान्ति फैलाता है। यह हिंसा के लिए उत्तरदायी है, समाज में गलाकाट आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देता है। गांधी जी यन्त्रीकरण को 'पाप का प्रतिनिधि' मानते हैं। यन्त्र की तुलना गांधीजी ने उस साधन से की है जो मानव के पशु श्रम का पूरक या उसकी कुशलता बढ़ाने वाला नहीं वरन् उसका ही स्थान प्राप्त करने वाला है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उनका यही विश्वास रहा कि आदर्श समाज में बड़े यन्त्र नहीं होने चाहिए। गांधीजी ने इसीलिए विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का पक्ष लिया अर्थात् एक ऐसी अर्थव्यवस्था को उत्तम समझा जिसमें श्रमिक स्वयं अपना स्वामी हो। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में श्रमिकों के शोषण और हिंसा के कोई अवसर नहीं होंगे।

गांधी जी के उपरोक्त विचार का यह अभिप्राय नहीं है कि वे मशीनों एवं मशीनों द्वारा संचालित उद्योगों के सर्वथा विरोधी थे। औद्योगीकरण के विरुद्ध होते हुए भी गांधीजी उस सीमा तक मशीनों के प्रयोग की अनुमति देते थे जहाँ तक वे सारे समाज के हित में काम आती हैं। उदाहरण के लिए-पम्पिंग सेट, रेल, जहाज, ट्रक, चर्खा आदि के वे समर्थक थे, किन्तु मानव का शोषण एवं विनाश करने वाली मशीनों एवं यन्त्रों के विरोधी थे। जैसे-जैसे जीवन का अनुभव बढ़ता गया, गांधीजी यन्त्रों से समझौता करते गये। उन्होंने कहा, ''मैं मिल उद्योग का विकास चाहता हूँ परन्तु मैं इसका विकास देश की कीमत पर नहीं चाहता'' वे व्यक्ति को यन्त्रों का दास नहीं बनाना चाहते थे। साथ ही यन्त्रों का पूर्ण उन्मूलन नहीं चाहते। वे उन्हें केवल सीमित करना चाहते हैं। गांधीजी उन बड़े उद्योगों को रखने के भी पक्ष में हैं जो सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं, किन्तु उन पर वे व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व चाहते हैं ताकि उनमें उत्पादन लाभ के लिए नहीं वरन् प्रेम व सार्वजनिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किया जाय। गांधीजी के शब्दों में, मैं इतना समाजवादी अवश्य हूँ कि इन कारखानों के सार्वजनिक नियन्त्रण या राष्ट्रीयकरण का पक्षधर हूँ। सार्वजनिक उपयोगिता वाले यन्त्र सार्वजनिक नियंत्रण में होने

ाहिए। गांधीजी की पूर्ण आर्थिक विचारधारा में सर्वोत्तम मानव है। एक आदर्श स्थिति को छोड़े बिना ांधीजी ने यन्त्रों की आवश्यकता को उसी प्रकार स्वीकार किया जिस प्रकार आत्मा की मुक्ति के लिए रीर की आवश्यकता को।

ग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों के औद्योगीकरण के इतिहास के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष दिया कि ौद्योगिक व्यवस्था के दुर्गुणों से बचने का उपाय आर्थिक विकेन्द्रीकरण है। उद्योगों के क्षेत्र में गांधीजी ामोद्योग और छोटे उद्योगों को प्राथमिकता इसलिए देते हैं कि भारत जैसी बड़ी आवादी वाले वकासशील देशों में छोटे उद्योगों से न केवल पूर्ण रोजगार की व्यवस्था होती है, बल्कि काम करने वालों ो अधिक आत्म-सन्तोष प्राप्त होता है। साथ ही ऐसे उद्योगों द्वारा विदेशों से महँगी और पेचीदा मशीनें ंगाने का व्यय बचता है और देश की आत्मनिर्भरता में वृद्धि होती है। छोटे-उद्योगों द्वारा वर्तमान युग के ो और बड़े खतरों को बहुत कुछ घटाया या टाला जा सकता है। ये खतरे हैं-व्यापक औद्योगिक प्रदूषण ौर परमाणु अस्त्रों द्वारा सर्वनाश की संभावनाएं।

ांधीजी लघु व कुटीर उद्योग के विकास के द्वारा एक आत्मनिर्भर गांव की कल्पना करते थे। गांधीजी का चार था कि यदि एक गांव अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं स्थानीय कुटीर व्यवसाय से प्राप्त र सके तो वह गांव आत्मनिर्भर होगा। इससे पूरा का पूरा राष्ट्र आत्मनिर्भर बन सकेगा और राष्ट्रीय जीवन आर्थिक विषमता नहीं होगी। वे खादी को भारत की राजनीति एवं आर्थिक समस्याओं के हल का ामोघ अस्त्र मानते थे। आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने स्वेदशी वस्तुओं के उपभोग पर जोर दिया।

12.4 कुटीर उद्योग

ांधी जी भारत की विशाल बेरोजगारी और भयावह गरीबी की समस्या से परिचित थे। उनका मानना था क सदियों के शोषण के कारण भारत में ऐसी स्थिति आयी है। साथ ही यन्त्रीकरण से यह समस्या और ढ़ेगी। बेरोजगार लोगों की विशाल जनसंख्या को काम दिलाना भी इन्हें उतना ही आवश्यक लगा जितना वराज्य प्राप्त करना। दोनों को एक दूसरे का पूरक मानकर उन्होंने स्वराज्य की समस्या को रचनात्मक ार्य से जोड़ दिया। वे रचनात्मक कार्य को स्वराज्य का प्रतीक मानते थे।

ुटीर उद्योगों से गांधीजी का अभिप्राय था- ग्रामोद्योग। उनके मतानुसार दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं ाँव में ही तैयार करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके ग्राम आत्मनिर्भर बने और नगरों पर कम से कम ाश्रित हों। भारतीय ग्रामों की दरिद्रता का उन्मूलन करने, नगर और ग्राम की आय में विषमता को दूर रने और स्वदेशी उद्योगों के संरक्षण तथा विकास के लिए उन्होंने ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। वर्तमान व्यापारिक एवं नागरिक सभ्यता के स्थान पर वे एक नवीन विकेन्द्रीकृत ग्रामीण सभ्यता का र्माण करना चाहते थे, ताकि थोड़े से नगर असंख्य गांवों का शोषण न कर सकें और प्रत्येक गाँव एक वावलम्बी इकाई बन जाय। गांधीजी का कहना था: ''यदि मेरा स्वप्न पूरा हो जाय तो भारत के सात ाख गांवों में से हरेक गाँव समृद्ध प्रजातंत्र बन जाएगा। उस प्रजातंत्र का कोई भी व्यक्ति अनपढ़ न रहेगा, ाम के अभाव में कोई बेकार नहीं रहेगा, बल्कि किसी-न-किसी कमाऊ धन्धे में लगा होगा।''

ाचीन और मध्य काल में कुटीर और लघु उद्योग काफी विकसित थे। गाँव काफी हदतक आत्मनिर्भर थे। अपनी-अपनी आवश्यकताओं को अपने उत्पादन द्वारा पूरा करने के बाद बाहर निर्यात करते थे। प्रसिद्ध पन्यास राबिन्सन क्रूसो के लेखक डेनियल डिफो की शिकायत थी कि कि ''भारतीय वस्त्र हमारे घरों, मारे कक्षों तथा हमारे शयनागारों में भी प्रवेश कर चुके हैं। पर्दे, गद्दे, कुर्सियां और अंत में हमारे बिस्तर ी मलमल या भारतीय वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं हैं''। इस संबंध में विनोबा भावे ने एक स्थान पर हा है—''पहले अन्य अनेक राज्य हुए तो भी देहात का यह असली स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था,

इसलिए गांव धन-धान्य से पूर्ण थे। परन्तु अंग्रेजी राज्य में यह खादी का स्वराज्य, देहाती उद्योग-धन्धों का स्वराज्य नष्ट हो गया। इसीलिए देहात नीरस और डरावने दिखायी देने लगे।''

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए गांधीजी ने विभिन्न स्वदेशी उद्योगों के विकास पर बल दिया गया। वे परिवर्तित समयानुकूल साधनों के आधार पर पुराने उद्योगों का पुनरुत्थान और प्रचार चाहते थे। वे गाँवों के प्राचीनकाल के कृषि, कताई, बुनाई, लुहारी, बढ़ईगिरी आदि और नए युग के कागज बनाना, मधुमक्खियाँ और रेशम के कीड़े पालना, चमड़ा पकाना, खिलौना बनाना आदि धन्धों का यथासम्भव अधिकाधिक प्रसार करने के पक्षपाती थे। इनमें से भी कताई और बुनाई पर वे अत्याधिक बल देते थे। वस्तुत: ग्रामोद्योग के मण्डल में खादी का उद्योग सूर्यवत है। उस पर जो व्यय किया जाता है, वह कपास उठाने वालों, धुनने वालों, जुलाहों, रंगने वालों तथा धोबियों इत्यादि में बँट जाता है। इस प्रकार धन के समान वितरण का यह एक उत्तम साधन है। इस उद्योग की एक विशेषता यह है कि इससे ग्रामीणों को रिक्त समय में रोजगार मिल जाता है। साथ ही, यह सर्वोपयोगी उद्योग है। कोई भी व्यक्ति कहीं भी चर्खा चला सकता है और खादी के उत्पादन में सहयोग दे सकता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् आर्थिक अत्मनिर्भरता प्राप्त करने के प्रयत्न द्रुतगति से किये गये जिससे कि राजनीतिक स्वतंत्रता को न केवल सुदृढ़ किया जाय अपितु भारत शीघ्र ही अपनी मूलभूत समस्याओं पर विजय प्राप्त कर सके। किन्तु आर्थिक आत्मनिर्भरता के मार्ग के विषय में महात्मागांधी एवं पं० नेहरू में मौलिक मतभेद थे जो कि उनकी पृष्ठभूमि के कारण थे। नेहरू जी का विचार था कि बड़े-बड़े आधुनिक उद्योगों की स्थापना तथा विज्ञान एवं तकनीक के प्रयोग द्वारा भारत की मूलभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। गांधीजी भारत की समस्याओं का भारतीय संस्कृति के अनुकूल समाधान चाहते थे किन्तु 1948 ई० में उनकी मृत्यु ने उन्हें इसके लिए पर्याप्त अवसर नहीं दिया। जबकि पं नेहरू ने हृदय से गांधीवादी होते हुए भी अपने वैचारिक एवं तार्किक आधार पर आर्थिक ढांचा खड़ा करने का प्रयत्न किया। वर्तमान समय तक व्यापक रूप से खड़ी मूलभूत समस्याएं स्पष्ट रूप से नेहरू के आर्थिक ढांचे की असफलताओं को घोषित करती हैं।

भारत में बेकारी की समस्या विकट और गम्भीर हो गई है । संगठित उद्योग क्षेत्र में लोगों के लिए रोजगार के अवसर बहुत कम हैं। वास्तव में नेहरूकालीन आधिकांश उद्योग उनमें निहित खामियों के कारण या तो बंद हो गये हैं या बंद हो रहे हैं। करोड़ो-अरबों की लागत से तैयार बड़े मिल - कारखाने कौड़ियों के दाम में बेचे जा रहे हें। ऐसे में गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था की प्रासंगिकता पुन: बढ़ गई है। लगभग सभी अर्थशास्त्री, सांख्यशास्त्री, आर्थिक संयोजक, समाजशास्त्री और राजनीतिज्ञ स्वीकार करते हैं कि लघु उद्योगों के रूप में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त भारत जैसे ग्राम-प्रधान राष्ट्र के लिए कोई विकल्प नहीं है । सरकारी आंकड़े प्रत्यक्ष दर्शाते हैं कि बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे-छोटे उद्योगों में रोजगार अधिक उपलब्ध होते हैं। अत: करोड़ों मूक लोगों की सहायता करने का कुटीर उद्योग ही एक मात्र मार्ग है। इसी से लोगों की सृजन-शक्ति और कला-कारीगरी के विकास का द्वार खुल सकता है। देश में जो करोड़ों युवक बेकार बैठे है, उन्हें इससे अनेक उपयोगी व्यवसाय मिल सकते हैं। आज हमारी जो जन-शक्ति व्यर्थ ही बरबाद हो रही है, उसका इस काम में उपयोग हो सकता है।

अब लोग इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि आर्थिक विकास ने उसी समय गलत दिशा पकड़ ली, जब नीति-नियंताओं ने गांधी जी के विचारों की उपेक्षा कर पश्चिमी ढंग से देश के औद्योगीकरण का निर्णय लिया । देश में कृषि की महत्ता और पूँजी के अभाव को ध्यान में रखकर ही गांधीजी ने कुटीर और कृषि उद्योगों के माध्यम से आर्थिक विकास पर बल दिया था। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् रूसी-अमेरिकी पद्धतियों की चकाचौंध में गांधीजी रूढ़िवादी और प्रतिगामी लगने लगे और प्रगति का अर्थ हो गया पश्चिम का अन्धानुकरण। आर्थिक-विकास की नयी पश्चिम प्रेरित विचारधारा के केन्द्र में मानव न रहकर

उसके स्थान पर आ गये उत्पादन के आंकड़े। आर्थिक आयोजना का सबसे बड़ी प्रेरणा भारी मशीनों द्वारा शीघ्रातिशीघ्र पश्चिम के बराबर आने की होड़ बन गयी।

संसार के अनेक देश विशेषकर चीन, वियतनाम और तंजानिया ने-गांधीवादी ढंग से आयोजन का पूरा लाभ उठाया। उन्होंने शेष संसार को यह सफलतापूर्वक दिखा दिया कि कृषि-प्रधान देश के लिए विशेषत: विकास की आरंभिक अवस्था में, गांधीवादी आयोजन बुनियादी रूप में सही है। सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो० गुन्नार मिरडल और शूमेकर ने भी मानवीय पूँजी को विकसित और समृद्ध बनाने पर बल दिया है। प्रो० गालब्रेथ ने भी इसी विचार को बार-बार दुहराया है। प्रो० अक्सले ने लोकतंत्र की सफलता और मानव की गौरव-गरिमा के लिए भी आर्थिक विकेन्द्रीकरण को आवश्यक माना है।

वस्तुत: शोषण-विहीन समाज की स्थापना के लिए विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था अनिवार्य है। अस्सी प्रतिशत भारत गांवों में बसा हुआ है। इसलिए भारत में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था ग्राम-प्रधान ही हो सकती है। भारत की जनसंख्या खेत-खलिहान, गाँवों में रहती है। अतएव गांधीजी चाहते थे कि उनके जीवनयापन हेतु अन्न -वस्त्र आदि की आवश्यकताएं वहीं आस-पास सुलभ हो जाएं, जिससे वे आत्मनिर्भर हो सकें।

मूलभूत प्रश्न यह है कि लघु व कुटीर उद्योग को किस प्रकार विकसित किया जाय क्योंकि बड़े उद्योगों की तुलना में इनमें उत्पादन लागत अधिक आती है साथ ही उत्पादन के लिए बाजार भी सामान्यतया सुलभ नहीं होता है। ऐसी स्थिति में ये उद्योग बन्द हो जाते हैं। गांधीजी की कुटीर उद्योग-प्रधान अर्थव्यवस्था के स्वप्न को व्यावहारिक स्वरूप देने के विषय में राम मनोहर लोहिया ने छोटी मशीन की उत्पादन प्रणाली का सुझाव दिया था। स्वीटजरलैण्ड का इस दिशा में उदाहरण अनुकरणीय है। अर्थशास्त्री प्रो० ए० शूमेकर ने भी मध्यम तकनीक के विकास में क्रियात्मक योगदान दिया है। इन अनुभवों का लाभ उठाकर हम अपने कुटीर और लघु उद्योगों को संगठित कर सकते हैं। अपने देश की बड़ी जनसंख्या और बढ़ी बेरोजगारी के लिए छोटे-छोटे उद्योग धन्धे ही कारगर हो सकते हैं, जिससे आय और सम्पत्ति का समान वितरण हो और जनता खुशहाल हो सके। समय की मांग है कि इन उद्योगों के नन्हें क्षेत्र को सशक्त करने के निमित्त नीति सम्बन्धी समर्थन आवश्यक तौर पर दिया जाए, ताकि नगरों की ओर ग्रामीण जनता के प्रवाह को रोका जा सके।

2.5 नयी अंतराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और गांधी

विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता के पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने देश की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के आधार पर क्रियान्वित किया जाता था परन्तु सदस्यता ग्रहण करने के बाद यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नियमों के अनुरूप संचालित हो रही है। अनेक बहुराष्ट्रीय निगम जो पहले भारत की आर्थिक स्थिति के कारण यहाँ से चले गये थे, वे भारत आ रहे हैं। उनका विशुद्ध उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना है। विदेशी कम्पनियां अपेक्षाकृत कम कीमत अदाकर भारतीय बाजार पर कब्जा जमा रही हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से नवीनतम प्रौद्योगिकी, प्रबन्ध कौशल, निर्यात वृद्धि आदि का जो आकलन किया गया था, वे खरे नहीं उतरे हैं बल्कि इससे कई क्षेत्रों में स्वदेशी उद्योग नष्ट हो गए हैं और उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में विदेशी कम्पनियों ने बिना ज्यादा निवेश के ही बाजार पर संपूर्ण कब्जा कर लिया है।

भारत सरकार यह दावा कर रही है कि विश्व आर्थिक संगठन में सम्मिलित होने का बाद देश को महत्वपूर्ण लाभ होने की संभावना है किन्तु अभी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक नहीं है। डंकल का अन्तिम कानून एक बड़ा प्रलेख है और इसके अन्दर बहुत सी ग्रंथिया विद्यमान हैं और इस कानून का झुकाव तो निश्चय ही विकसित देशों की ओर है। विश्व आर्थिक व्यवस्था में और भी ढेर सारी विसंगतियाँ है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या इससे हम गरीबी, बेरोजगारी, स्वास्थ्य, शिक्षा जैसी मूलभूत समस्याओं को हल

कर पायेंगे। उदारीकरण के बाद जो आकड़े सामने आये हैं उससे साफ तौर पर स्पष्ट होता है कि रोजगार वृद्धि दर घट गयी है। गरीबी रेखा कमोवेश यथावत है। महँगाई बढ़ी है। कुटीर व लघु उद्योग भारी संख्या में बन्द हो गये हैं। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से बहुसंख्यक जनता के विकास की आकांक्षाएं धूल-धूसरित हो गयी हैं। ऐसे में गाँधी जी की आर्थिक नीति एक बार फिर पुनर्जीवित हो गयी है। नयी वैश्विक अर्थव्यवस्था ऊपर से नीचे के विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। नेहरू ने भी ऊपर से नीचे के विकास का स्वप्न देखा था जबकि गांधीवादी आर्थिक माडल नीचे से ऊपर की तरफ विकास की अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

गांधीजी के पास ऐसी अंर्तदृष्टि थी कि वे 1909 में ही आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामों को भांप गये थे। उन्होंने विकेन्द्रीकरण तथा मनुष्य की आवश्यकताओं को सीमित रखने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसके लिए उन्होंने गांवों को उपभोग और उत्पादन की मुख्य इकाई बनाने का सुझाव दिया। उनका कहना था कि उत्पादन आवश्यकताओं पर आधारित हो तथा गाँवों में ही उपलब्ध या बनाये जाने वाले कच्चे माल का प्रयोग किया जाय। इससे भारत की अधिकांश समस्याएं स्वत: हल हो जाएंगी। परन्तु औद्योगिक प्रणाली की चमक-दमक से विकासशील देश पश्चिम के बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले आधुनिक औद्योगिक-उपभोक्ता मॉडल को स्वीकार करने में लगे हैं। यहाँ यह कहना निरर्थक न होगा कि इससे न तो उनकी बुनियादी जरूरतें पूरी करने और पूर्ण रोजगार का लक्ष्य हासिल करने जैसी प्रमुख आवश्यकताएं पूरी होगी और न ही उन्हें नव उपनिवेशवादी शोषण का सिलसिला बंद करने में मदद मिलेगी। ऐसे में अब समय आ गया है कि वे उपयुक्त विकल्प के रूप में गांधीवादी माडल अपनाने के बारे में विचार करे क्योंकि वह निर्विवाद रूप से तीसरी दुनिया का अपना माडल है।

22.6 सारांश

गांधीजी ने अपने आर्थिक विचारों को नैतिक व व्यावहारिक रूप दिया । उनका ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त नैतिकता पर आधारित है जबकि औद्योगीकरण और कुटीर उद्योग सम्बन्धी विचार भारत की समस्याओं के व्यावहारिक हल के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: वे यन्त्रीकरण का पूर्णरूपेण विरोध नहीं करते थे। उनका तात्पर्य यही था कि विशाल जनसंख्या की रोजगार की पूर्णता लघु-कुटीर उद्योगों के द्वारा हो सकती है। साथ ही अनावश्यक संघर्ष व प्रतिस्पर्धा से बचा जा सकता है। गांवों को उत्पादन व उपभोग की इकाई बनाकर वे गांवों को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे।

एक आध्यात्मिक विचार होने के कारण भौतिकता के प्रति अंधाधुंध दौड़ का उन्होंने विरोध किया। उनका विचार भारतीय समाज व संस्कृति के मूल्यों से उपजा था। जिसके द्वारा उन्होंने भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने की कोशिश की।

22.7 उपयोगी पुस्तकें

1- मेरे सत्य के प्रयोग — महात्मा गाँधी

2- आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनीतिक चिन्तन — डा० अमरेश्वर अवस्थी

3- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तक — विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

4- गांधी नेहरू टैगोर का अम्बेडकर — डा० एम० सी० जोशी

22.8 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय सिद्धान्त—

1. ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ?
2. गांधीजी औद्योगीकरण से कहाँ तक सहमत थे ?
3. गांधी के कुटीर उद्योग की अवधारणा पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।
4. वैश्विक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में गाँधी के विचार कहाँ तक प्रासंगिक है।

दीर्घ उत्तरीय—

1) ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना कीजिए।

2) गांधी के आर्थिक अवधारणा की समीक्षा कीजिए।

3) औद्योगीकरण, लघु व कुटीर उद्योगों पर गांधी के विचार पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1- ट्रस्टीशिप (न्यासिता) का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया था ?

(i) मार्क्स (ii) गांधी (iii) नेहरू (iv) लोहिया

2- टस्टीशिप (न्यासिता) की अवधारणा है—

i) पूंजीपति आवश्यकता से अतिरिक्त धन का उपयोग समाज के लिये करें ।
ii) पूँजीपति अपनी संपूर्ण संपति का उपयोग अपने लिए करें।
iii) पूंजीपति अपनी संपूर्ण संपति का उपयोग समाज के लिए करें।
iv) इनमें से कोई नहीं।

3- यन्त्रीकरण को पाप का प्रतिनिधि मानते हैं—

(i) नेहरू (ii) मार्क्स (iii) गाँधी (iv) नरेन्द्र देव

4. ट्रस्टीशिप द्वारा गांधीजी समाप्त करना चाहते थे —

(i) वर्ग संघर्ष (ii) जातिवाद (iii) साम्प्रदायिकता (iv) इनमें से कोई नहीं

22.9 प्रश्नों के उत्तर

1- ii 2-i 3-iii 4-i

इकाई 23 गांधी जी का राजनीतिक दर्शन

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 धर्म और राजनीति

23.3 सत्याग्रह

23.4 राज्य संबंधी विचार

23.4.1 संसदीय लोकतंत्र

23.4.2 निर्वाचन

23.5 स्वतंत्रता की अवधारणा

23.6 सारांश

23.7 उपयोगी पुस्तकें

23.8 बोध प्रश्न

23.9 प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी जी के धर्म और राजनीति का उल्लेख कर सकेंगे।
- उनके राज्य सम्बंधी विचारों पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- उनकी स्वतंत्रता की अवधारणा का वर्णन कर सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

गांधी के राजनीतिक विचार, उनकी नैतिक और धार्मिक मान्यताओं पर आधारित हैं। गांधीजी राजनीति में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करने के समर्थक थे, उनके लिए राजनीति साध्य नहीं अपितु न्याय और सत्य के मूल्यों की स्थापना का साधन थी। उन्होंने 'मैकियाविलीय प्रवृत्ति' की राजनीति अर्थात् धर्म रहित राजनीति व छल-छदम युक्त राजनीति का विरोध किया । उन्होंने यह अनुभव किया कि इस प्रकार की कुटिल राजनीति, जो नैतिकता विहीन हो, किसी भी दशा में उचित नहीं है। राजनीति को नैतिकता और मानव कल्याण का साधन बनना चाहिए । अत: गांधी ने सत्य, अहिंसा और धर्म पर आधारित अपने राजनीतिक दर्शन को खड़ा किया।

23.2 धर्म और राजनीति

गांधीजी ने धर्म और राजनीति का समन्वय किया। वे धर्म विहिन राजनीति को बेईमानी मानते थे। कोई भी राजनैतिक कार्य तब तक वांछनीय नहीं है जब तक वह धर्म अथवा नैतिकता के अनुरूप न हो। राजनीति

ा धर्म से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है, अगर राजनीति धर्म की मूल अवधारणा से पृथक है तो वह धोखा और पाखण्ड है। मैकियावेली सहित आधुनिक युग के कई विचारक धर्म और राजनीति को अलग-अलग मानते हैं। मार्क्स के लिए तो धर्म अफीमी नशा है।

कुछ लोगों के लिए धर्म व्यक्ति का निजी मामला है। गांधी जी का कहना है कि ऐसा वे ही कह सकते हैं जो धर्म के वास्तविक स्वरूप और अर्थ को नहीं जानते। गांधी जी के लिए धर्म और राजनीति के व्यापक लक्ष्य एक से थे। धर्म, व्यक्ति और समाज के कल्याण का साधन है। इसी प्रकार राजनीति का लक्ष्य भी व्यक्ति और समाज के हितों में वृद्धि करना है। धर्म भावना हमें कर्मयोगी का जीवन व्यतीत करने को प्रेरित करती है। वह मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। जब गांधी जी धर्म को राजनीति का आधार बनाने की बात कहते हैं तो उनका अभिप्राय किसी पंथ या सम्प्रदाय को राजनीति का आधार बनाना नहीं अपितु मानव नीति के उच्चतम मूल्यों को आधार बनाना है। गांधीजी की मान्यता थी कि राजनीति को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता। राजनीति में नैतिकता का समावेश अनिवार्य है।

गांधी जी की दृष्टि में राजनीति, धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी, अत: उन्होंने राजनीति को शक्ति और सम्पति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं माना। उन्होंने कहा कि राजनीति तो लाखों पद दलितों को बेहतर जीवन-यापन करने योग्य बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्रता, बंधुत्व, आध्यात्मिक गहराइयों और सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। एक राजनीतिज्ञ, जो इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए काम करता है, धार्मिक हुए बिना नहीं रह सकता है। गांधी की दृष्टि में राजनीति में प्रवेश का अर्थ था सत्य और न्याय की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना। तिलक ने एक बार कहा था कि राजनीति साधुओं का खेल नहीं है। इस पर गांधीजी का उत्तर था—"राजनीति केवल साधुओं का और केवल साधुओं का काम है।" साधुओं से उनका आशय अच्छे व्यक्तियों से था।

राजनीति में धर्म के प्रवेश के विषय में गांधीजी का यह तात्पर्य नहीं है कि राजसत्ता धर्माधिकारियों के हाथों में चली जाय अथवा राज्य को किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनाना चाहिए। उनका राज्य तो धर्म-निरपेक्ष है जिसमें सभी नागरिकों को स्वधर्म पालन की छूट होगी। राज्य को नीति-शास्त्र के शाश्वत और सार्वभौमिक नियमों-सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि का पूर्ण पालन करना चाहिए। इस प्रकार राजनीतिज्ञ सब धर्मों के प्रति समान भाव रखें और राजनीति या सार्वजनिक जीवन में नीति धर्म के सार्वभौमिक मूल्यों पर अचल रहे। चूंकि प्रत्येक धर्म के आधारभूत सिद्धान्त एक ही प्रकार के हैं, इसलिए राजनीतिज्ञों को कोई कठिनाई न होगी।

महात्मा गांधी पाश्चात्य लोकतंत्रीय राजनीति को पसंद नहीं करते थे क्योंकि उसमें पूंजीवादी प्रथाओं और शोषण को खुली छूट है। गांधी की दृष्टि में यह प्रवृत्ति एक प्रकार की नाजीवादी और फासीवादी प्रवृति है। पाश्चात्य राजनीति की गन्दी प्रवृतियों पर चोट करते हुए उन्होंने कहा कि ब्रिटेन ने अलोकतांत्रिक साधनों से भारत को जीता था और दक्षिण अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी भागों में रंग-भेद एवं जातिवाद की नीतियां लोकतंत्र के कष्टप्रद उदाहरण हैं। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि केवल अहिंसा से ही सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हो सकती है। उन्हीं के शब्दों में - "सच्चा लोकतंत्र अथवा जन का स्वराज असत्य और हिंसा के उपायों से कभी नहीं आ सकता। इसका सीधा सा कारण यह है कि उनके प्रयोग का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विरोधियों को दबाकर या सफाया करके सारा भेद समाप्तकर दिया जायगा। ऐसे वातावरण में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं पनप सकती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता विशुद्ध अहिंसा के राज्य में पूरी तरह काम कर सकती है।"

23.3 सत्याग्रह

गांधीजी के राजनीतिक दर्शन में सत्याग्रह का विशेष महत्व है। गांधी का यह सिद्धान्त गीता के द्वितीय अध्याय के सोलहवें श्लोक-''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'' पर आधारित है। इसका अर्थ है—असत्य तो विद्यमान ही नहीं है। अविद्यमान की विद्यमान पर विजय कैसे हो सकती है। इसी भावना से उनके 'सत्याग्रह' के सिद्धान्त का जन्म हुआ है। गांधी ने सत्याग्रह शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग दक्षिणी अफ्रीका में किया। इसके द्वारा गांधीजी ने हिंसक जगत् को अहिंसा की शिक्षा दी।

अहिंसा के माध्यम से असत्य पर आधारित बुराई का विरोध करना ही सत्याग्रह है। गांधी का मानना था कि हर व्यक्ति के अन्दर सत्य का अंश विद्यमान है और उसे इस सत्य की अनुभूति करायी जा सकती है। जबभी कोई व्यक्ति (अथवा सरकार) बुरा कार्य करता है तो उसके पीछे उसका भ्रम होता है। अपने अन्दर मौजूद सत्य के होते हुए भी वह असत्य के प्रभाव में आ जाता है और बुरा कार्य करने लगता है। अगर हम उसे इस तथ्य का अहसास करा सकें तो उसे सत्य की अनुभूति होने लगेगी और वह असत्य के मार्ग से हट जायेगा, सत्य का आग्रह तभी किया जा सकता है जब उसके लिए सम्भावनाएं विद्यमान हों। गांधीजी का अटल विश्वास था कि ये सम्भावनाएं हमेशा विद्यमान रहती हैं क्योंकि हर व्यक्ति के अंदर आत्मा होती है जो एक ईश्वरीय अंश है। इसी अंश को उजागर करने की आवश्यकता है। असत्य को असत्य से, बुराई को बुराई से नहीं जीता जा सकता है। असत्य को सत्य से और बुराई को भलाई से जीता जा सकता है। इस अवधारणा के पीछे गांधी पर बाईबिल का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त रुसो और टालस्टाय ने भी उनकी इस मान्यता को बल दिया। गांधीजी आजीवन इस सत्य को आजमाते रहे और स्वयं उन्होंने लिखा है कि उनकी धारणा कभी गलत नहीं हुई।

गांधीजी का सत्याग्रह एक आदर्श है, कर्मयोग का एक व्यावहारिक दर्शन है और एक क्रियाशील अवधारणा है जिसकी परीक्षा कुछ क्षेत्रों में की जा चुकी है और जो सफल सिद्ध हुई है। सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। इसका स्वाभाविक अर्थ है कि सत्याग्रह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह पवित्र अधिकार ही नहीं अपितु कर्तव्य भी है। यदि सरकार जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती और बेईमानी तथा आतंक का समर्थन करती है तो उसकी अवज्ञा करना आवश्यक हो जाता है। पर जो अपने अधिकारों की रक्षा करना चाहता है उसे सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। जहाँ कहीं भी अन्याय और असत्य का सामना करना पड़े वहाँ सत्याग्रह का प्रयोग कर सकता है। सत्याग्रह हर परिस्थिति मे अहिंसात्मक होता है, इसमें शुद्धतम आत्मबल का ही प्रयोग किया जाता है।

गाँधी जी का कहना था कि सत्याग्रही विचार और व्यवहार के विभेद से बचते हुए आत्मानुशासन और लोकानुशासन से बंधा रहता है। जनता-जनार्दन की सेवा का आजीवन व्रत लेना सत्याग्रही का श्रेष्ठ संकल्प है। सत्याग्रह का उद्देश्य है विरोध का अन्त करना, न कि विरोधी का। इस आदर्श की पूर्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के मार्ग पर चले। यदि व्यक्तिगत जीवन में वह सत्याग्रहवादी और अहिंसावादी नहीं है तो सार्वजनिक विषयों में वह अहिंसावादी नहीं बन सकता। सत्याग्रह के सार्वजनिक प्रयोग से पहले आवश्यक है कि व्यक्ति अपने हृदय को टटोल कर देख ले और उस पर विजय प्राप्त कर ले। आन्तरिक चरित्र के अभाव में सत्याग्रही प्रभावहीन रहेगा। सत्याग्रही कभी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छल, कपट, झूठ और हिंसा का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ भी करता है खुले रूप में करता है और अपनी कमजोरियों और भूलों को छिपाने के बजाय खुले रूप में उन्हें स्वीकार करता है। गांधी जी ने ''हिन्द स्वराज'' में सत्याग्रही के लिए ग्यारह व्रतों का पालन आवश्यक बताया है, वे हैं — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखना,

तथा अस्पृश्यता निवारण। सत्याग्रही प्रातपक्ष। का कभी कष्ट नहीं देता, वह स्वयं कष्ट सहन करता है। सत्याग्रही का बल कष्ट उठाने में है, दूसरों को कष्ट पहुंचाने से सत्य का उल्लंघन होता है। सत्याग्रही सत्ता प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् विरोधी के हृदय परिवर्तन के लिए सत्याग्रह करता है।

सत्याग्रह को अच्छी तरह समझने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) से उसका अन्तर समझ लेना उचित है। इन दोनों में मूलभूत अन्तर ये है—

निष्क्रिय प्रतिरोध	सत्याग्रह
1. यह निर्बलों का अस्त्र है।	1. यह वीरों का अस्त्र है।
2. यह काम चलाऊ राजनीतिक अस्त्र है।	2. यह एक नैतिक अस्त्र है।
3. इसका उद्देश्य प्रतिपक्षी को परेशान करना है जिससे कि वह हार मान ले।	3. इसका उद्देश्य प्रेम पूर्वक व धैर्यपूर्वक स्वयं कष्ट सहन कर विरोधी का हृदय परिवर्तन करना व उसकी भूल सुधारना है।
4. यह निषेधात्मक रूप से कार्य करता है, इसमें व्यक्ति अनिच्छा पूर्वक कष्ट सहन करता है।	4. यह सकारात्मक रूप से कार्य करता है, इसमें व्यक्ति प्रेम, प्रसन्नता व स्वेच्छा से कष्ट सहन करता है।
5. इसमें आन्तरिक शुद्धता का अभाव है।	5. इसमें आन्तरिक शुद्धता आवश्यक है।
6. इसका प्रयोग सार्वभौमिक नहीं है।	6. इसका प्रयोग सार्वभौमिक है।
7. यह साधनों की पवित्रता पर बल नहीं देता, आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है।	7. इसमें साधनों की पवित्रता और अहिंसा पर बल दिया जाता है।
8. इसमें ईश्वर में विश्वास होना आवश्यक नहीं है।	8. इसमें ईश्वर में विश्वास किया जाता है।

गांधीजी ने सत्याग्रह का मात्र सिद्धान्त ही नहीं दिया, वरन उसकी सफलता के साधनों की भी चर्चा की। यह हड़ताल, असहयोग, सविनय-अवज्ञा, उपवास, धरना, हिजरत और आर्थिक बहिष्कार के माध्यम से केया जाता है।

हड़ताल अन्याय के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। हड़ताल अपने वैध व उचित कष्टों के निवारण के लिए श्रमिकों के अधिकार में एक शस्त्र है। इसका लक्ष्य स्वयं कष्ट सहन करते हुए विरोधी का हृदय परिवर्तित करना है। असहयोग का अर्थ है सहयोग न करना अर्थात् व्यक्ति जिसे असत्य, अवैध, अनैतिक या अहितकर समझता है, उसके साथ सहयोग नहीं करता है। गांधी जी असहयोग को 'स्वर्णिम अस्त्र'' एवं 'देवास्त्र' की संज्ञा देते हैं। सविनय अवज्ञा का अर्थ अहिंसक और विनयपूर्ण तरीकों से कानून की अवज्ञा करना है। उसका उद्देश्य ''अनैतिक कानून को भंग करना है।'' यह असहयोग की अन्तिम स्थिति है। उपवास का प्रयोग आत्मशुद्धि, स्वास्थ्य, पश्चाताप, सार्वजनिक हित, अन्याय के विरुद्ध बुरे व्यक्ति का हृदय परिवर्तन, अनचाही वस्तुओं एवं कार्यों के प्रति जनता और शासन का ध्यान आकर्षित करना है। हिजरत का अर्थ है, स्वेच्छा से स्थान छोड़ देना। सत्याग्रह में इसका अर्थ है, जिस स्थान पर दमन हो रहा है स्वेच्छा से उस स्थान को छोड़ देना तथा दूसरे स्थान पर जाकर आत्म सम्मान से रहना ।

आर्थिक बहिष्कार के अंतर्गत उन वस्तुओं का बहिष्कार आता है जो विदेशियों के लाभ के लिए चलाई जाती हैं। इसका दूसरा रूप स्वदेशी है। हम जब तक विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार नहीं करेंगे तब तक देश में निर्मित वस्तुओं का प्रयोग सम्भव नहीं होगा और हमारे उद्योग धन्धे ठप्प पड़ जायेंगे।

उक्त वर्णित साधनों का प्रयोग गांधी जी के मतानुसार बिना किसी पूर्वाग्रह के होना चाहिए। सत्याग्रह करने के पहले स्थिति का पूरी तरह से अध्ययन कर लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि सत्याग्रह एक सही साधन होते हुए भी न्यायोचित न हो। सत्याग्रह की स्थिति तभी आनी चाहिए जब बातचीत का जरिया पूर्णरुपेण असफल हो जाय और विरोधी अपनी गलती मानने से इन्कार कर दे। सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्तिगत चरित्र हनन के लिए या व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए। सत्याग्रह को हर परिस्थिति में एक नैतिक मूल्य बने रहना है।

महात्मा गांधी ने निर्माणकारी कार्यक्रमों को सत्याग्रह का एक अभिन्न अंग बताया। उन्होंने कहा ''निर्माणकारी कार्यक्रम को पूर्ण स्वराज्य का निर्माण कहना अधिक उपयुक्त होगा जिसे सत्य एवं अहिंसक माध्यमों से क्रियान्वित किया जा सकता है।'' गाँधीजी ने जो पंद्रह-सूत्री निर्माणकारी कार्यक्रम बताये, वे सारांशत: इस प्रकार हैं। खादी का प्रचार-प्रसार, ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन, ग्राम स्वच्छता तथा स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान, बुनियादी शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा, नारी-उद्धार, समग्र ग्रामसेवा- (जिसके अन्तर्गत खादी, कुटीर-उद्योग, स्वच्छताके साथ ही कृषि, पशु-धन सुधार) आर्थिक समानता, राष्ट्रभाषा प्रचार, मातृ-भाषा प्रेम, साम्प्रदायिक एकता, अछूतोंद्धार, नशाबन्दी, आदिवासी सेवा व मजदूर तथा किसान एवं विद्यार्थी संगठन बनाना। सत्याग्रह के एक अभिन्न अंग के रूप में यह पंद्रह-सूत्री कार्यक्रम जहाँ एक ओर निरोधात्मक है वहाँ दूसरी और निर्देशात्मक भी है और साथ में निर्माणात्मक भी है।

23.4 राज्य सम्बन्धी विचार

गांधीजी मूलत: अराजकतावादी दार्शनिक थे। अहिंसा में प्रबल आस्था रखने के कारण वे किसी भी रूप में राज्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने दार्शनिक, नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक आधार पर राज्य का विरोध किया तथा अहिंसक समाज की रूप-रेखा प्रस्तुत की।

गांधी जी का मत था कि राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है जो मानव जीवन में नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। प्रत्येक राज्य में सरकार सजा का भय दिखाकर नागरिकों से काम करवाती है और इन्हें कानून के अनुसार चलने पर बाध्य करती है। शासन व्यवस्था चाहे कितनी भी लोकतांत्रिक हो फिर भी राज्य की जड़ में सदैव हिंसा होती है, अर्थात् गरीबों का शोषण करने की प्रवृत्ति होती है। राज्य हिंसा का संगठित एंवं केन्द्रित रूप है। व्यक्ति के भीतर आत्मा है लेकिन राज्य तो आत्मा रहित मशीन है। राज्य को हिंसा से कभी नहीं बचाया जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति हिंसा से हुई है। गांधीजी ने कहा कि राज्य पुलिस, न्यायालय, सैनिक शक्ति आदि के माध्यम से व्यक्तियों पर अपनी इच्छा थोपता है।

राज्य के विरोध में गाँधी का दूसरा तर्क यह है कि राज्य एक बाध्यकारी शक्ति है जो मानव के व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करती है। उन्होंने कहा कि मैं राज्य की शक्ति में किसी भी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूँ। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण को कम करने का प्रयत्न कर रहा है तथापि वास्तविकता यह है कि राज्य व्यक्तित्व का विनाश करके मनुष्य मात्र को सबसे बड़ी हानि पहुँचाता है। गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य आज्ञा देता है और जब कोई आज्ञा दी जाती है तो वह आज्ञा अपने साथ व्यक्ति के कार्यों का नैतिक मूल्य नहीं रखती है।

राज्य के विरोध में गांधीजी का तीसरा तर्क यह है कि अहिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में

ाज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि कार्ल मार्क्स भी राज्य विहिन समाज की कल्पना करते हैं, लेकिन नकी युक्तियों के विपरीत गांधी जी की युक्तियाँ नैतिकताप्रधान थीं। गांधी का मत था कि आदर्श समाज ुद्ध अराजकता की वह दशा है जिसमें सामाजिक जीवन ऐसी पूर्णता को पहुँच गया हो कि वह स्वयं-ंचालित बन जाय। इस दशा में प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं होता है। वह अपने ऊपर इस तरह ासन-करता है कि अपने पड़ोसी के रास्ते में कभी रुकावट नहीं डालता। आदर्श समाज में कोई जनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होता है।

ांधीजी अपने द्वारा कल्पित आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज कहते हैं। इस प्रकार के राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण होगा। ग्राम पंचायतों को ग्राम शासन के अधिकार प्राप्त होंगे। विकेन्द्रीकरण इसलिए ावश्यक है कि केन्द्रीकरण से थोड़े से मनुष्यों के हाथ में शक्ति एकत्र हो जाती है और केन्द्रित शक्ति के ुपयोग की सम्भावना रहती है। कोई भी समाज जिस परिमाण में सत्ता का केन्द्रीकरण करेगा, उसी रिणाम में वह अजनतन्त्रवादी हो जायेगा। आदर्श समाज अहिंसा पर आधारित होगा जिसमें बल-प्रयोग ा नहीं वरन् नैतिक नियंत्रण का शासन होगा।

धीजी का आदर्श जनतंत्र लगभग स्वावलम्बी और स्वशासित सत्याग्रही ग्राम-समाजों का संघ होगा। हीं के शब्दों में ''अहिंसा पर आधारित समाज गाँवों में बसे हुए ऐसे समुदायों का ही हो सकता है नमें स्वेच्छापूर्ण सहयोग, सम्मानपूर्ण और शान्तिमय जीवन की र्त्त है।'' अहिंसक समाज में संघ और ुदायों का संगठन स्वेच्छा के आधार पर होगा। लगभग प्रत्येक व्यक्ति उच्च स्तर की अहिंसा का कास कर चुका होगा और लगभग पूर्ण आत्म-नियन्त्रण प्राप्त कर चुका होगा। गाँधीजी ने आदर्श ग्राम ुदायों का भी अपने लेखों में सक्षिप्त वर्णन किया। प्रत्येक ग्राम एक गणराज्य अथवा एक पंचायत होगा सके पास अपनी समस्त मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने, यहाँ तक कि अपनी रक्षा करने की पूर्ण मर्थ्य होगी। इस अहिंसात्मक समाज में जीवन का ढांचा पिरामिड जैसा नहीं होगा जैसा कि आधुनिक य में होता है जिसमें एक छोटा सा शिखर एक चौड़े आधार पर टिका होता है। वह एक ऐसा वृत्त होगा सका केन्द्र व्यक्ति होगा जो कि ग्राम के लिए अपने आपको बलिदान करने के लिए तैयार रहेगा और ग्राम-ग्रामवृत्त के लिए मिटने को तैयार होगा और इस प्रकार वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श की प्राप्ति हो ेगी। सबसे बाहर की परिधि आन्तरिक वृत्त को कुचलने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी, न्क अपने अन्दर सबको शक्ति प्रदान करेगी। इस सामाजिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता होगी व्यक्तिगत ंत्रता; इसलिए इसे लोकतंत्र का आदर्श स्वरूप कहा जा सकता है।

ा स्वायत्तशासी और स्वतंत्र तथा न्यूनाधिक आत्म-निर्भर होंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक दूसरे अलग-अलग होंगे, वे एक प्रकार के ढीले-ढाले संघ में संगठित होंगे। संघ का आधार शक्ति न होकर क होगा; संघ के पास कोई पुलिस या सेना नहीं होगी। एक अहिंसात्मक समाज का जो सामाजिक - र्थक ढांचा होगा वह आज के राज्य से बहुत भिन्न होगा और उसमें बड़े-बड़े नगरों, पुलिस, कानूनी ालयों, जेल, भारी उद्योग और परिवहन के लिए कोई स्थान न होगा। नवीन समाज में जीवन बहुत न होगा और सभ्यता ग्रामीण होगी, नागरिक नहीं। ऐसे समाज की आर्थिक व्यवस्था की प्रमुख षता विकेन्द्रीकरण होगी।

.4.1 संसदीय लोकतंत्र

ाजी संसदीय शासन के कटु आलोचक थे। उनका विश्वास पाश्चात्य लोकतांत्रिक प्रणाली में नहीं था। स बात को जोर देकर कहते थे कि पश्चिम में जिस लोकतांत्रिक प्रणाली को स्वीकार किया गया है ें दिखावा अधिक है, ईमानदारी और जनकल्याण की भावना कम है। गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' क पुस्तक में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की तुलना बाँझ महिला और वेश्या से की। उनका कहना है कि मैं

4- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन— विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

5- आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन - डा० अमरेश्वर अवस्थी डा० रामकुमार अवस्थी।

23.8 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1- "धर्म के बिना राजनीति अपूर्ण है" गाँधी के विचारों के संदर्भ में प्रकाश डालिए।

2- महात्मा गांधी के अनुसार सत्याग्रह क्या है?

3- निष्क्रिय प्रतिरोध और अहिंसा में मुख्य अन्तर क्या है ?

4- गांधी की राज्य संबंधी अवधारणा पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1- गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

2- गांधी जी द्वारा कल्पित आदर्श राज्य की मुख्य स्थापनाएं क्या हैं?

3- संसदीय लोकतंत्र और निर्वाचन पद्धति पर गांधी के विचारों को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1) धर्म विहीन राज्य को बेईमानी मानते थे—

(i) जवाहर लाल नेहरू (ii) महात्मागांधी (iii) वल्लभभाई पटेल

(iv) नरेन्द्र देव

2) आत्मशुद्धि, पश्चाताप, सार्वजनिक, हित व अन्याय के विरुद्ध बुरे व्यक्ति के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाता है—

i) उपवास ii) हड़ताल iii) असहयोग iv) सत्याग्रह

3) "राज्य एक आवश्यक दुर्गण है। जो मानव जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है"- किसका कथन है—

i) राधाकृष्णन ii) राजेन्द्र प्रसाद iii) महात्मा गांधी iv) अन्य

23.9 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर — 1 = ii 2-i 3-iii

खण्ड

5

जय प्रकाश नारायण व आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई 24
समाज और सर्वोदय

इकाई 25
सम्पूर्ण क्रान्ति

इकाई 26
लोकतंत्र

इकाई 27
आचार्य नरेन्द्र देव का समाजवाद

इकाई 28
आचार्य नरेन्द्र देव की शैक्षणिक विचारधारा

इकाई 29
आचार्य नरेन्द्रदेव की संस्कृति की अवधारणा

खण्ड-परिचय

यह खण्ड भारतीय समाजवाद के दो प्रमुख महापुरुषों जय प्रकाश नारायण व आचार्य नरेन्द्र देव के विषय में है।

जय प्रकाश नारायण के जीवन का बड़ा भाग एक समाजवादी के रूप में संघर्ष करते हुए बीता। बाद में वे सर्वोदय की तरफ आकर्षित हुए तथा अंततः समग्र क्रांति के द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधार का प्रयत्न किया। जय प्रकाश राजनीतिज्ञ से ज्यादा सत्य के अन्वेषक थे। सत्य को जानने की चेष्ठा में वे मार्क्सवाद से समाजवाद, गांधीवाद, सर्वोदय आदि कई विचारधाराओं के प्रभाव में आये तथा कई आंदोलनों का नेतृत्व किया। लेकिन जैसे ही उन्हें लगा कि वह आन्दोलन सत्य और न्याय की मांगों पर खरा नहीं उतर रहा है, उन्होंने अपने को उससे अलग करने का साहस दिखाया। वे राजनीति और राजसत्ता के ऊपर लोकनीति और लोकसत्ता का अंकुश रखने के पक्षधर थे ताकि राजसत्ता को भ्रष्ट होने से बचाया जाय। इसी भावना से उपजी थी संपूर्ण क्रांति की अवधारणा। इसका उद्देश्य तथा सामाजिक संरचना को पूरी तरह बदलना क्योंकि उनके विचार में व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी थी कि बिना पूरी व्यवस्था बदले नैतिक और समतामूलक समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। इस खंड में हमने जयप्रकाश नारायण के लोकतंत्र, समाजवाद से सर्वोदय और समग्रक्रांति की महत्वपूर्ण अवधारणा को शामिल किया है।

इस खंड में शामिल दूसरे विचारक आचार्य नरेन्द्र देव, भारत में समाजवादी आन्दोलन के अग्रणी नेता और विचारक थे। वे मार्क्सवादी विचारक और शिक्षाशास्त्री दोनों थे। उन्होंने भारत के किसान, मजदूर और समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया तथा उन्हें सुनिश्चित दिशा दी। इस खंड में उनके समाजवाद, शिक्षा तथा संस्कृति की चर्चा की गई है।

इकाई 24, 25 और 26 जयप्रकाश के विचारों से सम्बन्धित है जबकि 27, 28 और 29 नरेन्द्र के विचारों पर आधारित है।

इकाई 24- इसमें समाजवाद में सर्वोदय की तरफ उनकी विचारयात्रा किस तरह आगे बढ़ी का वर्णन है।

इकाई 25- समग्रक्रांति के बारे में है। समग्रक्रांति के द्वारा जयप्रकाश समाज को विभिन्न बुराइयों से मुक्त कर उसका नवनिर्माण करना चाहते थे। जब उन्हें यह लगने लगा कि समाज में विषमताएँ इतनी गहरी और बहुआयामी है कि सर्वोदय के समन्वय के सिद्धान्त के आधार पर उनका पूर्ण निदान खोज पाना कठिन है तो उन्होंने समग्र क्रांति की अपनी अवधारणा दी।

इकाई 26- लोकतंत्र के बारे में है। इस अवधारणा में जयप्रकाश ने वास्तविक रूप में लोकतंत्र की स्थापना के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव व्यक्त किये हैं। जय प्रकाश नारायण के अनुसार लोकतंत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यही है कि जनता अपने मामलों का कहाँ तक प्रबन्ध करती है। जय प्रकाश के सम्पूर्ण चिन्तन को समझने के लिए लोकतंत्र विषयक उनकी अवधारणा को समझना आवश्यक है।

इकाई 27- आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवादी चिन्तन को व्यक्त करती है। यद्यपि वे मार्क्सवादी विचार से काफी प्रभावित थे फिर भी उन्होंने समाजवाद को भारतीय संदर्भों में पेश किया। उन्होंने संघर्ष सिद्धान्त को मान्यता दी।

इकाई 28- नरेन्द्रदेव के शिक्षा संबंधी विचार को व्यक्त करती है। वे ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था से सहमत नहीं थे। उन्होंने ऐसे शिक्षा व्यवस्था का समर्थन किया जो व्यक्तित्व को निखारने के साथ रोजगार भी प्रदान करती है। उनके अनुसार शिक्षा द्वारा विश्वभावना, राष्ट्रीय भावना तथा लोकतंत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था विकसित की जानी चाहिये।

इकाई 29- इस इकाई में उनके संस्कृति संबंधी विचारों को समझाया गया है। भारतीय संस्कृति में उनकी पूर्ण आस्था थी। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और नैतिकता को विकसित करने पर बल दिया।

आचार्य नरेन्द्र देव : एक परिचय

जीवन परिचय

आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म 30 अक्टूबर 1889 को उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में हुआ था। उनके पिता कील थे। वह पहले सीतापुर में वकालत करते थे बाद में फैजाबाद में वकालत करने लगे। उनकी हिन्दू र्म और संस्कृति में गहरी निष्ठा थी। नरेन्द्र देव पर पिता का अत्याधिक प्रभाव था। नरेन्द्र देव की रम्भिक शिक्षा फैजाबाद में हुई तथा घर पर ही वेद, गीता, उपनिषद, रामायण, महाभारत, अमरकोश और घुकौमुदी आदि का अध्ययन किया। बाल्यकाल में नरेन्द्रदेव पं. माधव प्रसाद मिश्र, स्वामी रामतीर्थ और दनमोहन मालवीय के सम्पर्क में आए। इनका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा। उन्होंने म्योर सेन्ट्रल ॉलेज, प्रयाग से बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1913 में काशी से एम. ए. तथा 1915 में एल. एल. . की परीक्षा पास करने के पश्चात् वकालत हेतु फैजाबाद चले गये। नरेन्द्र देव ने बचपन से ही भारतीय जनीति और राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों का निकट से देखा था। छात्र जीवन से ही उनका झुकाव म दल की तरफ था। लोकमान्य तिलक के स्वदेशी, स्वशिक्षा और स्वराज के विचार ने नरेन्द्रदेव को फी प्रभावित किया। उन अरविन्द घोष के राष्ट्रवादी विचारों का भी प्रभाव पड़ा।

917 की रूस की क्रांति से नरेन्द्र देव काफी प्रभावित हुए तथा उन्हें मार्क्सवादी विचारधारा ने काफी ाकर्षित किया। परिणामत: वे मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हुए और मार्क्सवादी बन गये।

915 के होमरूल के माध्यम से उन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेना प्रारंभ किया। होमरूल आन्दोलन सिलसिल में ही नरेन्द्र देव ने पं० नेहरू के सम्पर्क में आए। 1920 में जब महात्मागांधी ने असहयोग न्दोलन चलाया, तब उसके समर्थक बन गये। 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का संयुक्त प्रान्त में त्व किया तथा जेल गए।

चार्च नरेन्द्र देव एक कट्टर समाजवादी थे। सन् 1934 में कांग्रेस के ही कुछ नेताओं ने जयप्रकाश ारायण के प्रयत्नों के फलस्वरूप कांग्रेस के भीतर समाजवादी दल के निर्माण का निश्चय किया। उसके म सम्मलेन की अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्र देव ने की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने आशा व्यक्त की भारत में समाजवाद की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी और यहाँ स्थायी रूप से समाजवाद रहेगा। 42 में भारत छोड़ो आन्दोलन में आचार्य नरेन्द्र देव बन्दी बना लिए गऐ। 1945 में जेल से छूटने के बात् उन्होंने कांग्रेस समाजवादी दल की पुन: स्थापना की। उनके बहुत से साथी समाजवादी आन्दोलन विमुख हो गये। लेकिन उन्होंने समाजवादी विचारधारा से अपना संबंध नहीं तोड़ा।

द्र देव केवल राजनीतिक चिन्तक ही नहीं थे अपितु बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री भी थे। उनके व्यक्तित्व में नीति और शिक्षा के दोनों तत्व स्पष्टत: प्रभावशील थे। उन्होंने एक महान शिक्षाविद के रूप में भारी ाति अर्जित की। काशी विद्यापीठ उनका मुख्य कार्यक्षेत्र था। काशी विद्यापीठ की स्थापना के समय से ोंने वहाँ अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया और डा० भगवान दास के बाद काशीविद्यापीठ के ुलपति बने। नरेन्द्र देव 1947 में लखनऊ विश्वविद्यालय तथा 1951 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पति बनाए गए। नरेन्द्रदेव पुरातत्व और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने प्राकृत का भी गहन ययन किया था तथा बौद्ध दर्शन का भी उन पर गहरा प्र .व था। 19 फरवरी, 1956 को मद्रास में का देहावसान हो गया

य प्रकाश नारायण : एक परिचय

प्रकाश का जन्म 11 अक्टूबर सन् 1902 को बिहार के सिताबदियारा नामक स्थान पर हुआ था। इनके ा का नाम हरसूदयाल था। वे नहर विभाग में कार्यरत थे। पिता हरसूदयाल का निरन्तर स्थानान्तरण ा रहता था। इसलिए जयप्रकाश नारायण की आरंभिक शिक्षा सुव्यवस्थित और सुचारु रूप से नहीं हो

सकी। व्यवस्थित अध्ययन हेतु उन्हें पटना भेज दिया गया। पटना में वे सरस्वती भवन में रहते थे। यह भवन उन दिनों राजनीति का केन्द्र था। वहाँ पर अनुग्रह नारायण सिंह, राम चरित्र सिंह, रघुनन्दन पाण्डेय तथा रामनवमी बाबू जैसे लोग रहते थे जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम में महान योगदान किया।

हिन्दी, संस्कृत साहित्य और विज्ञान उनके प्रिय विषय थे। साहित्य में उनकी बहुत रुचि थी। 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'प्रभा', 'प्रताप' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं को वे नियमित रूप से पढ़ते थे। मैथिलीशरण गुप्त की कविताएं उन्हें बहुत प्रभावित करती थीं। गीता का पाठ तो वह नित्य करते थे। सन् 1919 में मैट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और उन्हें मेरिट छात्रवृत्ति मिली।

यह वह वक्त था जब राष्ट्रीयता पूरे देश में अगड़ाई ले रही थी। जयप्रकाश के किशोर हृदय में भी राष्ट्रभक्ति की चिंगारी धधकने लगी। इसलिए जब गांधी ने असहयोग आन्दोलन हेतु देशवासियों का आह्वान किया तो जयप्रकाश ने तय कर लिया कि "हमें सरकारी कालेजों में नहीं पढ़ना है।" जय प्रकाश की इस सक्रियता ने आगे के लिए उनका रास्ता खोल दिया। असहयोग आन्दोलन के उतार आने के पश्चात् जयप्रकाश ने पुनः अपनी पढ़ाई की तरफ ध्यान दिया और विहार विद्यापीठ से विज्ञान विषय में इण्टर की परीक्षा उतीर्ण की। आगे के अध्ययन के लिए वह अमेरिका गए और उन्होंने 8 वर्ष तक पढ़ाई की। अपने अध्ययन काल के दौरान उन्होंने बागों में, होटलों में और जूता साफ करने तक का कार्य किया। अमेरिका में ही वे मार्क्सवाद के प्रभाव में आये और कम्युनिष्ट पार्टी के सदस्य बन गये। जब वे 1929 में अमेरिका से लौटे तब वह पूरी तरह समाजवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हो चुके थे। जयप्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवाद के सर्वाधिक अग्रणी नेता और व्याख्याता के रूप में ख्याति पाई। 1934 में उन्होंने भारतीय समाजवादी कांग्रेस दल की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा दल एवं उसके कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने में अद्भूत प्रतिभा का परिचय दिया। जब कांग्रेस 1937 के चुनावों में भाग लेने को तैयार हुई तब जय प्रकाश ने कांग्रेस छोड़ दिया। तथापि देश के स्वाधीनता आन्दोलन में उन्होंने एक राष्ट्रवादी योद्धा के रूप में भाग लिया और इस कर्त्तव्य से कभी पीछे नहीं हटे। 1948 में भारतीय समाजवादी पार्टी बनायी। बाद में इस पार्टी ने प्रजा समाजवादी पार्टी का रूप ग्रहण कर लिया। 1952 में वे विनोबा भावे के नेतृत्व में चलाए जा रहे सर्वोदय आन्दोलन की तरफ आकर्षित हुए। वे दलगत और सत्ता की नीति से निराश हो गए थे। सर्वोदय आन्दोलन से उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में उतरने का अवसर मिला। इनकी वैचारिक यात्रा की शुरुआत मार्क्सवाद से हुई किन्तु अध्ययन, चिन्तन एवं अनुभव से वे सर्वोदय की तरफ अग्रसर हुए। स्वयं जे० पी० के शब्दों में मुझे भीतर से महसूस हुआ कि मार्क्सवाद कभी भी पदार्थ और चेतना के द्वैत को सुलझा पाने में सफल नहीं हो सकेगा। यह द्वैत आध्यात्मिक अनुभूति के स्तर पर ही मिटेगा, क्योंकि वहीं दृष्टा व दृश्य की एकता की अनुभूति सम्भव है।"

जे० पी० ने लिखा, "आज की सबसे बड़ी समस्या भौतिक अभाव की समस्या नहीं है। भौतिक अभाव मानवीय अच्छाई के अभाव का परिणाम है। जब व्यक्ति को यह बताया जाता है कि कहीं कोई भगवान नहीं है, आत्मा कोई अभौतिक वस्तु नहीं है, पुनर्जन्म सत्य नहीं है और जीवन-मरण का कोई चक्र नहीं होता है, बल्कि मनुष्य केवल पदार्थ का एक जैविक संगठन है जो संयोगवश अस्तित्व में आया है और पुनः पदार्थ के अनन्त समुद्र में ही विलीन हो जाएगा, तो वह व्यक्ति पूछता है कि "मैं अच्छा क्यों बनूं? चारों तरफ भ्रष्टाचार, झूठ, हिंसा, क्रूरता तथा अंधी सत्ता-लिप्सा देखकर व्यक्ति भीतर से सोचता है कि फिर मैं ही क्यों गुणवान एवं अच्छा बनूं। हमारे आज के पदार्थवादी दर्शन को मानने वाला मनुष्य जितना ही प्रतिभाशाली होता है, उतने ही दुस्साहस के साथ अनैतिकता के नए-नए आचरण-रूपों में प्रवृत्त दिखता है। अनैतिकता के इस दुष्चक्र में मानवीय समाज के मूल्य एवं आकांक्षाएं तुड़-तुड़ कर रह जाते हैं।" इस प्रकार जिस भौतिकवादी दर्शन के विरोध में गांधीजी ने 1934 में कांग्रेस छोड़ी थी, उन्होंने यह कहकर कि "कांग्रेस के सोशलिस्ट (कम्यूनिस्ट) मेरे विचारों से गहरी विरक्ति रखते हैं और एक ही पार्टी

ीतर विरोध में रहकर मैं काम नहीं कर सकता, वह मेरा काम करने का तरीका नहीं है।'' उसी
ाकवादी दर्शन से निराश होकर गांधी के 18 वर्षों बाद सोशलिस्ट पार्टी ने नाता तोड़ लिया और स्वयं
गांधी के विचारों के लिए समर्पित कर दिया। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेता पद का त्याग करके उन्होंने
4 में शकोदर में एक आश्रम स्थापित किया और सर्वोदय आन्दोलन और ग्रामोत्थान के लिए नए
क्रमों की शुरुआत की। 1970-72 के बीच उन्होंने अपना समय मुजफ्फर जिले में नक्सलवादी विद्रोह
समाप्त करने में लगाया। 1972 के आरम्भ में इनके आदर्शों से प्रेरित होकर चम्बल घाटी के 400
ुओं ने इनके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

ई, 1974 में बिहार में छात्रों ने कुछ सार्वजनिक प्रश्नों को लेकर आंदोलन शुरू किया। कुछ दिनों बाद
का नेतृत्व जे० पी० ने संभाल लिया तथा धीरे-धीरे वह आंदोलन पूरे देश में फैल गया और जय प्रकाश
ोलन के रूप में जाना जाने लगा। यह आंदोलन करीब एक वर्ष तक जारी रहा। जून, 1975 आपात
ति की घोषणा कर जयप्रकाश और विपक्षी दलों के प्रमुख नेताओं को नजरबन्द कर दिया गया। गम्भीर
से बीमार पड़ जाने पर 12 नवम्बर, 1975 को जयप्रकाश को रिहा कर दिया गया। 1977 में लोकसभा
लिए चुनावों की घोषणा की गई। जयप्रकाश के सक्रिय सहयोग से जनता पार्टी ने चुनावों में विजय
। की। इनको चुनावों के बाद 'लोकनायक' के नाम से जाना जाने लगा। संपूर्ण देश जनता पार्टी के
कार से असंख्य आशाएं बांधे हुए था पर जयप्रकाश को इस सरकार से भी निराशा ही मिली। उनके
वन का स्वप्न था संपूर्ण क्रांति। इसी क्रांति से वे भारत की एक नवीन तस्वीर गढ़ना चाहते थे। अन्ततः
तपस्वी 8 अक्टूबर, 1979 को चिरनिद्रा में लीन हो गया।

इकाई 24 : समाजवाद और सर्वोदय

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 समाजवाद की सैद्धान्तिक समस्याएँ

24.3 भूदान

24.4 सामाजिक परिवर्तन का नया गति विज्ञान

24.5 सर्वोदय की विचारधारा

24.5.1 अहसयोग से साम्यवाद की ओर

24.5.2 साम्यवाद से लोकतांत्रिक समाजवाद

24.5.3 समाजवाद से सर्वोदय की ओर

24.6 सारांश

24.7 बोध प्रश्न

24.8 प्रश्नों के उत्तर

24.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

24.0 उद्देश्य

जयप्रकाश का चिन्तन और विचार एक सरिता के समान है, जो सतत प्रवाहित होने के साथ, विभिन्न क्षेत्रों और परिस्थितियों से गुजरते समय स्थानानुकूल अपना मार्ग बदलती रहती है। मार्क्सवाद से प्रारंभ होकर सर्वोदय और अंतत: जनतंत्र की रक्षा और समाजसुधार के लिए 'संपूर्ण क्रांति' तक की यात्रा बहुतों के लिए अबूझ सी रही है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जय प्रकाश के वैचारिक विकास का वर्णन कर सकेंगे।
- समाजवाद की कमियों का उल्लेख कर सकेंगे।
- सर्वोदय का विशद वर्णन कर सकेंगे।
- भूदान आंदोलन की व्याख्या कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

जय प्रकाश के चिन्तन का एक विशेष मोड़, मार्क्सवाद से सर्वोदय की दिशा में उनका प्रस्थान है। इस विचारयात्रा के अन्त में उन्होंने मार्क्सवाद के लगभग सभी मौलिक सिद्धान्तों को छोड़कर, सर्वोदय की भूमिका स्वीकार कर ली थी। आध्यात्मिक अनुभूति के कारण ही वे महात्मागांधी के विचारों एवं दर्शन के प्रति आकर्षित हुए। उनका विचार था कि भौतिकवादी सभ्यता से मनुष्य को कोई युक्तिसंगत प्रेरणा नहीं मिलती है। इसलिए उन्होंने मत व्यक्त किया कि सामाजिक पुनर्निमाण का कार्यक्रम भौतिकवादी दर्शन की

ा के अन्तर्गत कभी सफल नहीं हो सकता। मनुष्य को केवल उत्पादन वृद्धि पर ही केन्द्रित न होकर
ा मूल्यों की तरफ भी सोचना चाहिये।

.2 समाजवाद की सैद्धान्तिक समस्याएँ

ाकाश ने समाजवादी आन्दोलन की तात्कालिक समस्याओं को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि
ाजवादी सिद्धान्त और व्यवहार में कोई समन्वय नहीं है इसलिए समाजवाद के समक्ष संकट उठ खड़ा
है। समाजवाद की कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

समाजवादी, व्यक्ति को भूलकर केवल समाज बदलने का एकांगी प्रयास करने की गलती कर रहे हैं। यदि समाजवादी वातावरण का निर्माण कर व्यक्ति के प्रश्न को अलग छोड़ दिया जाय तो एक नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की ओर यह बहुत ही अधूरा प्रयास होगा क्योंकि वही व्यक्ति उस सामाजिक वातावरण में काम करेगा और यदि वह अनुशासित व्यक्ति नहीं है, यदि वह उस समाज के लक्ष्यों के अनुरूप नहीं है, यदि वह प्रशिक्षित नहीं किया गया है और यदि उसने सामाजिक हित के लिए अपनी वैयक्तिक इच्छाओं और आकांक्षाओं को विजित एवं नियन्त्रित नहीं किया है तो सामाजिक निर्माण का प्रयोग विफल हो जायेगा। अत: समाजवाद के मार्ग की चाहे जो भी कल्पना हमारी हो और चाहे सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या हम करें, समाजवादी आन्दोलन के अन्तर्गत हमें कुछ ऐसे मूल्यों को मान्य करना ही चाहिए, जिन्हें हम इस अर्थ में सापेक्ष नहीं समझेंगे कि किसी तात्कालिक उद्देश्य सिद्धि के लिए उनका बलिदान कर दिया जाय।

समाजवादी समाज भी केन्द्रीकरण, अधिकारितंत्रीकरण, औद्योगिक लोकतंत्र का अभाव आदि आर्थिक समस्याओं से ग्रसित है। समाजवाद के आर्थिक कार्यक्रम का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय उद्योगों का राष्ट्रीयकरण है। अनेक देशों में उद्योगों का राष्ट्रीकरण हो चुका है परन्तु उसमें समाजवाद उत्पन्न नहीं हुआ है। भारत में रेल एक राष्ट्रीयकृत उद्योग है। उसका स्वामित्व राज्य के हाथ में है। यहाँ पूर्णत: अधिकारितंत्रवाद है। नीचे से ऊपर रेलवे बोर्ड तक, कहीं भी रेल कर्मचारियों का कोई प्रभाव नहीं दिखता है, रेल संचालन में उनका कोई हाथ नहीं है। वेतनमान का ढांचा पूर्णत: पूँजीवादी है। समाजवादी रूस का उदाहरण लिया जाता है । रूस के आर्थिक क्षेत्र में तो और दोष है। वहाँ के उत्पादक या उपभोक्ता का कोई हाथ उद्योग के प्रबंध में और नियंत्रण में तथा प्राप्त लाभों के वितरण में नहीं है। संबंध में निर्णय अधिकारीतन्त्र लेता है-दल का, उद्योग का, सेना का, समूहीकृत कृषि का। इसलिए समाजवादी आंदोलन के अन्तर्गत हमें यह सोचना है कि कौन-कौन कदम उठाये जायें कि जिनसे अधिकारीतंत्रवाद एवं केन्द्रीतंत्रवाद का निराकरण हो, प्रबंध कार्य में उत्पादक एवं उपभोक्ता का हाथ हो और श्रम-फल का समानतापूर्ण वितरण भी सुनिश्चित हो।

संघर्ष की पद्धति भी समाजवादी विचारधारा का एक अंग है। यदि हम लोकतांत्रिक समाज की स्थापना करना चाहते हैं तो स्वभावत: हमें लोकतांत्रिक साधनों का अनुसरण करना चाहिए, यदि वे साधन उपलब्ध हों। अधिनायकतंत्री राज्यों में और ऐसे देश में, जहाँ गृह-युद्ध चल रहा हो, ये साधन उपलब्ध नहीं होते। तथापि यदि लोकतांत्रिक अवसर पर उपलब्ध हो तो हमें लोकतांत्रिक ढंग से ही काम करने चाहिए। यदि हम लोक-समर्थन के सहारे काम कर रहे हैं, यदि लोक-हृदय से हमने संपर्क जोड़ लिये हैं और यदि हमें उसका सहयोग प्राप्त है तो कोई कारण नहीं है कि हम आम जनता को शांतिपूर्ण कारवाई के लिए गतिशील नं कर सकें।

4) समाजवादी समाज के विकास के लिए समुचित राजनीतिक ढांचे के निर्माण की समस्या भी समाजवादियों के समक्ष एक मूलभूत प्रश्न है। रूस का राजनीतिक ढांचा एक दलीय अधिनायकतंत्री है। वहाँ जो दल है, उसकी नियंत्रित सदस्यता है, वह समय-समय पर शुद्धीकरण की प्रक्रिया से गुजरता है और उसमें नहीं लगता है कि लोकतंत्र का अस्तित्व भी हो। इस एक दलीय अधिनायकतन्त्र के अन्दर हम एक पूर्णत: अधिकारीतन्त्री राज्य स्थापित पाते हैं, जिसे किसी भी प्रकार से श्रमजीवी-राज्य या जनवादी राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। संसदीय लोकतंत्र के चौखटे के अन्दर भी यह संभव है कि समाजवादी दल अनेक वर्षों तक सत्ता में रहने के बाद जनता के मतों से सत्ता-च्युत हो जाये। अत: हमें इस पकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में आम जनता को स्वशासन मिल सके।

24.3 भूदान

जय प्रकाश नारायण के अनुसार भूदान केवल एक कृषि सुधार का आन्दोलन नहीं है। एक सर्वोन्मुखी सामाजिक एवं मानवीय क्रान्ति की शुरुआत है; मानवीय इसलिए कि इसका लक्ष्य समाज के साथ-साथ मनुष्य को बदलना है। यह अहिंसक क्रान्ति का चरमबिन्दु है जिसके गूढ़ार्थ सुदूरगामी और व्यापक हैं। यह विचार-परिवर्तन का तथा एक नये वैचारिक वातावरण एवं जीवन-मूल्यों के निर्माण का महान जनान्दोलन है। यह मनुष्यों के दिमाग में और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में एक जीवन्त और तात्कालिक क्रान्ति ले आता है। वह शोषण एवं विषमतामूलक व्यवस्था पर तात्कालिक रूप से प्रहार करता है और उसमें सुधार लाता है। वह मनुष्यों को सिखाता है कि उनके पास जो कुछ है, उसमें अपने मानव-बन्धुओं को भी भागीदार बनाएं।

यह क्रान्तिकारी प्रक्रिया कृषि के अलावा किसी दूसरे क्षेत्र में भी शुरू की जा सकती थी। परन्तु इसी क्षेत्र को पहले लिया गया, क्योंकि (क) भूमि उत्पादन का प्राथमिक स्रोत है; (ख) भूमि समस्या सर्वाधिक जटिल है; (ग) यह हमारी विशाल ग्रामीणजनसंख्या को प्रभावित करती है। परन्तु सबसे महत्व का कारण यह है कि दूसरी किसी सम्पत्ति की अपेक्षा, भूमि के माध्यम से नये आर्थिक विचार एवं सामाजिक आचार को प्रस्तुत करना अधिक आसान था। भूमि के संबंध में जो भूदान कहता है, वह गांधीजी के अनुसार हमारी सभी सम्पत्तियों के लिए, जिनमें ज्ञान और कौशल भी शामिल है, सही है। सारी सम्पत्ति सामाजिक उत्पादन है और सामाजिक सहयोग के बिना कोई कमाई नहीं हो सकती है। अत: हमारे पास जो कुछ भी है वह समाज का है। जो हमारे पास है, हम उसके न्यासधर से अधिक कुछ नहीं हैं और अव्यक्त रूप से समाज ने हमें यह भार दिया है कि हम अपने न्यास के लिए समुचित सावधानी बरतें और उसका उपयोग अपने लिए नहीं,अपने सभी मानव बन्धुओं के लिए करें। लेकिन भूमि प्रकृति प्रदत्त साधन के रूप में समाज की सम्पत्ति है, यह विचार जहाँ कृषि क्षेत्र में सहज स्वीकार्य है, वहाँ व्यापरिक, औद्योगिक या व्यावसायिक क्षेत्र में ऐसे विचार को सामान्य स्वीकृति मिलना कठिन होगा। परन्तु जब भूदान इस विचार के बीज को हमारे पांच लाख गाँवों में बो चुकेगा और लाखों भूमिवानों को समझा-बुझाकर इस विचार को व्यावहारिक रूप से, चाहे अंशत: ही सही, स्वीकार करने के लिए राजी कर लेगा, तो एक ऐसे मनोवैज्ञानिक वातावरण का निर्माण हो जायेगा जिससे यह विचार अन्य क्षेत्रों में भी फैलेगा।

भूदान आन्दोलन का यह आग्रह है कि यदि हमारा अन्तिम लक्ष्य राज्य के बिना ही अपना काम-काज चला लेने का है तो हम अभी उस परिस्थिति का निर्माण करें जिससे जनता अपने ऊपर अधिक-से-अधिक और राज्य पर कम-से-कम निर्भर रहे। कोई नहीं कह सकता कि राज्य का पूर्ण लोप कभी होगा या नहीं, लेकिन यदि हम अहिंसक लोकतंत्र के आदर्शों को स्वीकार करते हैं तो यह आवश्यक है कि उसके लिए समुचित प्रयत्न किया जाय।

14.4 सामाजिक परिवर्तन का नया गति विज्ञान

अब तक समाज-परिवर्तन का गति विज्ञान स्वार्थों का संघर्ष रहा है। श्रम के हित को पूँजी के हित के अवरोध में खड़ा किया जाता रहा है और इसमें मध्यवर्ती हित अपने पक्ष का चुनाव, संघर्ष के प्रति अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार, करते रहे हैं। स्वार्थ से प्रेरित होकर श्रमिक एक भिन्न समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। अत: आवश्यकता एक ऐसे गति-विज्ञान की नहीं है जो हितों के संघर्ष पर आधारित हो, बल्कि उसकी है जो अभीष्ट समाज के मूल्यों पर आधारित हो। आवश्यकता एक ऐसे आन्दोलन की उतनी नहीं है जिसका लक्ष्य सत्ता पर अधिकार करना हो, बल्कि ऐसे आन्दोलन की है कि जो इस बात पर बल देता है कि उसमें भाग लेने वाले लोग अभी से ही नयी जीवन-पद्धति के अनुसार जीना शुरू कर दें। यह आवश्यक है कि समाजवाद के आदर्शों पर मूल्यों में विश्वास करने वाले व्यक्ति आज ही उन आदर्शों और मूल्यों के अनुरूप जीवन जीना आरम्भ करें। उदाहरणार्थ, यदि हम समता चाहते हैं तो उसके अनुसार आचरण करना शुरू कर दें। जयप्रकाश के विचार में वास्तविक समता तब तक सम्भव नहीं है, जब तक समाज के सदस्य, ''योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार दाम'' के श्रेष्ठ मार्क्सवादी आदर्श के अनुसार नहीं जीते, कोई भी राज्य व्यक्ति को इस आदर्श के अनुसार जीने को बाध्य नहीं कर सकता। यह आदर्श व्यवहार में तभी उतर सकता है, जब वह समुदाय के द्वारा स्वेच्छया स्वीकृत कर लिया जाये। इसलिए जो समानता में विश्वास करते हैं, उन्हें तदनुसार जीवन जीने के लिए अग्रसर होना चाहिए। समता इसमें नहीं है कि धनिकों की सम्पत्ति लेकर गरीबों में बाट दी जाय। गरीब लोग अगर केवल धनिकों का धन अपने बीच वितरित कर समता स्थापित करने की कोशिश करते हैं और उसके पीछे जो जीवन दर्शन है, उसे नहीं अपनाते तो वे शीघ्र अपने ही बीच विभिन्न प्रकार की विषमताओं का सृजन करेंगे और यदि गरीब लोग नया जीवन-दर्शन स्वीकार कर इसे अपने ही जीवन में उतारते हैं और व्यापक पैमाने पर ऐसा करते है, तो फिर धनिक भी पीछे नहीं रह सकते।

14.5 सर्वोदय की विचारधारा

जयप्रकाश का जीवन-पथ अस्थिरता तथा अंधान्वेषण का टेढ़ा-मेढ़ा वक्र प्रतीत होता है। लेकिन वस्तुनिष्ठ अवलोकन में उसमें विकास की क्रमबद्ध श्रृंखला दिखाई पड़ती है। उनकी वैचारिकता यात्रा में अन्वेषण था, परन्तु वह अंधान्वेषण नहीं था, सामने प्रकाश के स्पष्ट संकेत थे जो आरंभ से ही अमलिन तथा अपरिवर्तित रहे और जिनके सहारे वे आगे बढ़ते रहे। उनकी वैचारिक यात्रा निम्नलिखित पड़ाव से गुजरी है:—

14.5.1 असहयोग से साम्यवाद की ओर

अपने युवाकाल में वे अधिकांश युवकों के समान एक उग्र राष्ट्रवादी थे और उनका झुकाव क्रान्तिकारी पंथ की ओर था। उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के प्रौढ़ होने के पूर्व गांधीजी के असहयोग आंदोलन में पूर्ण सक्रियता के साथ भाग लिया। परन्तु 1922 से 1929 के अमेरिका प्रवास के दौरान उनके दृष्टिकोण में क्रन्तिकारी बदलाव आ गया। अब वे गांधीजी के असहयोग व सविनय अवज्ञा के मुकाबले मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में आ गये। मार्क्सवाद उन्हें समता व बंधुता का पर्याय प्रतीत हुआ। मार्क्सवादी प्रभाव के कारण उन्हें यह लगा कि गांधी जी सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध हैं और किसी संकट की घड़ी में वे शोषण तथा विषमता की व्यवस्था का समर्थन कर देंगे। यद्यपि आगे चलकर उनके ये संदेह दूर हो गए।

24.5.2 साम्यवाद से लोकतांत्रिक समाजवाद

सन् 1929 के अन्त में जब जयप्रकाश स्वदेश लौटे, वह समय मार्क्सवाद के अनुकूल नहीं था। इसी समय महात्मागांधी ने अपना प्रसिद्ध नमक-सत्याग्रह शुरू किया। स्वभावत: वे पूरे उत्साह के साथ संघर्ष में कूद पड़े। परन्तु इस संघर्ष में भारतीय साम्यवादी नहीं थे । वे राष्ट्रीय आन्दोलन को मध्यवर्गीय आन्दोलन और महात्मागाँधी को भारतीय मध्यमवर्ग का अनुचर कहकर दोनों की भर्त्सना करते थे। इस समय भारत के साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अनुसरण कर रहे थे और साम्यवादी संगठन पूरी तरह स्टालिन के नेतृत्व में आ चुका था। साम्यवादी 1928 से स्पष्ट रूप से गलत नीति का अनुसरण कर रहे थे; जिसके परिणाम स्वरूप दुनिया भर के श्रमिक एवं समाजवादी आन्दोलन में विभाजन हो गया था तथा सभी औपनिवेशिक देशों में साम्यवादी लोग राष्ट्रीय आन्दोलनों से अलग-थलग पड़ गये थे। वह उन्हें सामान्यतया मार्क्सवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एवं लेनिन द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध औपनिवेशिक नीति के विरुद्ध जान पड़ी। भारतीय साम्यवादी दल के साथ इनके जो प्रत्यक्ष अनुभव हुए, उनके अलावा सोवियत रूस के अन्दर भी लगभग उसी समय कुछ अन्य घटनाएं हो रही थीं, जिन्होंने इनके चिन्तन को प्रबल रूप से प्रभावित किया। ये घटनाएं थीं-रूस के प्रसिद्ध साम्यवादी नेताओं पर चलाये गये कुख्यात मुकदमें, जिनके लेखों का उन्होंने गहनता से अध्ययन किया था और जो उनकी दृष्टि में महान क्रांतिकारी थे तथा जिन्होंने लेनिन के निकटतम सहयोगी बन कर इतिहास की सबसे बड़ी क्रान्ति की थी। रूस में बुरे साधनों से जो बुरे परि पैदा हुए, विशेषकर साम्यवादी दल से निष्कासनों के दौरान जो भयानक साधन भयावह दुष्कृत्यों के लि अपनाये गये उन्हें देखकर मार्क्सवाद के 'क्रान्तिकारी नीतिशास्त्र' के प्रति इनका हृदय विद्रोह कर उठा और ये गांधीवाद की तरफ अग्रसर होने लगे। परन्तु इनका पूर्ण विचार परिवर्तन अभी नहीं हुआ था अत: इन्होंने अपने आपको लोकतांत्रिक समाजवाद के मध्य मार्ग में पाया। अब ये लोकतंत्र पर बल, विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता, साधन-साध्य की भौतिक अनुकूलता आदि पर बल देने लगे।

24.5.3 समाजवाद से सर्वोदय की ओर

जय प्रकाश नारायण की वैचारिक दिशा को निश्चित करने की एक निर्णयात्मक घड़ी सन् 1952 में उस समय आई, जब उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए पूना में 21 दिन का उपवास किया। उपवास के बाद जे० पी० विचारों के नए पैमानों के साथ एक नए मनुष्य के रूप में सामने आए। उसके बाद जे० पी० समाजवादी नहीं रह गए। उनकी विचारधारा के तत्वों पर मानवतावाद की छाया पड़ने लगी और उनके विचारों पर एक नया नैतिक रंग चढ़ गया।

मनुष्य, उसकी चेतन-शक्ति, समाज और संस्कृति जिसका उसने निर्माण किया है—यदि ये सब भूत-द्रव्य की अभिव्यक्ति मात्र है, तो मैं नहीं समझता कि क्यों किसी व्यक्ति को अच्छा बनने अर्थात् उदार, दयावान और नि:स्वार्थी बनने की कोशिश करनी चाहिए, तब किसी दुर्बल दीन और दु:खी के प्रति किसी को सहानुभूतिपूर्ण क्यों होना चाहिए। मृत्यु के उपरान्त जो भूत-द्रव्य है, वह भूत-द्रव्य मे विलीन हो जायेगा। अतएव नैतिक व्यवहार के लिए उसे क्या प्रेरणा मिल सकती है। नैतिक आदर्शों का नि:सन्देह एक इतिहास है, उनका एक सामाजिक हेतु है। किन्तु जब मनुष्य अपने परम्परागत आचार-व्यवहार के सिद्धान्तों में ही शंका करने लगता है और अपने से पूछता है कि मैं नैतिक नियमों के अनुसार आचरण क्यों करूँ तो भौतिकवाद के पास उसके लिए कोई जवाब नहीं मिलता। समाजसेवा, त्याग, स्वतंत्रता, समानता और अन्य सब आदर्शों को लेकर किसी ने बहुत समय बिताया हो, किन्तु बाद में यदि वह अपने से पूछने लगे कि मैं इन आदर्शों को बिल्कुल ही स्वीकार क्यों करूँ और इनकी वजह से नाहक परेशानी और घाटा क्यों सहूं, तो भौतिकवादी तत्वज्ञान, द्वन्द्ववादी उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता है।

ड़ का अध्ययन एक वस्तु आधारित अन्वेषण है जबकि चैतन्य का अध्ययन है एक आन्तरिक अनुभूति। ड़ पदार्थ का अध्ययन लाजमी तौर पर नीति-निरपेक्ष होता है। चेतन शक्ति को जड़-पदार्थ का एक वहार मात्र बताकर मार्क्सवादियों और भौतिकवादियों ने नैतिकता की बुनियाद ही खत्म कर दी है। र्क्सवादी क्रान्तिकारी नैतिकता के विषय में तरह-तरह के नियमों की व्याख्या करते हैं किन्तु "लक्ष्य पूर्ति लिए किस प्रकार के साधन अपनाए जाएं" उनकी वास्तविकता को स्पष्ट रूप से सामने लाता है। एक र किसी व्यक्ति ने सच्चाई के साथ या यों ही अपने मन को समझा लिया कि वह क्रांति के पक्ष में है थवा एक दल या जनता के पक्ष में है, तो फिर वह किसी भी कर्म हेतु स्वतंत्र हो जाता है।

र्क्सवादी और भौतिकवादी ही नहीं बल्कि वे भी, जो तात्विक दृष्टि से उनसे मतभेद रखते हैं, चेतनशील क्ति को विज्ञान के तरीकों से समझना चाहते हैं। विज्ञान के लिए चेतन शक्ति को समझ पाना सम्भव नहीं क्योंकि वह एक अन्तरानुभूति की चीज़ है। अन्तरानुभूति अपने गुण के कारण ही उत्पन्न होती है यह तिक उपकरणों के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। इसलिए सारे वेदान्तियों या सूफियों और योगियों ा, जिन्हें आत्मा की यथार्थता ही पूर्णब्रह्म की अनुभूति थी, किसी भाषा में उसे व्यक्त करना सम्भव नहीं ा। सन्त या सूफी का जीवन ही उसका सदुपदेश होता है।

ाजवादी और साम्यवादी दोनों का बहुत जोर भौतिक समृद्धि, उत्पादन की उत्तरोत्तर वृद्धि और जीवन-र के अधिकाधिक ऊंचा उठाने पर रहता है। यह जरूरी है कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की त होना चाहिए। जब यह देखते हैं कि समाजवादी और साम्यवादी हमेशा गरीब और पद-दलितों की ालत करते हैं, भौतिक उन्नति और सुख के ऊपर उनका जोर देना समझ में आता है। यह भी सत्य है भारत जैसे गरीब और पिछड़े हुए देश में सामाजिक पुनर्निर्माण का मुख्य काम ही जन-साधारण के वन-स्तर को ऊंचा उठाना है। किन्तु भौतिक समृद्धि को देवता तुल्य बना देने और भौतिक पदार्थों की ुष्ण भूख को शान्त करने वाली जीवन-दृष्टि को प्रोत्साहित करने से न तो यहाँ काम चलेगा और न ीं अन्यत्र ही। यदि लगातार वह भूख उसको सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शान्ति गी और न एक-दूसरे के बीच आपस में शांति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य एक अनियंत्रित स्पर्धा खड़ी हो जायेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोगी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा र प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को पकड़ने की ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जाने की कोशिश गा। इस प्रकार के असन्तुष्ट समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जाते हैं। जीवन के स्त मूल्य 'और चाहिए' 'और चाहिए' की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायेंगे। धर्म, कला, दर्शन, ान, सबको, 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए', जीवन के इस एक लक्ष्य की पूर्ति में लग ा पड़ेगा। समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व सबके भौतिकवाद की सार्वभौमिक बाढ़ में डूब जाने का खतरा हो जायेगा। मानव-जीवन में कोई अन्य सहारा, कोई सच्चा सन्तोष नहीं रहेगा। क्योंकि जितना ही धक किसी के पास होता है, उतनी ही उसकी अधिक भूख बढ़ती है।

क जीवन और मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा समस्त मानवीय गुणों और मूल्यों के फलने-फूलने लिए शारीरिक सुधाओं पर नियंत्रण रखना अनिवार्य । सबसे बढ़कर समाजवादी मूल्यों के सम्बन्ध में बात सही है। सबके सामान्य प्रयत्न से जो अच्छी चीजें उपलब्ध हों, उन्हें एक-दूसरे के साथ बाँटकर ा का तरीका ही समाजवादी जीवन-मार्ग है। जितनी ही स्वेच्छा और सहमति से बाँट लेने का यह काम ा है तनाव और दबाव उतना ही कम होगा। उनके अनुसार जब तक समाज के सदस्य अपनी श्यकताओं पर नियंत्रण रखना नहीं सीखते, स्वेच्छा से चीजों को बाँट लेना यदि असम्भव नहीं, तो न अवश्य होगा। समाज, निश्चय ही दो टुकड़ों में बँट जायेगा। एक उन लोगों का, जो दूसरों को शासित करने का प्रयत्न करते होंगे और दूसरा, बाकी बचे सब लोगों का। समाज की इस प्रकार की स्था में एक प्रश्न हमेशा सामने रहता है, अनुशासित करने वालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य

करने वालों पर राज्य कौन करेगा? साम्यवादी देशों के उदाहरण और समाजवादी सरकारों के अनुभव से स्पष्ट है कि इस नित्य प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। इसका एक हल मालूम होता है और वह यह है कि ऊपर से अनुशासन की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक-से-अधिक संभव हो, कम और सीमाबद्ध किया जाय।

दलीय राजनीति से वे सन्तुष्ट नहीं थे और एक विकल्प खोजने को बाध्य हो गये। दलीय राजनीति का परम्परागत स्वभाव है, सत्ता के लिए उसमें सब तरह से निर्बल और दूषित कर देने वाले संघर्ष होते हैं। उन्होंने देखा धन, संगठन और प्रचार के साधनों के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लाद देते हैं; कैसे जनतंत्र यथार्थ में दलीय तंत्र बन जाता है; कैसे दलीय तंत्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव-समितियों और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है; किस प्रकार जन-तंत्र केवल मतदान में सिमट और सिकुड़कर रह जाता है; किस प्रकार मत देने का यह अधिकार तक, उन शक्तिशाली दलों के द्वारा अपना उम्मीदवार खड़ा करने की पद्धति के कारण बुरी तरह सीमित हो जाता है, क्योंकि काम चलाने के लिए मतदाताओं को केवल उन्हीं में से किसी को चुनना पड़ता है, किस प्रकार सीमित निर्वाचनाधिकार तक अवास्तविक हो जाता है, क्योंकि निर्वाचक-गण के समक्ष जो मुद्दे रखे जाते हैं, वे बहुत अधिक तो उनकी समझ के बाहर के होते हैं।

दलीय पद्धति लोगों को डरपोक और नपुंसक बना देती है। इसने इस तरह का काम नहीं किया कि जनता की शक्ति और अभिक्रम बढ़े या उन्हें स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने संभालने में सहायता मिले। दलों को तो केवल इससे मतलब था कि सत्ता उनके हाथ में आये और वे जनता के ऊपर बिना जनता की सलाह से राज्य कर सकें। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गड़ेरियों को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे। उन्हें इसमें स्वतंत्रता के दर्शन नहीं हुए, उस स्वतन्त्रता या स्वराज्य जिसके लिए वे लड़े थे।

दल-प्रथा के दोषों और असफलताओं के छुटकारा पाने के लिए वे कुछ दिनों तक प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोगी दल-प्रथा की कल्पना में मग्न रहे। आखिरकार उन्होंने यह देखा कि ऐसे राजनीतिक प्रयोग के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है। दूसरे, सत्ता के लिए संघर्ष और वर्तमान संसदीय गणतंत्र प्रणाली के प्रस्तुत ढांचे के रहते हुए सिवा किसी विशेष निमित्त और विशेष अवसर के यह प्रयोग सफल नहीं हो सकता। फिर भी उनका विश्वास है कि यदि इसके लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो जाय तो इस प्रकार का राजनीतिक प्रयोग आज भी किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए आज के ढाँचे को संसदीय गणतंत्र से भिन्न किसी दूसरे रूप में बदलना ही पड़ेगा। दल प्रथा से विरक्ति उन्हें बराबर उसके किसी अच्छे पर्याय को खोजने के लिए विवश कर रही थी। उनमें से एक यह था कि राज्य का स्थान और कार्य क्या होगा? कदाचित् सत्ताहीन समाज के आदर्श से युक्त मार्क्स के उनके अध्ययन ने इन प्रश्नों को अधिक तीव्र और कष्टदायक बना दिया। यद्यपि मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को उन्हें छोड़ दिया था, क्योंकि उससे उन्हें अपने लक्ष्य तक पहुँचने की आशा नहीं थी। गणतांत्रिक समाजवादी, साम्यवादी तथा कल्याणवादी फासिस्टों की तो कहें ही क्या, सबके सब राज्यवादी हैं। वे सब पहले हाथ में सत्ता लेकर और तत्पश्चात् राज्य के अधिकारों और कार्यक्रमों में वृद्धि करके अपने ही रंग का सत्ययुग निर्मित करना चाहते हैं। यद्यपि लम्बे राजनीतिक अनुभव के बाद उन्हें गांधी जी के इस सूत्र-वाक्य में पक्का विश्वास हो गया कि वही सरकार सर्वोत्तम होती है, जो न्यूनतम शासन करती है।

बर्जुआ राज्य का राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार था। समाजवादी राज्य में उसके साथ आर्थिक एकाधिकार के जुड़ने का भय रहता है। सत्ता के इतने बड़े केन्द्रीकरण को नियंत्रित और संयमित रखने के लिए उसमें अंकुश भी नहीं, तो उतनी शक्ति को चाहिए ही। ऐसी स्थिति में आर्थिक और राजनीतिक

अफसरशाही इतनी शक्तिशाली हो जायेगी और इतने महत्वपूर्ण निर्णय उसके हाथ में होंगे कि जनता की स्वतंत्रता और स्वाधिकार के साथ ही उसकी रोजी-रोटी भी सर्वथा उसकी दया पर निर्भर करेगी। इन सब स्थितियों में उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि मानव-स्वतंत्रता की पूरी और संपूर्ण अनुभूति केवल सत्ताहीन समाज में ही हो सकती है। मनुष्य जब बिना किसी प्रकार के दबाव या अंकुश के अपने साथियों में बन्धुत्व, न्याय और सहयोग के साथ रहने योग्य हो जायेगा, मैं समझूँगा कि उसका विकास हो गया है।

उन्होंने चिन्तन से यह विचार व्यक्त किया कि सर्वोदय ही एक मात्र व्यवस्था हो सकती है जो इन सब प्रश्नों का हल ढूंढ सकती है। सर्वोदय का वह मार्ग राज्य सत्ता का इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने के बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास करने का था। सर्वोदय जनता का समाजवाद है। इस प्रकार जितना ही जनता का अथवा स्वैच्छिक समाजवाद अधिक होगा और राज्य से लादा हुआ समाजवाद कम होगा, उतना ही अधिक पूर्ण और यथार्थ समाजवाद बनेगा। समाजवाद के अशासकीय रूपों को खड़ा करने की दृष्टि से यह बात स्पष्ट है कि दल बनाकर काम करने या सत्ता पर अधिकार जमाने के संघर्ष में भाग लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। जरूरत है, नि: स्वार्थ काम करने वाले लोगों के दल की, जो जनता के बीच रहकर काम करने के लिए तैयार हों, जो स्वावलम्बन और स्वशासन के आधार पर उनके जीवन का पुनर्गठन करने में जनता की सहायता कर सकें।

उनके अनुसार मानव-समाज कुछ इस रूप से विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएँ ही निकली हैं। इनमें शहर कहलाने वाले मनुष्यों के बड़े-बड़े जंगल हैं, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध सर्वथा अवैयक्तिक और निष्प्राण हैं, कार्य प्रणाली कष्टसाध्य और आनन्द एवं सृजन-शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित है और केवल उत्पादन शक्ति और कार्यसमाज के आधार पर मान्यता मिलती है। विज्ञान ने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है। किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है कि पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं। इस प्रकार का पेचीदा और ऊपर से बोझिल समाज अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंकशास्त्रियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार का समाज एक घर नहीं बन सकता, जहाँ भाई भी भाई की तरह एक साथ रह सके।

समाजवादियों ने विज्ञान, उत्पादन, कार्यक्षमता, जीवनस्तर तथा ऊंचे-ऊंचे आदर्शवाले दल के नारों के नाम पर समाज के इस भस्मानुसार को बिल्कुल ज्यों का त्यों ले लिया है और अब वे आशा करते हैं कि इसमें सार्वजनिक स्वामित्व या जनता की मालिकी जोड़कर इसे समाजवादी समाज बनायेंगे। जय प्रकाश जी का विचार है कि इस प्रकार के समाज में समाजवाद सांस भी नहीं ले सकता। यदि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे, तो स्वशासन, स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, इन सबका प्रयोग और विकास बेहतरी से हो सकता है।

24.6 सारांश

जयप्रकाश नारायण समाजवादी आंदोलन के इतिहास में सुविख्यात व्यक्ति हैं। समाजवाद से सर्वोदय की उनकी सम्पूर्ण यात्रा के सभी क्रियाकलाप देश के लिए बहुमुल्य सिद्ध हुए हैं। देश की जटिल समस्याओं को मानवीय आधार पर सुलझाने में उनके योगदान की उपेक्षा नहीं जा सकती है। निर्दलीय राजनीति में उनके विश्वास की धारणा में बल है। लोकतंत्र, समाजवाद, सर्वोदय और समग्रक्रांति पर दिये गए उनके विचार आज समाज के सामने आदर्श हैं। जयप्रकाश के व्यक्तित्व के अनेक पहलू थे। इस कारण उनके जीवन और कार्य के किसी एक अंग को दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ-सिद्ध करने में कठिनाई खड़ी होती है। लेकिन अपने पथ प्रदर्शक गांधी की तरह वे भी एक सम्पूर्ण मानव थे। राज्य की बढ़ती हुई सत्ता को और व्यक्ति तथा समाज की स्वावलम्बनशीलता के ह्रास को देखकर जयप्रकाश नारायण चौंक उठे थे और उन्होंने तराजू के पलड़े को समाज और व्यक्ति की तरफ झुकाने का प्रयत्न किया था। इस कारण वे

उत्पादन की इकाइयों को विकेन्द्रित करने की ओर तथा स्वशासन की ओर अधिक से अधिक झुकते गए और अन्त में उन्होंने लोकनीति सम्बन्धी अपनी कल्पना का विस्तार किया। जयप्रकाश नारायण जनता के असंतोष से पीड़ित थे और जनता का कल्याण चाहते थे, लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जो राजनीति अपनाई, अंतत: उसे सफलता नहीं मिली।

24.7 बोध प्रश्न

प्र०–1 जयप्रकाश नारायण के चिन्तन विकास क्रम को स्पष्ट करें ?

प्र०–2 समाजवाद के सामने मुख्य चुनौतियाँ क्या हैं?

प्र०–3 भूदान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए?

प्र०–4 सर्वोदय की विचारधारा का विश्लेषण कीजिए ?

प्र०–5 भौतिकवाद सर्वोदयी समाज की स्थापना में किस प्रकार बाधक है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र०–1 जयप्रकाश ने आत्मशुद्धि के लिए 21 दिन का उपवास व्रत कहां रखा ?

क– मुम्बई ख–पूना ग–नासिक घ–वर्धा

प्र०–2 दलीय राजनीति के जयप्रकाश कटु आलोचक थे क्योंकि —

क– यह लोगों को भेड़ बनाती है।

ख– यह नेताओं को गड़ेरिया के दर्जे में ला देती है।

ग– दोनों

घ– कोई नहीं

प्र०–3 सामाजिक परिवर्तन के लिए जयप्रकाश ने किस पद्धति के औचित्य पर बल दिया।

क– साम्यवादी पद्धति, ख– कल्याणवादी फासीवाद। स– लोकतांत्रिक पद्धति।

द–अन्य

24.8 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर – 1–ख, 2–ग 3–ग

24.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- जयप्रकाश नारायण : समाजवाद के सर्वोदय की ओर सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी।

2- रवीन्द्र भारती : जे० पी० जमीन पर सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी।

3- नारायण देशाई : लोकनायक जयप्रकाश एक विभूति सम्पन्न व्यक्तित्व सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी।

4- जयप्रकाश नारायण : मेरी विचार यात्रा भाग-1

5- डा० सच्चिदानंद : जे० पी० और भूमि सुधार (प्रथम पत्रिका) जयप्रकाश अध्ययन एवं शोध केन्द्र महिला चरखा समिति, पटना।

इकाई 25: सम्पूर्ण क्रान्ति

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 जनशक्ति की आवश्यकता
25.3 वर्ग संगठन
25.4 सामाजिक क्रान्ति
25.5 शैक्षिक क्रान्ति
25.6 आर्थिक क्रान्ति
25.7 राजनीतिक क्रान्ति
25.8 संपूर्ण क्रान्ति की प्रक्रिया
25.9 सारांश
25.10 बोध प्रश्न
25.11 प्रश्नों के उत्तर
25.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

25.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप —

- सम्पूर्ण क्रान्ति में जनशक्ति की भूमिका पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के विषय की व्याख्या कर सकेंगे।
- सम्पूर्ण क्रांति की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- एक नये भारत के निर्माण के लिये जयप्रकाश के विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

संपूर्ण क्रान्ति कोई गद्दी छीनने की, सत्ता हथियाने की लड़ाई नहीं है, बल्कि व्यवस्था-परिवर्तन, प्रक्रिया-परिवर्तन और नव-निर्माण की प्रक्रिया है। यह समस्त जनता की क्रान्ति है। उसका मोर्चा हर गांव और शहर में है, हर कार्यालय, विद्यालय और कारखाने में है, यहां तक कि हर परिवार में है। जहां जहां लोग समूह में रहते हैं और काम करते हैं, तथा जहां लोगों के परस्पर सम्बन्ध आते हैं, ऐसी सब जगह लड़ाई का मोर्चा है। और यह मोर्चा हर व्यक्ति के अपने अन्दर भी है, क्योंकि अपने पुराने और गलत संस्कारों से भी हमें लड़ना है। यही हमारी सम्पूर्ण क्रान्ति है।

25.2 जनशक्ति की आवश्यकता

शासन के द्वारा समाज में क्रान्ति और वह भी सम्पूर्ण क्रान्ति दुनिया में आज तक नहीं हुई है। क्रान्ति तो जनता के द्वारा ही होती है। अगर उस समय शासन क्रान्ति के अनुकूल हो तो उसको बल मिलता है और

नता के लिए काम आसान होता है। परन्तु समाज परिवर्तन का मुख्य साधन राज्यसत्ता नहीं हो सकती । अब तक क्रान्ति की जो पद्धतियां रही हैं, उनसे यह पद्धति भिन्न है। इसका कारण यह है कि सर्वोदय ी दृष्टि से राज्य स्वभावत: एक बल प्रयोग का साधन है। इसीलिए तो राज्य अधिकतर संगठित गुटों ी सत्ता लिप्सा की तृप्ति का एक साधन बना रहे, इसकी सम्भावना अधिक रहती है, जब कि हर क्ति के कल्याण की चिन्ता करने वाली समाज रचना के लिए राज्य सत्ता एक साधन बने, इसकी म्भावना उतनी नहीं रहती। राज्य सत्ता चाहे जिसके हाथ में हो, वह एक नीति-अनीति से निरपेक्ष शक्ति इसीलिए उसके द्वारा यदि नैतिक उद्देश्य सिद्ध करना चाहें तो हमें सर्वप्रथम समाज में नैतिक शक्तियां ड़ी करनी होगी। अत: अगर कोई यह समझने लगे कि सम्पूर्ण क्रान्ति और ऐसे अन्य दूसरे जो भी काम रने होंगे, उन्हें सरकार कर देगी तो यह बिल्कुल गलत होगा। सम्पूर्ण क्रान्ति की कल्पना में तो यह है ह सारे समाज में परिवर्तन हो , समाज के हर अंग मे हो, व्यक्ति के जीवन में हो, सामाजिक संस्थाओं रूप-रंग, चाल-चलन में हो, एवं उनके संगठन और कार्यपद्धति में परिवर्तन हो। इसके लिए जरूरत ऐसे लोगों की जो जनता के बीच नि:स्वार्थ भाव से काम करें, जनता को जाग्रत करें। शासन भी तना सहायक हो सके, उतना हो। लेकिन यह काम कार्यकर्ताओं का है। जनक्रान्ति जनता के ही हयोग से और उसके हाथों होती है। समाज-परिवर्तन का काम तो समाज में ही हो सकता है। मुख्यत: पका जो साधन होगा वह लोगों को समझाकर बदलने का होगा। जहां-जहां निहित स्वार्थों की तरफ से रोध खड़ा होगा, वहां वह एक सत्याग्रह का, संघर्ष का रूप ले सकता है। कानून बना देने से कोई माज नहीं बदलता है। वैवाहिक परम्पराओं की, विशेषकर तिलक-दहेज की प्रथा को लीजिये जो हार, बंगाल, उत्तर प्रदेश और कुछ अन्य राज्यों में प्रचलित है। इस बुराई को कानून से दूर करने की ोशिश की गयी है। परन्तु कानून निष्प्राण अक्षर की तरह रह गया है। इस बुराई का इलाज इसके विरूद्ध रदार सामाजिक आंदोलन, शान्तिपूर्ण संघर्ष छेड़ने के अलावा और कुछ नहीं है। इसी प्रकार भूमि धार तथा वासभूमि, काश्तकारी कानून की क्रियान्विति तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के निराकरण आदि की मस्याएं हैं।

सब काम सरकार के वश के नहीं है। इसके लिए व्यापक जन जागरण और संघर्ष आवश्यक है। इस रिस्थिति को बदलने के लिए गांव-गांव में क्रान्ति की ज्योति जलानी होगी, जिसके लिए व्यापक ाकशिक्षण की जरूरत है। लोगों को समझाने, लोगों को तैयार करने, उनके मानस बदलने की जरूरत है। ब तक लोक मानस नहीं बदलेगा, तब तक क्रान्ति , जन क्रान्ति, लोक क्रान्ति, सम्पूर्ण क्रान्ति नहीं होगी।

5.3 वर्ग संगठन

य प्रकाश नारायण का विचार था कि पिछड़े, शोषित और दलित लोगों को एक वर्ग के रूप में संगठित ना चाहिए। उन्होंने वर्गों, जातियों, व्यक्तियों और निहित स्वार्थों के आपसी संघर्ष का समर्थन किया न्तु उस संघर्ष मे जो दबाये हुए लोग हैं उनकी विजय हो, जो पिछड़े हुए हैं वे आगे आयें।

वों में आज वर्ग और जाति लगभग मिली जुली है। जो उच्च जाति के हैं उनमें ही अधिक उच्च वर्ग के ोग पाये जाते है। उच्च वर्ण और वर्ग के लोगों को समझा बुझा कर उन्हें जो विशेष सुविधाएं मिली हैं, ड़ाना और विभिन्न जातियों के बीच एकता का वातावरण बनाना काफी कठिन काम है। जो नीचे दबे वे जब तक अपनी ताकत को प्रतिपादित नहीं करते हैं, जब तक उनमें आत्मसम्मान की भावना पैदा हीं होती, तब तक ऊपरवालों में परिवर्तन कराना कठिन काम है। अगर ऊपर के लागों के मन परिवर्तन र ही निर्भर रहेंगे तो बहुत दिन लगेंगे। नीचे दबे लोगों को उठने की जरूरत है । दलित, शोषित आगे ायेंगे और अपनी ताकत को प्रकट करेंगे तो ऊपरवाले भी परिवर्तन के लिए तैयार होंगे। इसमें हिंसा होने ा खतरा है। लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक समानता का संघर्ष शान्तिमय ही होना चाहिए। इसमें जो

संघर्ष है वह गरीबों के संघटन के लिए तथा उनके प्रतिपादन के लिए है किन्तु उसका साधन शान्तिमय ही होना चाहिए और इस सबके लिए स्थायी संघर्ष चलते रहने की साम्यवादी कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार ऊपरवालों की उदारता पर निर्भर रहकर बैठे रहना काफी नहीं है। लेकिन इसमें अगर हिंसा का प्रयोग होगा तो समझ लेना चाहिए कि वह बहुत बुरा होगा। इससे संघर्ष पीछे जायगा। इसकी ओर हमें विशेष ध्यान रखना होगा, बरना हिंसा-प्रतिहिंसा की शृंखला बन जायेगी। हिंसा को किसी भी अवस्था में होने से रोकना ही चाहिए। ऐसी परिस्थिति ही बनने नहीं देनी चाहिए कि हिंसा फूट पड़े, अन्यथा इसमें गरीबों का ही नुकसान होगा। यदि हिंसा का रास्ता अपनाया जाता है तो उसमें वही मरेंगे, जिनके लाभ के लिए वर्ग संघर्ष की बात हम करते हैं। अपने रक्षण की नीचे के लोगों में बहुत कम ताकत है इसलिए वर्ग संघर्ष में हिंसा की कोई जगह नहीं है और वर्ग-संघर्ष में हिंसा को दूर रखा जा सकता है। वह शान्तिमय संघर्ष के रूप में, असहयोग के रूप में, सत्याग्रह के रूप में हो सकता है।

जय प्रकाश ने जिस वर्ग संघर्ष की बात की उसका स्वरूप मार्क्स के वर्ग संघर्ष जैसा नहीं है। जयप्रकाश के विचार में वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना हमारे काम नहीं आयेगी। वर्ग संघर्ष की उस कल्पना के पीछे काफी शक्ति लगी है। साम्यवादियों, समाजवादियों ने वैसा वर्ग संघर्ष संगठित करने की योजनाबद्ध कोशिशें की फिर भी उन्हें कोई बड़ी सफलता नहीं मिली है। वास्तव में मार्क्स ने जो कुछ कहा था वह औद्योगिक समाज पर लागू होता है, भारत के कृषि समाज में वैसा वर्गीकरण ठीक नहीं है। बहुत सी जगहों पर साम्यवादियों और समाजवादियों ने कोशिश की कि छोटे किसान और मजदूर एक हो जाएं, पर नहीं हुआ। छोटे किसान को मजदूर की अपेक्षा बड़ा भूमिवान अपना दिखाई देता है। जय प्रकाश अपने अनुभवों से इस नतीजे पर पहुँचे थे कि वर्ग संघर्ष से बचा नहीं जा सकता है। वह एक तरह से अनिवार्य है। जो हल चलाता है उसकी जमीन न हो, यह अन्याय है। उसको यह अधिकार मिलना चाहिये । जब तक नीचे के वर्गों में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा, उनके आत्मविश्वास का दबाव नहीं होगा, तब तक ऊपर के वर्गों का अपने आप बदलना सम्भव नहीं लगता है। उनके अनुसार जिसके सामने हमारा संघर्ष है उसको, उसके दिल को हम बदलने की कोशिश करेंगे, उसके प्रति हमारा भाव स्नेह का रहेगा, उसको हम कोई दुश्मन नहीं मानेंगे। यह नई बात इस वर्ग संघर्ष में होगी, जो आम तरह से मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष में नहीं होता है। हो सकता है कि इस काम को करते हुए हमें जेल जाना पड़े, लाठी खानी पड़ें, और भी संकट झेलने पड़े, तो इन सबके लिए हमें तैयार रहना पड़ेगा। क्योंकि नीचे लोगों की ऐसी संगठित ताकत का ऊपर के लोग प्रतिरोध करेंगे। इसलिए कष्ट बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए।

जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रान्ति के अन्तर्गत सामाजिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति और शैक्षिक क्रान्ति को शामिल किया है।

25.4 सामाजिक क्रान्ति

जातीयता हमारे लिए एक अभिशाप है । जातीयता का जो भाव लोगों के दिलों में बैठा हुआ है उससे हर क्षेत्र प्रभावित होता है। आज की राजनीति ने हमारी जाति व्यवस्था को मजबूत किया है। बुद्ध से लेकर या शायद उनसे भी पहले से आज तक कितने महापुरुषों ने उस पर प्रहार किया है, फिर भी उसका जोर आज कायम है। इसलिए अपने देश की परिस्थिति में शायद जातिवाद को मिटाना कुछ माने में वर्ग को मिटाने से भी अधिक महत्वपूर्ण है। हरिजन आज अलग बस्तियों में रहते हैं — तथाकथित 'ग्राम समुदाय' के क्षेत्र में अलग। अस्पृश्यता अभी भी भयावह है और अधिकांश गांवों में हरिजन सवर्ण के कुओं से पानी नहीं ले सकते ।

इसलिए यह समाज परिवर्तन का एक बहुत आवश्यक अंग है लेकिन इसकी तरफ ध्यान 'रेडिकल' लोगों का भी कम जाता है, जो अपने को क्रान्तिकारी मानते हैं। यह समाज परिवर्तन की दृष्टि से बहुत बड़ा क्रान्ति का विषय है। जब कि हम सम्पूर्ण क्रान्ति करने चले हैं, तो समाज के सभी अंगों में आमूल परिवर्तन लाना होगा। ऊँच-नीच के ये भेद मिटाने होंगे। हरिजन भी आखिर भगवान की ही सृष्टि हैं। उसी भगवान ने उसे भी पैदा किया है, जिसने हमको। आज समाज में न उनकी इज्जत है न कद्र है। ये सब दलित, शोषित बने ही रहे तो सम्पूर्ण क्रान्ति कभी नहीं होगी।

भगवान ने तो कहा है, 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' चातुर्वर्ण्य की सृष्टि मैंने गुण कर्म के अनुसार की है। तो कोई पंडित बने हुए हैं, और गुणकर्म सब उनके चमार के हैं, और फिर भी पूज्य होना चाहेंगे। क्यों ? दुराचारी, अन्यायी, लोभी होंगे, लेकिन ब्राह्मण कुल में पैदा हुए इसलिए ब्राह्मण कहलायेंगे? पंडित का चरण-स्पर्श होगा। हर्गिज नहीं होना चाहिए। मनुष्य के गुण कर्म के अनुसार उसकी इज्जत हो और बाकी अन्य सब बातों में सब समान ही माने जाएं। कोई मनुष्य अच्छा है तो वह अपनी जाति के कारण नहीं बल्कि अपने चारित्र्य के कारण हो। वैसे ही कोई बुरा आदमी है तो वह अपनीजाति के कारण नहीं, चरित्र्य के कारण होगा। समाज के मानस में हम इस प्रकार का परिवर्तन लाना चाहते हैं। ये सब बातें सम्पूर्ण क्रान्ति में आयेंगी।

जातिप्रथा टूटे उसके लिए एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम अन्तर्जातीय विवाह हो सकता है। इसी तरह जन्म और मृत्यु से जुड़े हुए भी कुछ और बुरे रिवाज हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति के द्वारा इन्हें खत्म किया जाना चाहिए। समाज की इन कुरीतियों, रूढ़ियों के खिलाफ भी संघर्ष की जरूरत है। शादी ब्याह का पवित्र संस्कार बाजारू बनकर रह गया है। तिलक दहेज जैसी कुरीतियां परिवार की प्रतिष्ठा और मर्यादा का अंग बन गयी हैं । उनके सामने कानून विवश है। इनसे मुक्त होने का पहला कारगर कदम यही है कि घर-घर में युवक और युवतियां विद्रोह का नारा बुलन्द करें।

25.5 शैक्षिक क्रान्ति

शिक्षा सबसे महत्व का क्षेत्र है, जिसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। जो नैतिक शिक्षा है, आध्यात्मिक शिक्षा है, जो शिक्षा का तत्व है, आत्मा है वो तो बराबर के लिए हर अवस्था में है। लेकिन बाकी तो परिस्थिति के अनुसार हमें लोगों को शिक्षित करना होगा।

वर्तमान सड़ी हुई व्यर्थ की शिक्षा पद्धति के विरुद्ध जेहाद बोलना होगा, क्योंकि यह शिक्षा व्यवस्था एक ओर तो हमारे अधिकांश बच्चों को अशिक्षित छोड़ देती है और दूसरी ओर वह बच्चों को गलत ढंग से शिक्षित करती है। आज भी अपने यहाँ अंग्रेजों की बनाई हुई शिक्षा पद्धति ही चालू है। प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। शिक्षा ऐसी हो जो जीवनोपयोगी हो, जिस शिक्षा को प्राप्त करके अपने पैरों पर खड़े हो सकें, कुछ कर सकें। वर्तमान शिक्षा से तो इतना ही होता है कि हम नौकरियां खोजते हैं, और दर-दर ठोंकरें खाते हैं। नौकरियां नहीं मिलती हैं तो कोई जीवन यापन का रास्ता ही नहीं रहता। माओ ने युवकों से कहा था कि कारखाने में, खेतों में जाओ, वहां जाकर सीखो। वहीं आपका विश्वविद्यालय है। गांधी जी ने भी यही कहा था कि विद्यार्थी स्वावलम्बी बने, उसका आत्मविश्वास बढ़े ऐसी शिक्षा होनी चाहिए।

शिक्षा में कोई मौलिक परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक या तो उपाधियां समाप्त न कर दी जाएं या उपाधियों का रोजगार से कोई सम्बन्ध न रहे। आज तो विद्यार्थी कुछ सीखे हो या न सीखे हों, फिर भी उन के सामने बी० ए०, एम० ए० की डिग्री हो जाने से नौकरी के लायक मान लिए जाते हैं और ज्यादा तो लोग पढ़ाई इसीलिए करते हैं, सीखने के लिए नहीं क्योंकि इससे नौकरी के लिए दरवाजा खुलता है।

इसलिए घोषणा कर देनी चाहिए कि केवल डिग्री के आधार पर नौकरी नहीं मिलेगी। हम जिस काम के लिए लोगों को नौकर रखेंगे उसके लिए अलग से परीक्षा लेंगे, तो हो सकता है औपचारिक शिक्षा किसी को बिल्कुल न मिली हो, फिर भी वह परीक्षा में पास हो जाय। जब तक डिग्रियां और नौकरी का सम्बन्ध तोड़ा नहीं जायेगा, तब तक डिग्री का यह झूठा मोह दूर नहीं होगा। इसलिए उनका विचार था कि नौकरियां देने वाले चाहे सरकारी क्षेत्र हो या निजी, जिस प्रकार का काम हो उसके अनुरूप स्वयं अपनी ओर से परीक्षाएं ले सकते हैं। भरती के बाद आवश्यकता हो तो वे अतिरिक्त शिक्षण और प्रशिक्षण की व्यवस्था कर सकते हैं। विश्वविद्यालय की ओर से मात्र एक प्रमाण पत्र दिया जाय कि विद्यार्थी कितने वर्ष महाविद्यालय में रहा, कितने घण्टे कक्षाओं में रहा और दुकानों, कारखानों, दफ्तरों और खेती आदि में कितना काम किया और किन विषयों में उसकी रुचि है। उसकी योग्यता और कार्यकुशलता को परखना उसे रोजगार देने वाले का काम होगा। शिक्षा प्रणाली को इस तरह गठित किया जाय कि उसका सीधा सम्बन्ध देश की समस्याओं से जुड़ सके। यह व्यवस्था भी हो कि न्यूनतम शिक्षा सबको मिल सके और अज्ञान तथा निरक्षरता का समूल नाश किया जा सके। शिक्षा की पद्धति में ऐसा परिवर्तन हो, जिससे विद्यार्थी की बुद्धि का विकास हो, और किसी भी प्रश्न के ऊपर वह बुद्धिपूर्वक विचार कर सके, इस प्रकार की शक्ति उसमें पैदा हो । यदि शिक्षा से इस प्रकार की शक्ति पैदा न हुई तो वह बेकार शिक्षा है। स्वतंत्र रूप से, अपनी बुद्धि से शिक्षित आदमी विचार कर सके, ऐसी योग्यता उसकी होनी चाहिए।

25.6 आर्थिक क्रान्ति

अर्थव्यवस्था के संदर्भ में जयप्रकाश ने खेतिहर क्रान्ति की जरूरत पर बल दिया। उनका मानना था कि उन प्रदेशों में , जिनमें जमीदारी रही है, वहां के ग्रामीण समाज में, वहां की रचना में, सम्बन्धों में बदलाव के बिना कोई बुनियादी परिवर्तन होने वाला नहीं है। कमजोर और गरीब लोगों को नाम की मालकियत भले ही मिल जाय, लेकिन वास्तविक सत्ता विभिन्न वर्गों और जातियों के निहित स्वार्थों के ही हाथों में रहेगी। कानून पास होते हैं, लेकिन उन पर अमल नहीं होता है, खाते में नाम हरिजन का होता है और कब्जा सवर्णों के हाथ में रहता है। महाजनी का मामला बड़ा पेचीदा है। ऊपर के लोगों के पास यह इतना बड़ा साधन है कि उसके भरोसे छोटे किसानों और भूमिहीनों पर उनका प्रभुत्व बना ही रहता है।

आमतौर पर राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं में भूमि सुधार के कानूनों के सम्बन्ध में बहुत रुचि नहीं होती, उत्साह नहीं होता। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि परिवर्तन केवल कानून से नहीं होता । परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि उसके दर्शन को स्वीकार करने वाला कार्यकर्ताओं का एक बड़ा समुदाय हो, जो सिर्फ कानून बन जाने के कारण किसी नीति को स्वीकार न करते हों, बल्कि इसलिए मानते हों कि वह नीति सही है, उसमें उनकी निष्ठा है, रुचि है।

विनोबा ने जनशक्ति से, विचारशक्ति से, प्रेम की शक्ति से लाखों एकड़ जमीन का बंटवारा भूमिहीनों में कराया। इस कार्य को विश्वासपूर्वक आगे बढ़ाया गया होता तो काफी प्रगति होती और शायद भूमि की समस्या जहां तक सम्भव है मौजूदा परिस्थिति के अन्दर हल हो गयी होती।

जय प्रकाश ने भूमि व्यवस्था में एक नवीन कल्पना की, जिसमें स्वामित्व गाँव का होना चाहिए, भूमि के ऊपर कब्जा किसान का होना चाहिए। पीछे यह दृष्टिकोण है कि समाज में जो सम्पत्ति है, खास करके जो प्राकृतिक सम्पत्ति है वह सम्पत्ति तो समाज की है। वह व्यक्ति के हाथों में रह सकती है, पर व्यक्ति की संपत्ति के रूप में नहीं, जीविका के साधन के रूप में, यही उसके पीछे मूल विचार है। इसलिए जो अपने हाथों से खुद खेती करता हो, उसी का जमीन पर कब्जा हो। कभी-कभी मजदूरों की जरूरत पड़ती है, तो वो मजदूर रखे, लेकिन खुद खेती करता हो, यह आवश्यक है।

ापार उद्योग के क्षेत्र में भी कई समस्याएं सामने हैं। आज पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, निजी क्षेत्र ौर सार्वजनिक क्षेत्र में उठने वाली समस्याओं का कोई ठोस हल नहीं निकल पाया है। इन समस्याओं हल के प्रयास में कायदे कानून बनते हैं, जहां अधिनायक वाद है वहां डराने धमकाने के तरीके पनाये जाते हैं, लेकिन बावजूद इसके, जब तक लोगों के हृदय का स्पर्श नहीं किया जाता, समस्याएं लझती नहीं है। माओ ने बहुत मेहनत की। उसने चाहे पार्टी की हो, प्रशासन की हो या तकनीशियनों ी, सभी क्षेत्र की नौकरशाही को तोड़ने की कोशिश की, फिर भी वह सफल नहीं हो पाया।

स प्रकार कुल मिलाकर यही अनुभव आया है कि कानून, भय, हिंसा के किसी भी माध्यम से की गयी ान्ति के बाद ये सवाल हल नहीं हो पाये हैं। जब तक किसी भी काम को करते हुए मानवीय मूल्यों की रणा सामने नहीं होगी, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। हम केवल अपने लिए ही काम नहीं कर रहे हैं। इसमें मारे आस-पास के लोग, समाज, देश आदि भी हमसे जुड़े हुए हैं- ऐसी भावना तक हर आदमी को ठाना पड़ेगा। वह किसी की हैसियत से काम कर रहा हो, एक नागरिक, व्यापारी, शिक्षक, डाक्टर या कील हो किसी उद्योग का मालिक, मैनेजर या मजदूर हो, वह समाज के प्रति अपने क्या कर्तव्य हैं, न्हें समझकर अपने कार्य को ईमानदारी के साथ पूरा करे, हर आदमी अपनी बुद्धि, धन और श्रम का ालिक नहीं बल्कि ट्रस्टी है, यह भावना जाग्रत हो।

5.7 राजनीतिक क्रान्ति

जिस प्रकार का संसदीय लोकतंत्र भारत ने स्वीकारा है, हमारे लोकतंत्र की कल्पना उससे अधिक ापक और गहरी होगी। अभी जो पाश्चात्य कल्पना है राजनैतिक लोकतंत्र की, उसमें आर्थिक लोकतंत्र ी कल्पना नहीं के बराबर हैं। समाजवादी आन्दोलन के कारण थोड़ा बहुत मजदूर आन्दोलनों, आर्थिक ार्यक्रमों, आदर्शों और विचारों का प्रवेश हुआ है। परन्तु मूलत: वह एक राजनैतिक कल्पना ही है। ह लोकतंत्र अपने देश में इतने दिनों तक चला और उसके चलने के लिए जो आवश्यक वातावरण ाहिए और जो आवश्यक औजार चाहिए वे सब पिछले वर्षों में पैदा होते रहे। एक गरीब देश, जहां के ोग इतनी बड़ी संख्या में अनपढ़ हैं, वहां यह लोकतंत्र तीस वर्षों से टिका रहा , यह हमारे लिए और श की जनता के लिए गौरव की बात है। अब यह लोकतंत्र सच्चे अर्थों में जनता का राज बने, इसके नए लोकतंत्र की बुनियाद मजबूत करने की आवश्यकता है।

य प्रकाश ने अनुभव किया कि सत्ता के केन्द्रित होते जाने में बहुत बड़ा खतरा है। इसीलिए हमारा ध्यान ब तक उपेक्षित रही स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं की ओर जाना चाहिए। ग्राम, प्रखण्ड और जिला र की ये स्थानीय संस्थाएं ही हमारी लोकतंत्र की बुनियाद को मजबूत बना सकेंगी। सत्ता हथियाने, नाशाही लादने की वृत्ति के विरुद्ध ऐसी विकेन्द्रित व्यवस्था ही ढाल बन सकती है। इसलिए हमारा काव सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर होगा। इसके परिणामस्वरूप आम जनता के जीवन को प्रभावित रने वाले सवालों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में देश के दूर दराज के गांववालों को शामिल किया जा केगा।

5.8 सम्पूर्ण क्रान्ति की प्रकिया

ोकतंत्र की बुनियाद ग्राम स्तर पर मजबूत करने में राजनीतिक दलों को अधिक रुचि नहीं होगी। यह ाम तो सर्वोदयी कार्यकर्ताओं और अन्य निर्दलीय तत्वों को ही करना है। यह भी हो सकता है कि जनता ी शक्ति बढ़ने लगे, तो वह उल्टे दलवालों को अपने लिए खतरे के रूप में दिखाई दे। इसलिए यह काम र्दलीय तत्वों का ही है। सर्वोदय आन्दोलन यह काम वर्षों से करता आया है और उसकी ग्राम स्वराज ी बात अभी भी उतनी ही प्रासंगिक है। ग्रामस्वराज्य के आधार पर ही लोकतंत्र को मजबूत बनाया जा

सकेगा। बुनियादी निर्माण का काम यही है। यह सब करेंगे तो वास्तव में जनता का राज लाने की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

लोकतंत्र की मजबूती के लिए यह जरूरी है कि हम अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सचेत हो जाएं संगठित हो जायं। लोकतंत्र से नागरिक जितना अलग और उदासीन रहेगा, उतना ही कमजोर और कुण्ठित लोकतंत्र चलेगा लोकतांत्रिक मूल्यों की चेतना के बगैर लोकतंत्र निर्जीव ढांचा भर रह जायेगा। इस बुनियादी कमजोरी की परख आपातस्थिति में हो चुकी है। जब देश पर अचानक आपातस्थिति लाद दी गयी, तब लोगों की जो प्रतिक्रिया हुई वह उतनी उत्कट एवं उतनी अधिक नहीं हुई, जितनी होनी चाहिए। करोड़ों लोग बाहर थे उन्होंने तानाशाही को चुपचाप स्वीकार कर लिया। ऐसा इसलिए हुआ कि जनता में अपने अधिकारों का बोध नहीं था। उन्होंने इस बात को समझा नहीं कि वे क्या क्या खो रहे हैं। इसीलिए उसकी रक्षा की तीव्रता उतनी नहीं थी। आज भी देश में बहुत कम लोग ऐसे हैं जो नागरिक की स्वतंत्रता, अधिकार, उसके कर्तव्यों को जानते हैं और उससे भी कम संख्या उनकी है, जो इन सबकी रक्षा के लिए अपने को खतरे में डाल सकते हैं।

इसलिए एकमात्र रास्ता यह रह जाता है कि लोगों के पास जाकर उन्हें इस विषय में सजग करें कि स्वातंत्र्य का अर्थ क्या होता है। जनतंत्र के मूल्यों के बारे में लोगों को जाग्रत करना चाहिए। व्यापक लोकसंपर्क, लोक-शिक्षण करना चाहिए। हम सब चाहे जिस किसी व्यवसाय में हों या समाज में किसी पद पर हों, हमें इस लोकशिक्षण में कुछ न कुछ योगदान करना चाहिए। राजनीति से मुक्त लोगों के संगठन उनके सवालों को हल करने और उनके अपने पांव मजबूत करने में सहायक हो सकते हैं। हम युवकों, किसानों, मजदूरों, हरिजनों आदिवासियों आदि के बीच जाये, उनको विचार समझाने और उनके बीच से संगठन खड़ा करने का काम नहीं करते, तो सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन की प्रगति रुक जायेगी। लोकशिक्षण द्वारा ही लोकचेतना को जाग्रत और जीवंत रखने का काम हो सकता है। ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो कि जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ भी न कर सके। जनता को निरंतर जागरूक और सावधान रहना है। इसके बिना स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। मात्र मतदान कर देने से कर्तव्य पूरा हो गया ऐसा नहीं मानना चाहिए। सम्पूर्ण क्रान्ति में तो समाज के सर्वथा नये स्वरूप की कल्पना है। जब लोक-समाज जीवन के कार्यों में प्रत्यक्ष हिस्सा ले सके और तन्त्र 'लोक' की अनुमति और सहमति से काम करता हो, सच्चा लोकतंत्र तभी संभव होगा। इसके लिए लोकचेतना जाग्रत और सक्रिय रखनी होगी। इस तंत्र का केवल यह अर्थ नहीं कि जनता के मत से शासन स्थापित हुआ बल्कि यह भी कि जनता में ऐसी क्षमता भी हो कि वह शासकों को नालायक पाये जाने पर उन्हें पद से हटा भी सके। परन्तु आज भी हमारे संविधान और लोकतांत्रिक संस्थाओं में तथा उनके तहत चलनेवाली प्रक्रियाओं में जन प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रति जवाबदेह बनाये रखने की कोई व्यवस्था नहीं है। इस तरह की व्यवस्था न होने से खासकर हमारे देश में, जिसका समाज अत्यन्त पिछड़ा हुआ है और जहां एक विकसित लोकतंत्र का बुनियादी ढांचा बिल्कुल ही नहीं बन पाया है। जन प्रतिनिधि एकदम मनमानी करने लगते हैं जनता की इच्छा, आकांक्षा और उसके हितों की पूरी तरह उपेक्षा कर वे जो मन में आता है, करते हैं। ऐसी ही स्थिति ने मौजूदा आदर्शहीन और नियम कानून रहित राजनीति को जन्म दिया है। आज की परिस्थिति में मतदाता को केवल इतना ही अधिकार प्राप्त है कि वह चुनाव में अपना मतदान करे। परन्तु मतदान प्रक्रिया न तो स्वच्छ और स्वतंत्र होती है, न उम्मीदवारों के चयन में मतदाताओं का हाथ होता है और न चुनाव के बाद अपने प्रतिनिधियों पर उनका कोई अंकुश ही रहता है।

जयप्रकाश जी ने जनशक्ति के संगठित प्रकटीकरण के लिए लोक समितियों के गठन का कार्यक्रम देश के समक्ष रखा। लोकतंत्र को प्राणवान और विकासशील बनाये रखने के लिए नागरिकों को ऐसे व्यवस्थित और मजबूत संगठन की जरूरत है। चुनाव के लिए उम्मीदवारों के चयन की प्रक्रिया में भी लोग भाग लेने लगें, इसका ढांचा लोक समितियों के रूप में खड़ा हो सकेगा। जैसे कि एक-एक गांव, एक पोलिंग

बूथ की एक-एक समिति बने और उसके एक-एक प्रतिनिधि को लेकर पूरे चुनाव क्षेत्र की एक लोक समिति बने वह चुनाव में अपना उम्मीदावर खड़ा करे, या ऐसा न कर सके तो खड़े हुए किसी उम्मीदवार का समर्थन करे। उम्मीदवार किसी दल का हो या निर्दलीय हो, परन्तु वह ऊपर से ही न तय कर दिया जाय। स्थानीय लोक समिति के साथ चर्चा करके उम्मीदवार तय किये जाएं। इसके लिए कोई पद्धति तय करनी होगी। कुछ शर्तें बनानी होंगी। यह भी देखना होगा कि उसके ऊपर जनता का कोई आरोप तो नहीं है।

निर्वाचित प्रतिनिधि लोगों के प्रति जिम्मेदार रहे, अपने काम की रिपोर्ट नियमित रूप से मतदाताओं को देता रहे। ऐसी भी कोई न कोई व्यवस्था इन लोकसमितियों द्वारा करनी होगी । ये लोकसमितियां अपने प्रतिनिधियों पर हमेशा निगरानी रखेंगी। अगर वह प्रतिनिधि किसी दल का हो तो भी अपने दल के आदेश की अपेक्षा लोगों की इच्छा को सर्वोपरि माने। अपने प्रतिनिधियों पर इस प्रकार का जनता का अंकुश रहे, ऐसी कोई न कोई व्यवस्था खड़ी करने के लिए हमें कोशिश करनी है। यह चीज अपने लोकतंत्र को अधिक प्रभावकारी बनाने में एक स्थायी भूमिका निभाती रहेगी।

इस प्रकार लोकसमितियां दो रूपों में काम करेंगी। ये दो रूप हैं: (1) उम्मीदवारों के चयन के समय संकेत परिषद् या परामर्श मंडल के रूप में काम करना (2) अपने स्थानीय प्रतिनिधि के ऊपर और शासन की सम्पूर्ण कार्य पद्धति पर प्रहरी के रूप में तथा दायित्व प्रेरक के रूप में काम करना। इस प्रकार लोकसमिति जन शक्ति का एक माध्यम बनेगी। और वह मात्र चुनाव तक ही नहीं, बल्कि एक स्थायी शक्ति बनी रहेगी।

इसके अलावा हमें जनता को इस तरह शिक्षित और संगठित करना है, ताकि वह समाज-परिवर्तन के काम में अपने अभिक्रम से सक्रिय बने। परम्परागत राजनीति ने इस तरफ बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया है। वह कानून, प्रशासकीय प्रक्रियाओं, योजनाओं और विकास के कार्यक्रमों पर ही पूरी तरह अवलम्बित रही है। लेकिन ऐसे भी कानून हैं, जिन पर, जनता को सक्रिय रूप से साथ न लेने पर पूरी तरह अमल नहीं किया जा सकता। सिर्फ जमीन की उच्चतम सीमा निर्धारित करने का कानून पास कर देने या प्रशासकीय कार्रवाई से बेनामी जमीन और जमीन के झूठे बन्दोबस्त की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता । इस तरह बची हुई जमीन भी भूमिहीनों में बाँटी नहीं जा सकती। ऐसे ही बटाईदारी, काश्तकारी, न्यूनतमकृषि , मजदूरी, बासगीत जमीन और कर्ज देने सम्बन्धी कानूनों को कानूनी व प्रशासकीय तन्त्र द्वारा लागू नहीं किया जा सकता । कानून अच्छे से अच्छे बने हैं पर उन पर अमल तब तक नहीं होगा, जब तक कि जनशक्ति का निर्माण न हो। इसके लिए समितियां कायम हों हर छोटे-छोटे गाँवों से लेकर ऊपर तक और सक्रिय हों तो यह काम आसान होगा।

लोकसमितियों का काम सम्पूर्ण क्रान्ति का वाहक बनना है। उनका काम तो समाज के हर अन्याय और अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना है। गांव में छोटे अफसरों या कर्मचारियों की जो घूसखोरी चलती है, उसके खिलाफ लोकसमितियां संघर्ष करेंगी। पिछड़े दलितों के खिलाफ गांव में तरह तरह के अन्याय होते हैं। समितियां उन अन्यायों को भी रोकेंगी। जाति-पाँति और वर्गभेद , कुरीतियों, शोषण, निहित स्वार्थों, दादती के खिलाफ ये समितियां बराबर संघर्ष करती रहेंगी। इस प्रकार केवल लोकतंत्र को मजबूत बनाने के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, नैतिक क्रान्ति के लिए अथवा सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए लोक समिति एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करेगी।

लोक समितियां जब ये काम करने लगेंगी तभी सम्पूर्ण क्रान्ति और स्वराज के सपने को पूरा किया जा सकता है।

25.9 सारांश

सम्पूर्ण क्रान्ति विश्व में अब तक हुई अधिकतर क्रान्तियों से इस रूप में भिन्न है कि इसमें सामाजिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनीतिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति, बौद्धिक क्रान्ति, शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति का सम्मिलन है जबकि अन्य क्रान्तियां मुख्यत: राजनीतिक रही हैं। इसमें हिंसा का कोई स्थान नहीं है. सम्पूर्ण क्रान्ति की वैचारिकी समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की भावना के आधार पर नये समाज और मनुष्य के निर्माण की है। वास्तव में संपूर्ण क्रान्ति एक रूप में सर्वोदय है। लोक समितियां ही सही औजार हैं जो जनप्रतिनिधियों पर नियंत्रण और निचले स्तर पर जनजागरण दोनों की कमान संभाल सकते है। इसके बिना सम्पूर्ण क्रान्ति एवं स्वराज्य के सपने को हम पूरा नहीं कर सकते।

25.10 बोध प्रश्न

प्र. 1 संपूर्ण क्रान्ति की विवेचना करें।

प्र. 2 संपूर्ण क्रान्ति से किस प्रकार सामाजिक क्रान्ति संभव है ?

प्र. 3 आर्थिक क्रान्ति के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालिये।

प्र. 4 राजनीतिक क्रान्ति किस तरह संभव है?

प्र. 5 संपूर्ण क्रान्ति की प्रक्रिया की विवेचना करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जय प्रकाश वर्तमान शिक्षा प्रणाली के —

(अ) समर्थक थे (ब) विरोधी थे (स) कुछ संशोधन चाहते थे (द) कोई नहीं

2. सम्पूर्ण क्रान्ति तभी संभव है जब गांवों में —

(अ) शिक्षा हो (ब) आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो (स) लोक समिति का गठन किया जाय

(द) कोई नहीं ।

3. सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के लिए जय प्रकाश ने किस तरह के वर्ग संघर्ष की जरूरत पर बल दिया?

(अ) सशस्त्र वर्ग संघर्ष (ब) परम्परागत जाति वर्ग संघर्ष (स) अहिंसक वर्ग संघर्ष

(द) कोई नहीं।

25.11 प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. स 3. स

25.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जय प्रकाश नारायण — संपूर्ण क्रान्ति
   सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी
2. जय प्रकाश नारायण — मेरी विचार यात्रा भाग – 1
   सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी
3. जयप्रकाश नारायण — सामुदायिक रूप और चिन्तर
   सर्व संवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी
4. सुधांशु रंजन — जय प्रकाश नारायण
   नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ।

इकाई 26 लोकतंत्र

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप

26.2.1 नैतिक मूल्यों का संकट

26.2.2 भोगवादी प्रवृत्तियों का संकट

26.2.3 जाति प्रथा का संकट

26.3 सहभागी लोकतंत्र

26.3.1 सहभागी लोकतंत्र का आधार

26.3.2 चुनाव

26.3.3 कार्य

26.4 संसदीय लोकतंत्र

26.4.1 दलगत राजनीति का दोष

26.4.2 केन्द्रीकृत सत्ता का दोष

26.4.3 निर्वाचन पद्धति का दोष

26.5 सारांश

26.6 बोध प्रश्न

26.7 प्रश्नों के उत्तर

26.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप—

- वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के संदर्भ में जयप्रकाश के विचारों का विवरण कर सकेंगे।
- आधुनिक लोकतंत्र की कमियों की चर्चा कर सकेंगे।
- सहभागी लोकतंत्र के बारे में टिप्पणी कर सकेंगे।
- संसदीय लोकतंत्र और उसके दोषों का वर्णन कर सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

जय प्रकाश ने आधुनिक लोकतंत्र में उत्पन्न विसंगतियों को देखा। उन्होंने यह देखा कि पश्चिम में, दो सौ वर्षों के लोकतंत्र के बाद भी, मनुष्य पूंजीवाद की चुनौती का सामना कर रहा है और भारत में भी

लोकतंत्र का वास्तविक लाभ जनता को नहीं मिल रहा है। पहले उन्होंने जनता के शासन की स्थापना के लिए मार्क्सवादी दर्शन का सहारा लिया, परन्तु काफी लम्बे समय के अनुभव, चिंतन- मनन से गांधीवादी हो गये। उनका विचार था कि हमारा लोकतंत्र एक बहुत ही संकीर्ण आधार पर टिका है। यदि अपने लोकतंत्र को सुदृढ़ और टिकाऊ बनाना है तो उसके आधार को विस्तृत करना ही होगा और उसके ऊपर के स्तरों का निर्माण बुनियादी रचना के अनुरूप करना होगा।

26.2 लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप

आजादी के बाद भारत में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की स्थापना की गयी। इससे जनसामान्य की आकांक्षा, आवश्यकताएं एवं समस्याओं के समाधान की आशा की गयी थी लेकिन लोकतंत्र के तात्कालिक अनुभवों ने निराशाजनक तस्वीर पेश की। जय प्रकाश नारायण ने आधुनिक लोकतंत्र और उसकी राजनीति पर प्रहार करते हुए फरवरी 1970 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था कि "आज की राजनीति में विशृंखलता फैलती जा रही है। दलों के आदर्शों के विस्तार की अपेक्षा उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण, आदर्शों का अवमूल्यन, व्यक्तिगत तथा विशेष हितों के लिए दल निष्ठा का परिवर्तन, विधायकों का क्रय विक्रय, दल की आन्तरिक अनुशासनहीनता, दलों के बीच अवसरवादी मित्रता तथा सरकार की अस्थिरता आदि आज के विचारणीय विषय बन गये हैं।" जय प्रकाश के अनुसार आधुनिक लोकतंत्र सिर्फ कहने के लिए जनता का शासन है। आज तक जनता कहीं भी अपने को शासित नहीं कर सकी है और न यह संभव है। सरकारों का संचालन सदा ही थोड़े विशिष्ट अभिजात्य कुलों के हाथ में रहा है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय है बहुतों पर थोड़ों का शासन अर्थात कुलीनतन्त्रात्मक शासान व्यवस्था। इनके विचार में लोकतंत्र का तात्पर्य यही है कि जनता का नेतृत्व करने का सुयोग हर व्यक्ति को मिल सकता है। पश्चिम में लोकतंत्र का जो स्वरूप प्रचलित है, उसमें विचारों की विभिन्नता और उनके आधार पर नेताओं की विविधता के लिऐ पर्याप्त अवसर है। इस विभिन्नता और विविधता के बीच से ही जनता अपनी रूचि के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। इस दृष्टि से लोकतंत्र की परिभाषा इन शब्दों में की जा सकती है। "सरकार को पदारूढ़ और पदच्युत कर सकने की जनता की सक्षमता"। लोकतंत्र को इसके अतिरिक्त और कुछ कहना शब्दों का दुरुपयोग मात्र है। जयप्रकाश नारायण द्वारा वास्तविक लोकतंत्र स्थापित करने के लिए कुछ मूलभूत विचार व्यक्त किये गये हैं।

26.2.1 नैतिक मूल्यों का संकट

लोकतंत्र की समस्या मूलत: नैतिक समस्या है। संविधान, शासन प्रणाली, दल, निर्वाचन ये सब लोकतंत्र के अनिवार्य अंग है। किन्तु जब तक लोगों में नैतिकता की भावना न रहेगी, लोगों का आचार-विचार ठीक न रहेगा तब तक अच्छे से अच्छा संविधान और राजनीतिक प्रणाली के बावजूद लोकतंत्र ठीक से काम नहीं कर सकता।

लोकतंत्र का सफल संचालन तभी संभव है जब देश के नागरिक सत्यप्रिय हों अहिंसावादी हों स्वतंत्रता प्रेमी हों दमन का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने की उनमें क्षमता हो, वे कर्तव्यपरायण हों उनमें उत्तरदायित्व की भावना हो और सीधा तथा सरल जीवनयापन करने में वे विश्वास रखते हो, अन्त में वे मानव बन्धुत्व और समानता की भावना से पूर्ण हों। ये गुण तथा प्रवृत्तियों मनुष्य में जन्मजात नहीं होती है। किन्तु शिक्षण द्वारा इन्हें प्राप्त कर लेने एवं जीवन में ढाल लेने की योग्यता उत्पन्न की जा सकती है। मानव में इन गुणों का उन्नयन राज्य का कार्य नहीं है। सामाजिक जीवन इस ढंग का होना चाहिए कि समाज के प्रत्येक सदस्य में ये भाव एवं गुण स्वयमेव उत्पन्न हों। सामाजिक आचार-व्यवहार, परिवार, धार्मिक

एवं शैक्षणिक वातावरण, प्रतिष्ठित जनों के आचरण तथा जनमत का निर्माण करने वाली संस्थाओं को संयुक्त रूप से इस बात के लिए यत्नशील होना चाहिए कि लोकतंत्र के विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न की जा सके ।

लोकतंत्र का मतलब विविध लोकतंत्रात्मक संस्थाएं ही नहीं हैं। वस्तुत: इसकी भावना का समावेश जनजीवन में होना चाहिए। तत्वत: यह जीवन की एक प्रणाली है। लोकतंत्र की चरितार्थता प्रतिनिधिक विधानसभाओं अथवा निर्वाचित सरकारों में नहीं, वरन् लोगों के स्वेच्छाप्रेरित सहयोगात्मक कार्यों में है, जिसमें वे मिल जुलकर अपनी समस्याओं का समाधान करते हैं, अपने हितों का साधन करते हैं और अपनी व्यवस्था का संचालन करते हैं। प्रोफेसर हेराल्ड लास्की का भी विचार है कि लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जबकि लोग स्वेच्छा से प्रेरित होकर अपने कर्तव्यों का पालन करें। जिन लोगों ने अध्यवसाय और प्रेरणा शक्ति का परिचय दिया है, उनके देश में लोकतत्रांत्मक व्यवस्था सफल रही है।

26.2.2 भोगवादी प्रवृत्तियों का संकट

वर्तमान युग एक भौतिकवादी युग है, चाहे पूंजीवाद हो या समाजवाद अथवा साम्यवाद, भौतिक मूल्य जीवन के अन्य सभी मूल्यों को निष्प्रभावी कर देते हैं। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्ति होना आवश्यक है। लेकिन यदि भौतिक आवश्यकताएं अपरिमित हो जाएं और मनुष्य का सर्वोपरि कार्य उत्तरोत्तर अधिक से अधिक पाने की अतृप्त बुभुक्षा को संतुष्ट करने का अनन्त प्रयास बन जाये तो मानवीय क्रियाकलाप में एक असंतुलन बन जाता है। पश्चिम में बिल्कुल यही स्थिति है। आधुनिक उद्योगवाद ने चाहे वह पूँजीवादी, समाजवादी या साम्यवादी हो, अधिकाधिक वस्तुओं के लिए अतृप्त बुभुक्षा पैदा की है, उसके साथ लोकतंत्र का सह अस्तित्व असंभव है। वास्तविक रूप से समता एवं स्वतंत्रता का उपभोग करने और स्वशासन पर अमल कर सकने के लिए मनुष्य को स्वेच्छापूर्वक अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। अन्यथा अधिकाधिक वस्तुओं के लोभ के फलस्वरूप पारस्परिक संघर्ष, बल प्रयोग, अपहरण तथा युद्ध पैदा होंगे, और साथ ही उत्पादन की एक ऐसी जटिल पद्धति पैदा होगी जो लोकतंत्र के हाथ-पैर बांधकर उसे अधिकारितंत्री अल्पतंत्र के हवाले कर देगी। आज अधिक वस्तुओं की चाह और अधिक स्वतंत्रता की चाह, जीवन के इन दो मूल्यों के बीच संघर्ष है। इन दो मूल्यों में किसका चुनाव भारत करेगा, यह संसद या किसी प्रकार की राजनीतिक कार्रवाई पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि अन्य बातों के साथ, इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के विशिष्ट लोग अपने वैयक्तिक जीवन में कौन-सा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

लोकतंत्र के सामने सबसे कठिन प्रश्न यह है कि जब स्वतंत्रता रहती है तब लोग अपने भौतिक हितों के लिए उसका दुरुपयोग करते हैं और राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है। जब राज्य का हस्तक्षेप होता है तो स्वतंत्रता में कटौती होती है। इस दुविधा को समाधित करने का कोई राजनीतिक उपाय नहीं है केवल नैतिक उपाय ही है। स्वतंत्रता रूपी सिक्के का प्रतिपूरक पहलू दायित्व है यदि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व उठाने के लिए तैयार नहीं है और यदि वह स्वतंत्रता का उपयोग स्वार्थवर्द्धन के लिए करता है तथा दूसरों के हितों की उपेक्षा करता है या उन्हें हानि पहुँचाता है, तो किसी न किसी प्रकार राज्यवाद अनिवार्य हो जायेगा । यहीं गांधीजी के न्यासिता के सिद्धान्त की उपयुक्तता एवं बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। राज्यवाद एवं सर्वसत्तावाद का एकमात्र उत्तर न्यासिता है।

26.2.3 जाति प्रथा का संकट

लोकतंत्र की समस्या का उन सामाजिक संस्थाओं एवं मानसिक स्थितियों से घनिष्ट संबंध है,जिनका प्रतिनिधित्व जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता की प्रथा करती है। जिस समाज में मनुष्य अपने जन्मदाता

MASY 01 16B

परिवारों के अनुसार उच्च, निम्न या अस्पृश्य समझे जाते है, वह समाज लोकतत्र से बहुत दूर है। यह बिल्कुल भिन्न बात है कि व्यक्तियों में जन्म से ही विभिन्न प्रकार की क्षमताएं तथा अभिवृत्तियां निहित होती है यह एक जीववैज्ञानिक तथ्य है। जिससे जाति का कोई संबंध नहीं होता है। जातिगत श्रेणी तथा अस्पृश्यता की प्रथा इस देश में लोकतंत्र का सबसे बड़ा और दुर्दान्त शत्रु है। इसका समाधान राजनैतिक नहीं शैक्षणिक कार्य है । बहुत कम अंश तक, यह आर्थिक कार्य भी है। दलित एवं पिछड़ी जातियों का सामाजिक दर्जा, निस्संदेह, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने से ऊपर उठेगा। लेकिन यह मान लेना गलत होगा कि केवल आर्थिक सुधार जाति भेदों को मिटाने के लिए काफी होगा। आर्थिक रूप उन्नत जातियां भी आपस में श्रेणीगत विभेद मानती है।

भारतीय लोकतंत्र के समक्ष कुछ अन्य समस्यायें भी हैं जो निम्नलिखित हैं —

पूंजी निर्माण की समस्या, श्रम एवं साधनों के संचालन और उपयोग की समस्या तथा आर्थिक विकास की अन्य ऐसी समस्याएं, लोकतंत्र की अपेक्षा साम्यवादी या अन्य प्रकार के अधिनायकतंत्र के अन्तर्गत, स्पष्टत: अधिक आसानी और अधिक तेजी से हल हो सकती है। यह साम्यवाद के प्रति पिछड़े देशों के बुद्धिवादियों के आकर्षण का एक कारण है। इन देशों के लोगों के सामने एक नैतिक विकल्प उपस्थित होता है। लोकतंत्र का चुनाव करने वाले ने उच्चतर जीवन पद्धति को चुनकर यह सिद्ध किया है कि वे, उन लोगों की अपेक्षा अधिक विकसित मनुष्य है, जिन्होंने भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आत्मिक वस्तुओं की बलि चढ़ायी है।

लोकतंत्र केवल प्रतिनिधिक सभाओं तथा निर्वाचित सरकारों के माध्यम से काम नहीं करता, बल्कि वह उतने ही सच्चे अर्थ में नागरिकों की स्वैच्छिक संस्थाओं तथा कार्यों के माध्यम से कार्य करता है। जिनका संचालन और संस्थापन वे अपनी समस्याओं से निबटने, अपने हितों को आगे बढ़ाने तथा अपने काम काज का प्रबन्ध करने के लिए करते हैं। लोकतंत्र के अंदर स्वैच्छिक कार्यों के आधार पर लोकतंत्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। ऐसे लोगों के बीच जिन्होंने अभिक्रम एवं उद्यमशीलता का परिचय दिया है, लोकतंत्र सर्वोत्तम ढंग से चलता रहा है।

26.3 सहभागी लोकतंत्र

जयप्रकाश ने पाश्चात्य लोकतंत्र की अवधारणा को जन्म दिया। इसका तात्पर्य है शासन में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी। उनके अनुसार यदि अपने लोकतंत्र को सुदृढ़ और टिकाऊ बनाना है तो उसके आधार को व्यापक रूप देना होगा। यदि बुनियाद मजबूत होगी तो लोकतंत्र की संपूर्ण इमारत के गिरने का खतरा कम रहेगा। ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता का हित निहित होगा और उसे साथ ही स्वराज्य की अनुभूति मिल सकेगी।

26.3.1 सहभागी लोकतंत्र का आधार

सहभागी लोकतंत्र की स्थापना के लिए व्यापकतम अर्थ में जनता का शिक्षण पहली आवश्यक शर्त है । यह शिक्षण का कार्य सर्वोत्तम ढंग से ग्रामीण विकास या सामाजिक सेवा में संलग्न तटस्थ एजेन्सियां ही कर सकती हैं। राजनीतिक दलों का भी इस दिशा में बड़ा योगदान हो सकता है, बशर्ते वे निर्दलीय भावना से कार्य करें तथा एक आत्मनिरोधकारी अनुशासन स्वीकार कर लोकतंत्र के बुनियादी संगठनों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से दलीय उम्मीदवार खड़े करना या निर्वाचित प्रतिनिधियों को दल का सदस्य बनाने के लिए हस्तक्षेप करना छोड़ दें। सरकारी अधिकारी और एजेन्सियां भी इस क्षेत्र में उपयोगी कार्य कर सकती हैं। विद्यालय पुस्तकालय तथा सहकारी समितियां इस मामले में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं।

सत्ता का वास्तव में विकेन्द्रीकरण होना चाहिए यह सम्भव है कि पंचायती राज का ढांचा खड़ा हो जाय, परन्तु उसको कोई वास्तविक अधिकार न मिले। लोकतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता को दायित्व उठाने के लिए तैयार किया जाय और उसे इसके लिए पूर्ण अवसर प्रदान किया जाय। पंचायती राज में सत्ता एवं प्रशासन के तीन स्तर हैं, ग्राम पंचायत, प्रखण्ड पंचायत समिति और जिला परिषद्। इनमें से प्रत्येक स्तर पर जनता की शक्ति की मर्यादा के अन्दर उसे दायित्व उठाने का अवसर दिया जाना चाहिए। अनिवार्यत: प्रत्येक स्तर पर स्थानिक सत्ता के हाथ में कम से कम अपने कुछ साधन होने चाहिए। यदि राज्य सरकार के हाथ में ही साधनों का नियंत्रण रहेगा, तो सत्ता का वितरण नाम मात्र का होगा। सबसे पहले भूमि राजस्व की राशि पूर्णत: ग्राम पंचायत तथा पंचायत समिति के हाथ में ही रहने देनी चाहिए। राजस्व के अन्य सम्भव साधन भी ढूंढकर पंचायती राज्य के अधीन रख दिये जायं, जिससे वह प्रतिष्ठापूर्वक काम कर सके और अपनी स्वायत्तता का भी उपभोग कर सके। पंचायती राज्य को यथा शीघ्र इस योग्य बनाना चाहिए कि वह अपने अधीनस्थ असैनिक सेवकों पर वह वास्तविक सत्ता का प्रयोग कर सके।

पंचायती राज के त्रिस्तरीय ढांचे मे सबसे नीचे ग्राम पंचायत है जो स्पष्टत: उसकी बुनियाद है। सम्पूर्ण ढांचे की शक्ति एवं जीवन्तता तथा उसका लोकतांत्रिक स्वरूप ग्राम पंचायत की शक्ति एवं जीवन्तता और लोकतांत्रिक स्वरूप पर निर्भर करेगा। लेकिन पंचायत चुनावों में मतदान करने के अतिरिक्त, गांव के काम काज के संचालन में जनता का कोई भाग नहीं रहेगा, तो ग्रामीण लोकतंत्र भी संतोषकारी, पर्याप्त एवं परिपुष्ट नहीं बन पाएगा और इसके फलस्वरूप पंचायती राज का संपूर्ण ढांचा खोखला बन जायेगा। इसलिए अपने लोकतंत्र को एक वास्तविक आधार देने और उसकी प्रक्रिया में संपूर्ण जनता को सक्रिय एवं स्थायी रूप से शामिल करने के लिए आवश्यक है कि हम पंचायत से भी नीचे आकर जनता तक पहुंचें।

पंचायती राज के जन्म के पहले भी ग्राम पंचायतें थीं, परन्तु वे उस समय ग्रामीण लोकतंत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं, बल्कि राज्य सरकारों, या उससे भी बदतर, स्थानीय अधिकारियों के एजेण्ट के रूप में, काम करती थीं, अगर पंचायती राज के अन्तर्गत भी ग्राम पंचायतें सुसंगत रूप से ग्रामीण समुदाय की शक्ति, सत्ता और पोषण प्राप्त नहीं करती हैं, तो वे पहले की तरह राज्य सरकार और उसके अधिकारियों द्वारा ग्रामीण जनता को नियंत्रित और प्रभावित करने का औजार बनी रहेंगी। ऐसी बुनियाद पर खड़ा पंचायती राज नीचे से ऊपर उठने वाले लोकतंत्र का ढांचा नहीं होगा, बल्कि ऊपर से संचालित अधिकारितंत्री शासन पद्धति का विस्तार मात्र होगा।

26.3.2 चुनाव

जयप्रकाश नारायण का मत है कि ग्राम पंचायतों के चुनाव निर्विरोध होने चाहिए। यदि पंचायती राज को सफल होना है तो ग्राम पंचायतों के चुनावों में संघर्ष का निवारण अवश्य ही किया जाना चाहिए। लोगों को समझना चाहिए कि अगर वे स्वशासन का उपभोग करना चाहते है तो शर्त यह है कि वे सामूहिक हित के लिए मिल जुल कर कार्य करने के लिए तैयार हों। गुटों में संघर्ष के द्वारा जो स्वशासन होगा, वह स्वशासन नहीं, स्वनाश होगा। यदि लोकतंत्र ही उसके और अधिक बिखराव का कारण बन जाय तो यह दुखद बात होगी और लोकतंत्र का माखौल करने जैसा होगा। देश के कुछ भागों में यह आवाज उठ चुकी है कि पंचायती राज के नाम पर गांवों को संघर्ष के अखाड़े बनाने के बजाय, वे जैसे हैं वैसा ही उन्हें रहने दिया जाय। इसका कारण यह है कि चुनाव सम्बन्धी संघर्षों के फलस्वरूप गांवों में ऐसे तनाव पैदा हुए हैं कि पंचायतों के काम काज वस्तुत: बन्द हो गये हैं। यदि यह स्थिति जारी रहती है तो खतरा यह है कि कुछ वर्षों में हर व्यक्ति 'पंचायत' और 'पंचायती राज' के नाम से ऊबकर नौकरशाही का हृदय से स्वागत करने लगेगा और जनता का लोकतंत्र पूर्णत: विफल एवं काल्पनिक घोषित कर दिया

जाएगा। इस देश के लोकतंत्र पर यह भारी आघात होगा जिससे, सम्भव है अधिनायकवाद के लिए रास्ता साफ हो जाय।

26.3.3 कार्य

विकास की योजनाओं एवं कार्यक्रमों का शुभारम्भ करना पंचायतों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। अपने नैतिक दायित्वों के पालन के लिए ग्राम पंचायत को कुछ ऐसे उपाय करने होंगे जिससे समाज के दुर्बल वर्गों को कम से कम, सामाजिक सुरक्षा मिल सके तथा उसके हितों की रक्षा हो सके। ग्रामीण समाज के सामाजिक आर्थिक ढांचे में परिवर्तन लाने के लिए कानून बनाने के अधिकारों के अभाव में पंचायत अपने इस कार्य को सम्भवत: एक ही ढंग से सम्पन्न कर सकती है; और वह है कि समाज के शक्तिशाली वर्गों की सद्भावना एवं सहयोग प्राप्त कर उन्हें अपनी सम्पत्ति, प्रतिभा एवं समय का एक अंश स्वेच्छा से अपने कम सौभाग्यशाली पड़ोसियों के हेतु देने के लिए प्रेरित किया जाय। गांव के स्तर पर कोई दूसरा ढंग विनाशकारी और आत्मपराजयकारी भी होगा। अनुभव ने सिद्ध किया है कि गांव के पिछड़े वर्ग, परम्परागत रूप से प्रभावशाली वर्गों को पराजित कर पंचायत पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद भी, पराजित हितों के असहयोग एवं विरोध के कारण कुछ नहीं कर पाये हैं। गांव के स्तर पर वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया लागू करने से समाज के उन्हीं वर्गों को सबसे कम मदद मिलने की सम्भावना है, जिनको उसकी सबसे अधिक जरूरत है।

26.4 संसदीय लोकतंत्र

जय प्रकाश नारायण की दृष्टि में आधुनिक संसदीय पद्धति अनुपयुक्त है। इसका सबसे बड़ा मौलिक दोष, जिससे अन्य दोष पैदा हुए हैं, यह है कि यह वैयक्तिक मतदान पर आधारित है। समाज का विकीर्ण स्वरूप ही इस प्रकार की राजनीतिक प्रणाली का जनक है। राज्य व्यक्तियों का योगात्मक स्वरूप नहीं हो सकता है। जय प्रकाश नारायण मदेरियागा के इस कथन से सहमति व्यक्त करते हैं। कि वर्तमान प्रणाली बिलकुल ही लोकतंत्रात्मक नहीं है। यह जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं करती अर्थात जनता की राजनीतिक सत्ता इसको मान्य नहीं है। इसके विपरीत यह "ले ओस" का अर्थात निरुद्देश्य अथवा सामूहिक चेतना विहीन समवेत व्यक्ति समूह का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए इस प्रणाली को हम लोकतन्त्रात्मक नहीं, वरन 'लेओक्रेटिक' कह सकते हैं। जहाँ संश्लिष्ट समुदाय के रूप में जनता सर्वोच्च सत्ता की वास्तविक स्वामी है, वहां मतदाताओं के रूप में उसके हित और मत में विभिन्नता , पारस्परिक विरोध और आत्मलाभ की भावना के ही दर्शन होते हैं। लोकतंत्र में व्याप्त विभिन्न विसंगतियों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है—

26.4.1 दलगत राजनीति का दोष

संसदीय पद्धति दलगत राजनीति पर कार्य करती है। वर्तमान दलगत राजनीति नैतिकता को दबाने वाली और गोलमाल तथा षडयन्त्रों को प्रोत्साहित करने वाली है। आज के राजनीतिक दल जनता को विभाजित करते हैं। आधुनिक राजनीतिक दल तो वास्तव में राजनीतिज्ञों का एक ऐसा छोटा शक्तिशाली समूह है जो जनता के नाम से शासन करता है और लोकतंत्र एवं स्वशासन का भ्रम फैलाता है। इस दलीय लोकतंत्र का एक बड़ा अभिशाप यह है कि सामाजिक कल्याण के लिए राजकीय सत्ता पर निर्भर रहना पड़ता है। यह दलीय पद्धति जनता को अनुप्रेरित नहीं करती, उसकी वास्तविक शक्ति का विकास नहीं करती, उसमें उपक्रम को प्रोत्साहित नहीं करती। यह दल पद्धति तो जनता को भेड़ की स्थिति में बनाए रखने को प्रयत्नशील है, इसे हम 'स्वराज्य' नहीं मान सकते। जय प्रकाश नारायण के अनुसार आज का भारत लोकतंत्र नहीं बल्कि दलतन्त्र है जहाँ पर धन, संगठन और प्रचार पर आधारित

राजनीतिक दल लोगों पर शासन करता है। दलों की आपसी होड़ से तिकड़म की सृष्टि होती है, राजनीतिक नीतिमत्ता का स्तर गिरता है तथा बेईमानी और कुचक्री प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जब एकता की आवश्यकता होती है तो ये दल कलह की सृष्टि करते हैं और जब मतभेद घटाने की बात आती है, तो उन्हें बढ़ाते हैं। दल बहुत बार अपने हितों को राष्ट्रीय हित से अधिक महत्व देते हैं।

26.4.2 केन्द्रीकृत सत्ता का दोष

लोकतंत्र की दृष्टि से संसदीय लोकतंत्र का सबसे बड़ा दोष है, केन्द्र की ओर इसका स्वाभाविक झुकाव। इसकी राजनीतिक रंगावलि पट्टी (Spectrum) के एक छोर पर है, राष्ट्रीय राज्य और दूसरे छोर पर वैयक्तिक मतदाता है और बीच में है व्यापक रिक्तता। बीच में जिन स्थानीय निकायों का अस्तित्व हो सकता है, उन्हें एक तो बहुत ही कम स्वशासनाधिकार प्राप्त है, दूसरे राष्ट्रीय राज्य पर उनका कोई भी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव नहीं है। जिस राष्ट्रीय राज्य में 'सर्वसत्ताधारी जनता' मरुभूमि में प्रसूत सिकता कण की भाँति देशभर में बिखरी हो और उसके तथा राज्य के बीच कोई अन्य सुसंघटित राजनीतिक शक्ति न हो, उसमें स्वभावत: राष्ट्रीय राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली हो जाता है। ऐसे में शक्ति और अधिकार के प्रश्न का निर्णय 'काल्पनिक' (तथाकथित) जनता द्वारा नहीं बल्कि राजनीतिक दलों और सुसंघटित स्वार्थों, जैसे उद्योगपतियों एवं साहूकारों तथा प्रबल मजदूर संघों के बीच सन्तुलन स्थापित करके होता है। जनता सम्पूर्ण की प्रतिनिधि है, जबकि ये संघटित स्वार्थ अंश मात्र के। इन थोड़े से अंशों का योग सम्पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। उनके सावयविक सम्मिलन से ही यह सम्भव है। ऐसा सम्मिलन समुदाय के ही विभिन्न स्तरों पर हो सकता है। सत्ता और प्रशासन के केन्द्रीकरण का स्वाभाविक परिणाम है, नौकरशाही। केन्द्रीय कार्यपालिका या मंत्रिमंडल पर काम का इतना बोझ रहता है कि उसे विवश होकर अधिकाधिक काम स्थायी अधिकारियों पर छोड़ना पड़ता है और निर्भर भी उन्हीं पर रहना पड़ता है। फलत: ये अधिकारी कालान्तर में अत्यधिक शक्ति और अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इसका बड़ा भयानक परिणाम यह होता है कि ऐसे नौकरशाहों का निरंकुश शासन होता है, जिनसे लोहा लेना इसलिए कठिन है कि वे परदे के पीछे से काम करते हैं। नौकरशाही व निरंकुशता का एकमात्र जवाब है, सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण, जिसमें जनता प्रशासन में प्रत्यक्षत: भाग ले सके और उन अधिकारियों को भी नियंत्रित कर सके, जिनकी रोजी का वही मालिक है और जिनके प्रति ये अधिकारी जिम्मेदार है।

26.4.3 निर्वाचन पद्धति का दोष

संसदीय लोकतंत्र का एक और दोष है, इसकी निर्वाचन पद्धति जो इसकी क्रियात्मकता के लिए आवश्यक है। पहली बात यह कि निर्वाचन की यह पद्धति बहुत ही व्ययसाध्य और अपव्यय से भरी हुई है। भारी भरकम रकम खर्च होने का परिणाम यह होता है कि लोकतंत्र को एक प्रकार से आर्थिक हितवालों के हाथ या मजदूर संघों जैसे बड़े-बड़े संघटनों के हाथ बन्धकस्वरूप रख देने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। चुनाव पर खर्च हुई भारी रकम से यदि कोई सार्वजनिक हित होता, तो वह भी सन्तोष की बात होती। किन्तु परिणाम उल्टा हुआ है। आम निर्वाचन से अनावश्यक उत्तेजना और दुर्भावना पैदा होती है और सबसे बड़ी बात यह कि योग्य और भले आदमियों को चुनने के बजाय यह तिकड़मवाद को प्रश्रय देता है। इसे सभी लोग स्वीकार करेंगे कि नीतिविषयक बड़े-बड़े प्रश्नों पर शान्त चित्त से और अनुत्तेजित स्थिति में विचार होना चाहिए न कि दलीय हित की भावना से प्रेरित होकर यही कारण है कि आम निर्वाचन की प्रथा को समाप्त किया जाना चाहिए।

संसदीय लोकतंत्र के समर्थकों का दावा है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि सम्पूर्ण जनता की नहीं, तो कम से कम बहुमत का प्रतिनिधि होने का दावा तो सरकार कर ही सकती है। बहुत बार यह देखा जाता है कि व्यापक वयस्क मताधिकार के अन्तर्गत निर्वाचित सरकार अल्पमत की सरकार होती है, क्योंकि वह अल्पमत का ही प्रतिनिधित्व करती है।

दो से अधिक राजनीतिक दल होने पर तो ऐसा बहुत बार होता है, किन्तु दो ही दल होने पर भी यह देखा जाता है।

26.5 सारांश

राजनीतिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र समतामूलक समाज रचने का वादा करता है। इस समुदाय में साधारण नागरिक सच्ची आजादी उठाने की उम्मीद रखता है। इस आदर्श का अभिप्राय यह है कि जनता पर जनता के सिवा और किसी का शासन न हो। भारत में राष्ट्रीय आंदोलन ने इस आदर्श को, ज्यादा गहरे अर्थ में स्वराज के लक्ष्य में व्यक्त किया था। इस स्वराज का तात्पर्य स्वशासन था। लेकिन आधुनिक लोकतंत्र की स्थापना से जो सत्ता शासन में आयी; उसका इस्तेमाल शायद ही जनता कर पायी। भारतीय गणराज्य के नागरिकों में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपने को आज भी उतना ही अधिकारहीन पाते हैं जितना वे अंग्रेजों के जमाने में थे। जयप्रकाश नारायण ने आधुनिक लोकतंत्र की समस्त विसंगतियों के अध्ययन और अनुभव से यह विचार व्यक्त किया कि लोकतंत्र की वर्तमान प्रणाली जनता का शासन स्थापित करने में असक्षम है वास्तविक लोकतंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब लोग स्वेच्छा से प्रेरित होकर सहयोग करें, अपनी भौतिक आवश्कताओं को सीमित करते हुए आवश्यकता से अतिरिक्त धन का अपने संरक्षक समझे। भौतिकतावाद की अंधाधुंध दौड़ भी लोकतंत्र को हतोत्साहित करती हैं। संक्षेप में नैतिक मूल्यों को जन जीवन में उतारकर एवं दलीयतंत्र की सत्तालिप्सा से बाहर निकलकर ही वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना संभव है।

26.6 बोध प्रश्न

प्र. 1 वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के लिए जय प्रकाश नारायण के विचारों का उल्लेख करें।

प्र. 2 सहभागी लोकतंत्र किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है।

प्र. 3 भौतिकतावाद किस प्रकार लोकतंत्र के लिए खतरा है?

प्र. 4 संसदीय लोकतंत्र की क्या कमियां हैं?

प्र. 5 वर्तमान लोकतंत्र के समक्ष प्रमुख चुनौतियां क्या हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संसदीय लोकतंत्र का दोष है -

(अ) जनोन्मुखी होना (ब) राज्य से विमुखता (स) केन्द्रोमुखी होना (द) कोई नहीं

2. सहभागी लोकतंत्र क्या है ?

(अ) जिसमें सरकार की प्रत्यक्ष भागीदारी हो।

(ब) जिसमें जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी हो।

(स) नौकरशाही की प्रत्यक्ष भागीदारी हो ।

(द) कोई नहीं।

3. वर्तमान निर्वाचन प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि –

(अ) यह अपव्यय से युक्त है। (ब) यह जातिय एवं धार्मिक पुर्वाग्रहों को मजबूत बनाती है।

(स) यह भ्रष्टाचार को बढ़ाती एवं अपराधियों को संरक्षण देती है। (द) उपरोक्त सभी

26.7 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर

1. स 2. ब 3. द

26.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

जयप्रकाश नारायण	समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना
जयप्रकाश नारायण	भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचना : एक सुझाव सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी
जयप्रकाश नारायण	सामुदायिक समाज रूप और चिन्तन सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी
जय प्रकाश नारायण	नेशनल बिल्डिंग इन इंडिया (संपादन ब्रह्मानंद, नवचेतना प्रकाशन)

काई 27 : आचार्य नरेन्द्र देव का समाजवाद

.0 उद्देश्य

.1 प्रस्तावना

.2 समाजवाद की व्याख्या

.3 मजदूर आन्दोलन और समाजवाद

.4 किसान आन्दोलन और समाजवाद

.5 राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवाद

.6 राष्ट्रीयता

.7 सारांश

8 बोध प्रश्न

.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के उपरांत आप —

आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवाद की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।

मजदूर आन्दोलन और समाजवाद का उल्लेख कर सकेंगे।

किसान आन्दोलन और समाजवाद का उल्लेख कर सकेंगे।

राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवाद का उल्लेख कर सकेंगे।

राष्ट्रीयता की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

चार्य नरेन्द्रदेव भारतीय समाजवादी चिन्तन के 'आदि पुरुष'अर्थात 'मनु' माने जाते है। ऐसे समय भी । उनके अन्य सहयोगी समाजवादी विचारधारा से विमुख हो गये उन्होंने इसका साथ नही छोड़ा। नरेन्द्र समाज को शोषण, उत्पीड़न और अन्याय से बचाना चाहते थे और एक ऐसी क्रान्ति की कल्पना की ससे कि शोषित व वंचित वर्गों को मुक्ति अवश्य मिलेगी। उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन को भारतीय कृति में विकसित करने का भगीरथ प्रयास किया। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकार किया। नरेन्द्र ने मार्क्स की इस मान्यता को अस्वीकार नहीं किया कि सशस्त्र दल द्वारा शक्ति पर अधिकार कर लिया ना चाहिए। आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने विचारों, मान्यताओं और नेतृत्व द्वारा भारतीय समाजवादी न्दोलन को एक निश्चित दिशा दी तथा देश में मजदूर व कृषक आन्दोलन को ठोस आधार प्रदान या।

7.2 समाजवाद की व्याख्या

चार्य नरेन्द्र देव मूलत: मार्क्सवादी और समाजवादी चिन्तक थे। कार्लमार्क्स के समाजवादी साहित्य का होंने गहन अध्ययन किया। उन्होंने मार्क्स को एक महान मानवतावादी की संज्ञा दी जिसने जनता की

खोई हुई मानवता को फिर से पाने का उपाय ही नहीं बताया वरन् उनको इस कार्य के लिए तैयार भी किया। कार्ल मार्क्स वह इन्सान था जो मानव मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में कभी अपने पथ से विचलित नहीं हुआ। यद्यपि वे कट्टर मार्क्सवादी थे तथापि वे मार्क्स के समस्त सिद्धान्तों को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा कि मार्क्स का दर्शन एक जीता जागता दर्शन है जिससे मनुष्य को एक नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। यह दर्शन आज के समाज में पद दलित, तिरस्कृत, अशिक्षित और अभावग्रस्त व्यक्तियों में नए जीवन का संचार करता है, उनके हृदय में एक नई ज्योति जलाता है।

मार्क्स का अनुयायी होने के बावजूद आचार्य नरेन्द्र देव मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर भारत में समाजवाद नहीं लाना चाहते थे। वे भारतीय समाज को जिस युग चेतना और आदर्श से परिचित कराने का प्रयास कर रहे थे उसका आधार राष्ट्रीय, जनतंत्र और समाजवाद था। स्वतंत्रता के पश्चात् वे सत्ता-सुख के पीछे नहीं भागे वरन समाजवाद की स्थापना के लिए संघर्ष करते रहे। वे आर्थिक और सामाजिक समानता के आधार पर समाज की रचना करना चाहते थे। आचार्य जी की दृष्टि में स्वतंत्रता का तात्पर्य आर्थिक और सामाजिक समानता की व्यवस्था करना था और समाज को शोषणविहीन बनाने का था। अन्याय और गरीबी के विरूद्ध वे निरन्तर संघर्ष करते रहे। किसान और मजदूर आन्दोलन में उनका नेतृत्व इस तथ्य का साक्षी है कि वे इस वर्ग को पूंजीपतियों के शोषण से मुक्त करना चाहते थे। इन्हें अधिक से अधिक जीवन की सुविधाएं आदि दिलाने के लिए अनवरत जूझते रहे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनका नेहरू से मतभेद रहा।

नरेन्द्र देव ने स्वयं को एक वैज्ञानिक समाजवादी के रूप में प्रस्तुत किया और कहा "हमारे समक्ष जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों को समझ लें। यह आवश्यक है कि परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए हम मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को हृदयगम करें और उसे अपने क्रियाकलापों का आधार बनाने का प्रयत्न करें। हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए तथा यूरोपीय समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से बचना चाहिए । आज जो सामाजिक व्यवस्था विद्यमान है उसका क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। उससे कम और किसी चीज से काम नहीं चल सकता।" वे यह मानते थे कि मार्क्स ने सामाजिक विकास के जिन नियमों को प्रस्तुत किया वे सब प्राचीन काल से ही समाज में प्रचलित रहे हैं। समाज की रचना के अनुसार उसकी अन्य विचार प्रणालियां बनती रही हैं, समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के साथ समाज की रचना में सर्वांगीण परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन द्वन्द्वमान ढंग से, वर्ग संघर्ष के द्वारा हुआ है। मार्क्स की विशेषता इस बात में थी कि उसने बड़े वैज्ञानिक ढंग से इन नियमों को एक विचार पद्धति के रूप में रखा जिसे भली भाँति समझकर हम समाज के भूत और वर्तमान के इतिहास को समझ सकते हैं तथा भविष्य के लिए अपना कर्तव्य निर्धारित कर सकते हैं। नरेन्द्रदेव ने मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या से सहमति प्रगट की । उन्होंने यह माना कि समाज का ढांचा ही वह आर्थिक बुनियाद है जिस पर व्यक्ति के अन्य कार्यों की प्रणालियां, चाहे वे राजनीति सम्बन्धी हों या आचार नीति सम्बन्धी, साहित्य सम्बन्धी हों या कानून सम्बन्धी खड़ी हैं। समाज के राजनीतिक और वैधानिक ढांचे की नींव उसका तात्कालिक आर्थिक ढांचा होता है। सम्बन्ध, सामाजिक- आर्थिक उत्पादन में भाग लेने वाले सदस्यों की अपनी आन्तरिक इच्छा पर नहीं वरन् उत्पादन शक्तियों के विकास की अवस्था पर निर्भर करते हैं। जिस तरह राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचे का आधार समाज का प्रचलित आर्थिक ढांचा होता है, उसी तरह आर्थिक ढांचे का आधार उत्पादन शक्तियों पर होता है। मार्क्सवाद से प्रभावित नरेन्द्रदेव ने माना कि पूंजीवाद के विकास की सम्भावनाएं समाप्त हो चुकी हैं। उन्होंने यह भी कहा कि

ान्ति किसी नए समाज की प्रसव वेदना है। एक समाज से नवीन उन्नत समाज की ओर बढ़ने के लिए ान्ति एक अनिवार्य पीढ़ी है। नरेन्द्र देव ने, महात्मागांधी से घनिष्ठ सम्बन्ध के बावजूद, वर्ग संघर्ष के द्धान्त का परित्याग नहीं किया। उन्होंने कहा कि देश में समाज के विभिन्न वर्गों का आस्तित्व है और नके बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक तेजी से काम कर रही है। फलस्वरूप उच्च और मध्य र्गों के अधिकाधिक अंग राष्ट्रीय आन्दोलन से हटते जा रहे हैं, नए-नए वर्गों का निर्माण हो रहा है और बहुसंख्यक जनसमुदाय से पृथक हो रहे हैं। अत: इस बात में कोई तुक नहीं कि हम एकता के लिए लाप करें जिसका कोई आधार नहीं है। हमें तो उन तरीकों को खोजना चाहिए जिनसे राष्ट्रीय संघर्ष ो जो अब तक प्रधानत: मध्य वर्ग का आन्दोलन रहा है, अधिक गतिशील और तीव्र बनाया जा सके। सका एकमात्र प्रभावी उपाय यही दिखायी देता है कि जन समुदाय को आर्थिक आधार और वर्ग तना की बुनियाद पर संघटित किया जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक व्यापक रूप या जाय। प्रचार और संगठन के माध्यम से ही किसी वर्ग को आत्म सचेत बनाया जा सकता है।

ाचार्य नरेन्द्र देव ने आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ समाजवाद स्थापित करने के लिए सुसंगठित और ायोजित सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया। उन्हें के शब्दों में समाजवाद एक नैतिक और ाध्यात्मिक दर्शन है।'' समाजवाद शोषण मुक्त समाज की स्थापना करना चाहता है। वह यह भी जदूरों से अपेक्षा करता है कि उसमें नैतिक विश्वास हो और यही उसकी सांस्कृतिक भूमिका भी है। माजवाद की लड़ाई मजदूर वर्ग से नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर जीवाद को घृणित बताते हैं तो हमको नैतिक स्तर पर समाज को नवीन दृष्टि देनी चाहिए। नैतिकता के ाभाव में समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं व्यक्ति का नैतिक धर्म ही व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है। रस्पर सहयोग की भावना को जन्म देता है। उन्हें शोषण के विरुद्ध एकजुट कर एक ऐसे मानव समाज की चना करना चाहता है जिसमें कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का हक न छीने। यदि पूर्ण नैतिक समाज म न बना सके तो विकृत समाज की स्थापना होगी। उन्होंने कहा ''... नैतिकता के इस सिद्धान्त के ारण समाजवाद का रूप विकृत हो गया है व राजनीति शक्ति पाने का अखाड़ा बन गई है। झूठ के चार के लिए प्रचण्ड अस्त्र का निर्माण किया गया।''

ाचार्य नरेन्द्र देव के समाजवाद में मानव सर्वोपरि है। उसके विकास में ही समाज का विकास समाहित । वास्तव में समाजवाद की इकाई एक व्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति का उत्कर्ष समाजवाद में ही सम्भव है। क व्यक्ति की उन्नति का अर्थ है दूसरे व्यक्ति की भी उन्नति। उन्होंने कहा भी है ''समाजवाद प्रचलित माज का इस प्रकार संगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषक और ोषित, पीड़क और पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाय, वह सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का ऐसा मूह बन जाये जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वाभावत: दूसरे सदस्य की उन्नति हो।''

श की स्वतंत्रता के बाद जो स्थिति सामने आयी उससे नरेन्द्रदेव बहुत खिन्न थे। आशा यह की जाती ी कि स्वतंत्रता के पश्चात् देश शोषण से मुक्त हो जायगा। अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन में जितना ोषण भारत और भारत की जनता का किया गया था, आजाद भारत में वह सब घटित नहीं होगा। परन्तु केसान-मजदूर के संगठित आन्दोलन, वर्ग-संघर्ष की लड़ाई, शोषण मुक्त समाज सब कुछ आज स्वप्न ा प्रतीत होता है। मजदूर और किसान की दशा शोचनीय है भ्रष्टाचार ने संपूर्ण समाज को निगल लिया । मजदूर और किसान जिन्होंने वर्ग संघर्ष की लड़ाई की, वे जातीय व राजनीतिक मकड़जाल में फंस ाये हैं। फिर भी उनका विश्वास था कि शोषित व वंचित तबकों में वर्ग चेतना का विस्तार होगा व समाजवाद की स्थापना होगी।

27.3 मजदूर आन्दोलन और समाजवाद

नरेन्द्रदेव मजदूरों को ट्रेड यूनियनों में संगठित करने तथा उनमें वर्ग संघर्ष की भावना विकसित कर उन्हें राजनीतिक संघर्ष के लिए संगठित करने के समर्थक थे। इस कार्य में इन्हें किसी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। संगठित और नियोजित मजदूरों का वर्ग संघर्ष ही पूंजीवादी व्यवस्था की शोषण की नीति को उखाड़ सकता है। इसलिए मजदूरों के क्रान्तिकारी आर्थिक संघर्ष के माध्यम से ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। आचार्य नरेन्द्र देव मार्क्सवादी विचारक थे। उनकी यह धारणा थी कि औद्योगिक मजदूर आर्थिक संघर्ष और वर्ग संघर्ष के द्वारा ट्रेड यूनियन की प्रवृत्ति विकसित कर सकता है। राजनैतिक संघर्षों में सहभागी बनकर वह राजनैतिक चेतना को विकसित कर सकता है। राजनैतिक चेतना वह हथियार है जिससे मजदूरों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति उत्पन्न होती है और वे शोषण के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करते हैं। इस तरह वे समाजवाद को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते करते हैं। इसलिए नरेन्द्रदेव यह चाहते थे कि मजदूर के वर्ग संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष से जोड़कर उसे और शक्तिशाली बनाया जाय। इससे मजदूरों का वर्ग संघर्ष अधिक व्यापक रूप में विकसित हो सकता है।

नरेन्द्रदेव का विचार था कि मजदूरों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्रशिक्षण देना आवश्यक है। इस प्रकार के प्रशिक्षण से उन्हें विभिन्न प्रकार की आर्थिक-सामाजिक और राजैनतिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होगा साथ ही उनमें यह भावना व्याप्त होगी कि वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करें। उन्हें जात-पांत की संकीर्णताओं से ऊपर उठाना होगा जिससे वे देश की समस्याओं पर खुले रूप में विचार कर सके।

मजदूरों को अधिक से अधिक सुविधाएं और लाभ दिलाने के लिए वे प्रयासरत रहे। जनवरी 1938 में कानपुर के एक मजदूरों के सम्मेलन में बोलते हुए उन्होंने कहा कि जिस प्रकार यूरोपीय देशों में कानून द्वारा कर्मचारियों को भोजन के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है। काम के घण्टे निश्चित हैं, और अन्य प्रकार की सामाजिक आर्थिक सुरक्षाएं दी जाती हैं उसी प्रकार भारतीय मजदूरों के लिए भी कानून बनाया जाय।

आचार्य नरेन्द्रदेव मजदूरों का अधिक से अधिक कल्याण चाहते थे। नेहरू सरकार ने इनकी मांगों को पूरा नहीं किया। इसके कारण वे नेहरू सरकार की आलोचना किया करते थे। मार्च 1949 में पटना में नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में सोशलिस्ट पार्टी का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की नीतियों और कार्यपद्धति की जमकर आलोचना की गयी। उन्होंने कांग्रेसी सरकार के पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण की भर्त्सना की । उन्होंने कहा कि औद्योगिक झगड़ों को तय करने के लिए सरकार ने जिस प्रकार के समझौता बोर्डों और औद्योगिक पंचायती अदालतों की स्थापना की है।, उससे मालिकों व पूंजीपतियों को ही लाभ प्राप्त होगा। इस प्रकार की जटिल प्रक्रिया वाले बोर्डों से मजदूरी के हितों की रक्षा करना कठिन है। बल्कि कारखाना समितियों का विधान तो औद्योगिक प्रजातंत्र की जड़ ही काट देता है। कारखाना समितियों में सदस्यों के मनोनीत कर देने के अधिकार से निर्वाचन पद्धति के आधार पर सदस्यों के चुनाव पर प्रहार हुआ है और लोकतांत्रिक अधिकार का हनन। उन्होंने यह भी कहा कि अक्सर कारखाना समितियां मजदूर यूनियनों के विरोध में खड़ी कर दी जाती हैं और इससे मजदूरों की संगठित शक्ति को दबाने हेतु प्रयोग किया जाता है। नरेन्द्र देव को यह अहसास होने लगा था कि कांग्रेसी सरकार मजदूर यूनियनों को विघटित करने का प्रयास कर रही है। उन्होंने कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुए कहा कि "हड़ताल करने के अधिकार की अमान्यता के तथा संगठित रूप से उचित मजदूरी मांगने

ः अधिकार पर विभिन्न प्रतिबन्धों के फलस्वरूप शान्तिपूर्ण तरीकों पर से सम्भवत: मजदूरों का श्वास उठ जायेगा। ... सरकार मजदूरों के असन्तोष के आधारभूत कारणों का समाधान न करके जीपतियों को प्रसन्न करने की नीति अपना रही है।'' उन्होंने यह कहने में संकोच नहीं किया कि ांग्रेसी सरकार ''पूर्णरूप से पूंजीवादी वर्ग के प्रभाव में रहती है।''

7.4 किसान आंदोलन और समाजवाद

ाचार्य नरेन्द्रदेव भारत के कृषक पुनर्निर्माण के पक्षधर थे। नरेन्द्रदेव का मत था कि किसानों के ामाजिक , राजनीतिक व आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसानों को संगठित किया जाय। ाचार्य नरेन्द्र देव चाहते थे कि सभी प्रकार के किसानों को चाहे वे छोटे किसान हों या बड़े किसान, हें एक जुट किया जाय। आचार्य नरेन्द्र देव भारतीय जनसमुदाय में फैली हुई निराशा को दूर करने के ए आन्दोलन चलाने के पक्ष में थे। भारत में किसानों त . खेतिहर मजदूरों की स्थिति अच्छी नहीं थी। हें कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता था। भारत की जो जनसंख्या खेती बाड़ी में लगी ई थी वह भयंकर गरीबी से त्रस्त थी। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार खेती बाड़ी में लगे गरीब कृषकों का सी न किसी प्रकार उद्धार करना आवश्यक था। इसके लिए नरेन्द्रदेव ने भारतीय ग्रामीण जीवन के र्निमाण की एक क्रान्तिकारी योजना प्रस्तुत की। नरेन्द्र देव श्रमिक वर्ग को साम्राज्य विरोधी संघर्ष का ावल दस्ता (अग्रिम टुकड़ी) तथा किसानों को उसका सहायक मानते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव स्तालिन इस मत से सहमति रखते थे कि किसानों को समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित करना चाहिए।

चार्य नरेन्द्र देव भारत में किसानों को देश के समाजवादी पुनर्निमाण की योजना से सम्बन्धित करने लिए किसानों की सहकारी समितियां बनाना चाहते थे। उनका स्पष्ट मत था कि सहकारिता के माध्यम ग्रामीण समाज और किसानों का कल्याण किया जा सकता है। इसी के माध्यम से गांवों का पुन: र्माण संभव है। वे चाहते थे कि सहकारिता के द्वारा ही ग्रामीण स्वावलम्बी बनें। वे अपने पैरों पर खड़े । हजारों वर्षों की आर्थिक सामाजिक और सामन्तवादी दासता से मुक्त हों।

न्द्रदेव ने किसानों के हितों के लिए किसानवाद का विरोध किया। उन्हें भय था कि किसानवाद किसानों संकुचित भावनाओं का विकास करेगा। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कांग्रेस किसानों की संगठित संस्थाओं को मान्यता दे तथा उन्हें सामूहिक सदस्यता और प्रतिनिधित्व प्रदान करे। उन्होंने बात पर जोर दिया कि स्वतंत्रता-संग्राम को व्यापक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्वतंत्रता ाम को जनता के दैनिक जीवन की आर्थिक जरूरतों के लिए संघर्ष से जोड़ा जाये। इसी कारण वे सान और मजदूर संगठनों के माध्यम से संघर्ष को तीव्र करना चाहते थे तथा वे यह भी चाहते थे कि सान संघों के सदस्यों को कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो ताकि ये प्रतिनिधि राष्ट्रीय दोलन से जुड़ सकें और कांग्रेस के सम्मुख अपना दृष्टिकोण तथा कठिनाइयां रख सकें तथा कांग्रेस निर्णय लेते समय किसानों की समस्याओं को ध्यान में रख सके।

द्रदेव ने भूमि सुधार कार्यक्रमों पर काफी जोर दिया। भूमि सुधार हेतु सर्वप्रथम उन्होंने जमीदारी ूलन का प्रयास किया। उनकी मान्यता थी कि जब तक जमीदारी प्रथा समाप्त नहीं होगी तब तक ानों की आर्थिक और नैतिक प्रगति नहीं हो सकती। जमीदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए उन्होंने संघर्ष का समर्थन किया। वे भूमि जोतने वाले व्यक्ति और सरकार के बीच किसी भी बिचौलिए की स्थिति के विरोधी थे। वे सरकार द्वारा भूमि अधिग्रहण करने पर मुआवजा देने के भी विरोधी थे। वे इस बात के समर्थक थे कि यदि सरकार जमीन लेती है तो जिन लोगों से जमीन लेती है, उनके ास का प्रबन्ध सरकार करे जिससे वे नया उद्योग धन्धा प्रारम्भ कर सकें और यदि मुआवजा दिया

जाय तो वह किसी भी प्रकार एक लाख से अधिक न हो। उन्होंने छोटे- छोटे जमीदारों के पुनर्वास का समर्थन किया। इस हेतु वे खेती के लिए जमीन देने के समर्थक थे। वे सामूहिक खेती के समर्थक नहीं थे, उन्होंने सहकारी खेती का अवश्य समर्थन किया। पर सहकारी खेती प्रारम्भ करने से पूर्व उस समाज से जनमत लिया जाना चाहिए। कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने के लिए वे कानून बनाने के समर्थक थे उन्होंने पंचायत प्रणाली के पुनरुद्धार का समर्थन किया। गांवों की प्रगति के लिए वे साक्षरता को आवश्यक मानते थे।

किसान आन्दोलन से आचार्य नरेन्द्र देव इतने गहरे रूप में जुड़े कि उन्हें 1939 में अखिल भारतीय किसान सभा के गया अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया। इस अधिवेशन में नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में यह तय किया गया कि किसानों को कृषि क्रान्ति के लिए जुझारू बनाया जाय, जिससे कि वे अपनी भूमि के स्वामी बन सकें। किसानों को कर्ज से मुक्ति दिलायी जाय जिससे उन्हें अपने श्रम का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किसानों को राजनैतिक संघर्ष के लिए तैयार करना अति आवश्यक है। इसके साथ ही किसान संघों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना भी जरूरी है।

27.5 राष्ट्रीय आंदोलन और समाजवाद

नरेन्द्र देव ने समाजवादी आन्दोलन और राष्ट्रीय आन्दोलन के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनकी भावना थी कि समाजवादियों को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में सम्मिलित होना चाहिए। उनका कहना था कि यदि समाजवादियों ने अपने को देश में चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से पृथक रखा तो उनका यह कार्य आत्म हत्या के समान होगा। वे स्वाधीनता संग्राम को सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने समाजवादियों को यह मानने की सलाह दी कि एक औपनिवेशिक देश के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है।

कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल ने स्टालिन के नेतृत्व में यह निश्चित किया कि विश्व के सभी कम्युनिस्ट सोवियत यूनियन को संसार के मजदूरों की पितृभूमि समझें तथा सोवियत विदेश नीति के अनुरूप अपनी गतिविधियों को दिशा दें। इस सम्मेलन ने यह भी निश्चय किया कि कम्युनिस्ट मध्यवर्गीय जनतांत्रिक और जनतंत्रीय समाजवादी संस्थाओं और नेतृत्व से अपने को अलग रखे तथा उनके नेतृत्व को समाप्त कर अपना नेतृत्व स्थापित करे। यद्यपि नरेन्द्रदेव मार्क्सवादी विचारधारा से सहमत थे तथापि उन्होंने कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल के इन फैसलों का विरोध किया। वे भारत के मजदूरों की पितृभूमि भारत को ही मानते थे। वे मानते थे कि समाजवाद की स्थापना के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता आवश्यक है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साम्राज्य विरोध बहुवर्गीय राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता है। अत: वे कांग्रेस के साथ जुड़े रहे। उनका मत था कि जन आन्दोलन से समाजवादी शक्तियों को अलग नहीं किया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया गया तो वह समाजवाद की प्रगति के लिए हितकर नहीं होगा। उन्होंने समाजवादियों से राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित होने के लिए कहा। नरेन्द्रदेव देव का विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद देशी राजाओं, जमीदारों और सामन्तों के साथ उनकी सहायता से अपनी जड़ें मजबूत कर रहा है तथा देश में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बढ़ा रहा है। अत: प्रतिक्रियावादी शक्तियों को समाप्त करने के लिए और देश को स्वतंत्र करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाना आवश्यक है तथा इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसका आधार व्यापक किया जाय। इसमें निम्नमध्यम श्रेणी के नवयुवकों के साथ-साथ किसानों, मजदूरों और अन्य वर्गों को भी सम्मिलित किया जाय। इसके लिए उन्होंने यह आवश्यक माना कि स्वतंत्रता-संघर्ष को किसानों और मजदूरों की आर्थिक मांग के साथ जोड़ा जाय जिससे कि देश के किसान और मजदूर अपनी आर्थिक दयनीय स्थिति में बदलाव की आशा, राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता में देख सकें। उनका यह भी मत था कि राष्ट्रीयता और समाजवाद

नों एक साथ रहने चाहिए। अत: राष्ट्रीयता की शक्तियों को समाजवाद के साथ एवं समाजवादी शक्तियों राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित होना चाहिए।

न्द्रदेव इस बात को समझ चुके थे कि देश में आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक बदलाव के लिए स्थितियां हो चुकी है। उन्होंने 1942 के भारत छोड़ो प्रस्ताव का समर्थन किया। उनका मत था कि प्रस्ताव स्वतंत्रता के सामाजिक पहलू की व्याख्या करता है और जनसामान्य की सर्वोच्चता को ापित करना चाहता है।

7.6 राष्ट्रीयता (राष्ट्रवाद)

चार्य नरेन्द्रदेव ने राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक तत्व माना। उन्होंने कहा कि उग्र वाद विनाशकारी युद्धों का जनक है जबकि समाजवादी राष्ट्रवाद मानवीय स्वाधीनता का पोषक है। वे निरपेक्ष राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनका मत था कि एक समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन घटित होते हैं। प्राचीन समय में जब धर्म हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था और जीवन को ावित करता था तो संस्कृति के निर्माण में उसका योगदान था, यद्यपि धर्म के अतिरिक्त दूसरे कारक संस्कृति निर्माण में सहायक थे। वर्तमान में धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया है और उसका स्थान ीयता जैसे अन्य विचार ले रहे है। अत: उसका महत्व बहुत कम हो गया है। राष्ट्रीयता की भावना तो एवं मजहब से ऊँची है, यदि ऐसा न होता तो एक देश में रहने वाले विविध धर्मो के अनुयायी उसे अपनाते। विश्वव्यापी धर्म तो राष्ट्रीयता के विरोधी रहे हैं वे देश, नस्ल और रंग की सीमाओं को कर चुके थे। प्राचीन समय में इस्लाम धर्म देश की भौगोलिक सीमाओं की उपेक्षा करता था जबकि मान में प्रगतिशील इस्लामी देश राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं वरन् देश और नस्ल के आधार पर ाष्ठित होते हैं।

द्र हिन्दू राज्य की धारणा को जनतंत्र की दृष्टि से उचित नहीं मानते थे क्योंकि इसमें पुरातन प्रतिक्रिया के जन्म लेने की संभावना रहती है। वे हिटलर की राष्ट्रवादी धारणा को संकीर्ण तथा मैजिनी की णा को व्यापक मानते थे। वे अनुदार राष्ट्रीयता के प्रति भी सतर्क रहने का उपदेश देते थे। उनका ास था कि राष्ट्र में पृथकतावादी प्रवृत्तियों का पैदा होना स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के लिए संकट है। भारत विशाल देश के लिए सांप्रदायिकता, प्रान्तीयता और वर्ग विभेद राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अभिशाप नरेन्द्रदेव, लेनिन के नेतृत्व में रूस में विकसित की कई राष्ट्रीयता की भावना को भारत के लिए र्श और अनुकरणीय मानते थे जिसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक के मन में विश्वास का नवजीवन ारित हुआ। उनका विचार था कि इस राष्ट्रीय कार्य में दलित वर्गों का भी सहयोग लिया जायेगा और की सामूहिक शक्ति का उपयोग किया जायेगा तथा उन्हें विश्वास दिलाया जायेगा कि वर्तमान में व्याप्त ाजिक वर्ग भेद का अन्त शीघ्र किया जायेगा।

7.7 सारांश

द्र देव की समाजवादी अवधारणा को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि उन्होंने र्क्सवादी दर्शन का भारतीय परिप्रेक्ष्य में नव प्रयोग किया है। उनका विश्वास है कि समाजवाद ही स्वतंत्र और सुखी समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। ऐसे समाज में ही सम्पूर्ण ंत्र मनुष्य को निर्मित किया जा सकता है। समाजवाद के माध्यम से ही स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व आधार पर एक सुन्दर मानव संस्कृति का सृजन होगा। उन्होंने अपनी पुस्तक राष्ट्रीयता और समाजवाद लेखा है कि ऐसी सभ्यता तथा संस्कृति की स्थापना उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व

स्थापित करते ही नहीं हो जायेगी। इसके लिए पुनर्निमाण का कार्य भी समुचित रीति से करना होगा। सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी हो सकती है जब साधन भी सुन्दर एवं मानवीय हो। उद्देश्य तथा साधन परस्पर सम्बद्ध एवं परस्पर निर्भर होते हैं दोनों का अपना-अपना महत्व है । स्पष्ट है कि आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवादी कार्य पद्धति को यथावत स्वीकार नहीं करते । वे प्रजातांत्रिक मूल्यों में गहरी निष्ठा रखते थे इसलिए वे प्रजातांत्रिक तरीकों से समाजवाद लाने के पक्ष में थे। उनका किसान और मजदूरों के लिए संघर्ष इस बात का उदाहरण है कि वे मार्क्सवाद को नैतिक मूल्यों से जोड़कर समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

27.8 बोध प्रश्न

प्र. 1 समाजवाद पर आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

प्र. 2 मजदूर आन्दोलन पर नरेन्द्रदेव के विचारों का उल्लेख करें।

प्र. 3 राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवाद किस रूप में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। नरेन्द्रदेव के विचारों के आधार पर व्याख्या करें।

प्र. 4 किसान आन्दोलन पर नरेन्द्र देव के विचारों का उल्लेख करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नरेन्द्र देव के समाजवादी विचार किसके सिद्धान्तों पर आधारित है-

(अ) मार्क्स (ब) लोहिया (स) गांधी (द) अरविन्द

2. निम्नांकित में से किस विचारक के समाजवाद का आधार जनतंत्र एवं मानवतावाद है-

(अ) अरविन्द (ब) नरेन्द्र देव (स) गांधी (द) मार्क्स

3. 'राष्ट्रीयता और समाजवाद'' किसकी रचना है -

(अ) एम. एन. राय (ब) गांधी (स) नरेन्द्र देव (द) अरविंद

4. 1939 में किसान सभा के गया अधिवेशन का अध्यक्ष किसको चुना गया —

(अ) सरदार वल्लभ भाई पटेल (ब) नरेन्द्र देव (स) मदन मोहन मालवीय

(द) स्वामी सहजानंद

27.9 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर (1) अ (2) ब (3) स (4) ब

27.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य नरेन्द्र देव — राष्ट्रीयता और समाजवाद
ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी -1

2. डा. अमरेश्वर अवस्थी — आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन
डा. रामकुमार मिश्र — रिसर्च पब्लिकेशन जयपुर नयी दिल्ली

3. डा. गोविन्द प्रसाद — भारतीय राजनीतिक चिन्तन
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल

काई 28 : आचार्य नरेन्द्र देव की शैक्षणिक विचारधारा

काई की रूपरेखा

.0 उद्देश्य

.1 प्रस्तावना

.2 युवा वर्ग की शिक्षा व अधिकार

.3 धार्मिक शिक्षा का औचित्य

.4 जनशिक्षा

.5 राजनीतिक संचेतना

.6 अध्यापकों का कर्तव्य

.7 अध्यापकों को प्रदत्त आधिकार व सुविधायें

.8 अध्यापक संगठन का औचित्य

.9 आधुनिकीकरण और शिक्षा

.10 सारांश

11 बोध प्रश्न

12 प्रश्नों के उत्तर

13 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के बाद आप

युवा वर्ग की शिक्षा सम्बन्धी नरेन्द्र देव की विचारधारा की विवेचना कर सकेंगे।

अध्यापकों के शिक्षा संबंधी दायित्व पर टिप्पणी कर सकेंगे।

जनशिक्षा की अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे।

आधुनिकीकरण और शिक्षा पर टिप्पणी कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

ार्य नरेन्द्र देव का विचार है कि शिक्षा का लक्ष्य युवकों को जीवन के लिए तैयार करना है। जीवन त् परिवर्तित है तथा उसमें नयी परिस्थितियों के परिणामस्वरूप नई चुनौतियां और स्थितियाँ पैदा होती ी हैं। अत: स्थिर जीवन आदर्श नहीं हो सकता है। इसलिए वे चाहते थे कि सामाजिक तथा ्यात्मिक मूल्यों के प्रति श्रद्धा विकसित होने के साथ-साथ विज्ञान की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। ा द्वारा लोकतंत्र, स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व व सहकारिता के भावों को पैदा किया जाना चाहिए। वे र्मिक शिक्षा के विरोधी थे। उनका मानना था कि धार्मिक शिक्षा हठधर्मी और संकुचित सांप्रदायिक

मनोवृत्ति को विकसित करती है। नरेन्द्रदेव ने स्त्री शिक्षा का समर्थन किया तथा सभी जातियों, वर्गों और सम्प्रदायों के बच्चों के लिए 'सामान्य विद्यालयों' का समर्थन किया। वे पब्लिक स्कूलों के समर्थक नहीं थे। उन्होंने ऐसी शिक्षा व्यवस्था पर बल दिया जो सभी को सुलभ, गुणवत्ता युक्त, समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व जैसे मानवीय मूल्यों को सामाजिक धरातल पर चरितार्थ कर सके।

28.2 युवा वर्ग की शिक्षा और अधिकार

नरेन्द्रदेव का विचार था कि युवक शक्ति का भंडार होता है। वह जिस परिस्थिति में रहता है उससे वह अत्यन्त प्रभावित होता है। वह भाव प्रवण होता है तथा शूरता दिखाने के किसी भी अवसर को नहीं छोड़ना चाहता है। यदि उसका समाज स्वतंत्र होने की चेष्टा कर रहा है तो वह उसी में लग जाता है और यदि उसका समाज साम्प्रदायिक युद्ध में लगा है तो वह उसका अगुवा बनना चाहता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो युवक न तो प्रगतिशील है और न ही प्रतिक्रियावादी । वह किसी भी कार्य में लगाया जा सकता है, शर्त यह है कि उसकी भावना पूरी होनी चाहिए और उसे कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए। इसलिए नरेन्द्र देव युवकों के लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता पर बल देते हैं जिससे कि युवकों की शक्तियां रचनात्मकता की तरफ अग्रसर हों और उनकी शक्तियों का दुरूपयोग न हो। नरेन्द्रदेव युवकों को अधिक से अधिक अधिकार देने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि यदि देश का नेतृत्व वृद्ध लोगों के हाथ में रहता है तो वे प्रगति के मार्ग में सहायक होने के बजाय बाधक भी हो सकते हैं । अत: यह आवश्यक है कि युवा वर्ग को उचित मात्रा में सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान कर उनकी शक्ति को देश की प्रगति में लगाया जाय। वे यह सोचते थे कि चाहे नीति निर्माण का कार्य वृद्ध करे, परन्तु युवकों को अपने संगठन बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और उन्हें अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने के अवसर दिये जाने चाहिए। वे यह भी मान्यता रखते थे कि युवकों एवं छात्र संगठनों को ऐसे दलों के साथ किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए जिनकी नीतियां एवं कार्यक्रम किसी भी रूप में राष्ट्र विरोधी एवं साम्प्रदायिक हों। उनका विचार था कि वृद्धों को युवा पीढ़ी पर रूढ़िवादिता एवं प्रतिक्रियावादिता को नहीं लादना चाहिए।

नरेन्द्र केअनुसार प्रत्येक समाज नवीन परिस्थिति के अनुकूल अपना आचरण और व्यवहार बलदने का प्रयत्न करता है किन्तु जब तक किसी महान उद्देश्य की गम्भीर अनुभूति नहीं होती, तब तक समाज में सामंजस्य और स्थिरता नहीं आती है और उसकी समग्रता नष्ट होने लगती है इस नवीन दर्शन में नवयुवकों की ही आस्था होती है। इन्होंने ही इन नवीन मूल्यों की सृष्टि की है और उसी के अनुरूप उनको जीवन व्यतीत करना है यही कारण है कि हम सर्वत्र देखते हैं कि नवयुवक समाज का नेतृत्व करके आगे आ रहे हैं अत: युवकों की शिक्षा व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि वे नयी चुनौतियों का सफलता से मुकाबला कर सके।

28.3 धार्मिक शिक्षा का औचित्य

आचार्य नरेन्द्र देव भारतीय धर्म को उदार एवं व्यापक धर्म के रूप में देखते हैं। वे धार्मिक संकीर्णताओं, रूढ़िवादिता, पुराणपन्थीपन एवं धार्मिक हठवादिता में तनिक भी विश्वास नहीं करते थे। विश्व के अन्य धर्मों (सम्प्रदाय) से भारतीय धर्म को अलग मानते हैं। हिन्दू धर्म का न तो कोई आदि प्रवर्तक है न ही इसके विशेष कृत्य या अनुष्ठान हैं। वे इसे सनातन धर्म भी नहीं मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार सनातन धर्म का प्रयोग भी एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में होने लगा था। हिन्दू धर्म का कोई ऐसा धर्म ग्रन्थ भी नहीं है जिसको वे एकमात्र प्रमाण समझें। यही कारण है कि नरेन्द्र देव इस धर्म को भारतीय धर्म के नाम से पुकारते हैं। उनके अनुसार भारत की अधिकांश जनता इसी धर्म को मानती है। इस धर्म की विशेषता

यह है कि यह मोक्ष या स्वर्ग प्राप्ति के अनेक मार्ग मानता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म में रहता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है भारतीय धर्म सभी सन्तों, महन्तों, फकीरों, पीर पैगम्बरों को मानता है एवं सबकी वाणी सुनता है । यदि राजनीतिक कारण उसमें बाधक नहीं बनते तो वह भी ऐसा करता। भारतीय धर्म किसी भी अन्य धर्म को बुरा मानकर उसकी आलोचना नहीं करता है और न ही अन्य धर्मानुयायियों को अपने धर्म में सम्मिलित करने का प्रयत्न करता है। नरेन्द्रदेव का मत है कि भारतीय धर्म से अनेक पन्थ उत्पन्न हुए। भारतीय जनता ने अपने गुरुओं का सम्मान किया तथा अपनी श्रद्धा के सुमन चढ़ाये। आखिर भारतीय धर्म की विजय हुई तथा समाज से पृथक हुए ये सम्प्रदाय भारतीय धर्म के दायरे में पुन: आ गये।

आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार, भारतीय धर्म अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण अपने में सब प्राणियों को और सब प्राणियों में अपने को देखता है। इन्होंने इसको समन्वय का योग कहा है। इसी को आपने उपनिषदों की शिक्षा बतलाया है। इनका कहना है कि आज सब ओर अपने--अपने अधिकारों के लिए संघर्ष चल रहा है। ऐसी स्थिति में एकता के नये साधन ढूंढ निकलना जरूरी है वरना लोग संघर्ष के भयावह मार्ग पर बढ़ते ही जायेगे इसी तथ्य को ध्यान में रखकर नरेन्द्रदेव ने भारतीय धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता पर जोर दिया। इसी धर्म की सहायता से विभिन्न राष्ट्रों के बीच सौहार्द्र एवं सहयोग पनप सकेगा। नरेन्द्र देव ने एक बात की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है और वह यह है कि आधुनिक धर्म समाज में साम्प्रदायिक तनाव एवं संघर्ष बढ़ाते हैं। ये राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक हैं। अत: धर्म निरपेक्षता की नीति को अपनाया जाना चाहिए और शिक्षण संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए।

नरेन्द्र देव ने भारतीय समाज में व्याप्त दलवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद, छुआछूत आदि के उन्मूलन पर जोर देते हुए कहा कि इसे गैर कानूनी करार देने और सम्प्रदायमूलक राजनीतिक संघटनों पर रोक लगाने मात्र से यह बुराई समूल नष्ट नहीं होने वाली है। इसके लिए हमें लगाने मात्र से यह बुराई समूल नष्ट नहीं होने वाली है। इसके लिए हमें अपने बच्चों को नवीनतम शिक्षा देनी होगी और समस्त जनता का मन भी बदलना होगा। तभी कोई महान कार्य हो सकता है। अपने नवयुवकों को हमें ऐसा बनाना होगा कि धार्मिक द्वेष उन पर अपना कोई असर न डाल सके। उन्हें लोकतंत्र और अखण्ड मानवता के आदर्शों की दीक्षा देनी होगी, तभी हम साम्प्रदायिक सामंजस्य और सद्भाव को चिरन्तर आधार पर स्थापित कर सकेंगे।

नरेन्द्रदेव ने धार्मिक संस्थाओं के यथास्थितिवाद की आलोचना की। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर बताया कि धार्मिक संस्थाएं शोषितों और दलितों का पक्ष रखने की बजाय यथावत स्थिति का ही समर्थन किया करती हैं। और जनता की आर्थिक तथा सामाजिक दु:स्थिति के आमूल परिवर्तन का सदा विरोध ही करती हैं। उन्होंने यह देखा कि धर्माचार्यों के पीठ सरकार के महज पुछल्ले बन गये हैं और राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध में ये अपनी--अपनी सरकार का ही पक्ष लेकर अपने अनुयायियों को दूसरों राष्ट्रवालों की हत्या करने का उपदेश दिया करते हैं। इस प्रकार की खामियों को दूर करने के लिए इन्होंने सभी धर्मों द्वारा मानवीय मूल्यों पर आधारित लोकतांत्रिक शिक्षा का समर्थन किया।

28.4 जनशिक्षा

लोकतंत्र केवल एक शासन पद्धति ही नहीं है, बल्कि वह एक जीवन प्रणाली है। अतएव लोकतात्रिक आदर्शों को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा जा सकता, मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। अगर कोई नवजात राष्ट्र दूसरे देशों की लोकतान्त्रिक शासन पद्धति का ही अनुकरण करता है और केवल उसी को प्रगति का सूचक मान लेता है, तो वह कदापि सच्चा लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता है। इसके लिए देश में लोक तांत्रिक भावना

जय प्रकाश नारायण
आचार्य नरेन्द्र देव

का होना आवश्यक है लोकतत्व मनुष्य के अभ्यास और परम्परा का विषय है जो काफी लम्बे और कठिन प्रयास के फलस्वरूप प्राप्त होता है। लोकतान्त्रिक परम्परा का निर्माण किया जाता है और जनता में तदनुकूल भावनाएं विकसित की जाती हैं। जनता में लोकतान्त्रिक आदर्शों के प्रति सुदृढ़ आस्था होनी चाहिए और उससे ही उसका सारा जीवन क्रम और व्यवहार अनुप्राणित होना चाहिए।

यह सत्य है कि जब तक जनता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न नहीं हो जाती तब तक लोकतान्त्रिक पद्धति की सफलता सम्भव नहीं है। इसका तो उद्देश्य ही यही है कि राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में सब लोग विवेकपूर्ण और सक्रिय रूप से भाग लें। राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति जनता की उदासीनता को दूर करना होगा और सार्वजनिक कार्यों में उसकी दिलचस्पी पैदा करनी होगी। इसीलिए लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना के लिए व्यापक शिक्षा सबसे आवश्यक है। जनता की सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी कमियों को सर्वप्रथम दूर करना होगा तथा सभी श्रेणियों में साक्षरता का व्यापक प्रसार करना होगा । सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी श्रेणियों और क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना होगा और उनको शीघ्रातिशीघ्र सुसंकृत समाज के समकक्ष लाने के लिए कोई भी कसर नहीं रखनी चाहिए। जब तक जन संस्कृति का निर्माण नहीं हो जाता तब तक ऐसे स्वतंत्र समाज की स्थापना भी हो सकती है जिसमें प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक कल्याण के लिए परस्पर सहयोग कर सके। साक्षरता इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। इसके अभाव में मानव जीवन की आवश्यक आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन नहीं कर सकता है।

28.5 राजनीतिक संचेतना

जनता को राजनीतिक विषयों की शिक्षा तभी समुचित रूप से प्राप्त हो सकती है, जब कि उसे विभिन्न प्रकार की विचार धाराओं को समझने और उनमें निर्णय लेने का अवसर मिले। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जनता को ऐसी मौलिक शिक्षा प्रदान करे जिससे उसके अन्दर विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो और उसमें आत्मनिर्माण की क्षमता के साथ-साथ सृजनात्मक विचार जागृत हो सकें।

इसमें नागरिक शिक्षा का सबसे महत्वूपर्ण स्थान है जिसमें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करने की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। स्मरण रहे कि हम लोग अब विश्व संघ की ओर बढ़ रहे हैं। आज प्रौद्योगिकी व आधुनिकीकरण का बोलबाला है ऐसे में हमारी शिक्षा में भी इन दृष्टिकोणों को निहित किया जाना चाहिए। अब हम लोग विश्व के अन्य भागों में होने वाली घटनाओं के प्रति आँखें मूंदकर नहीं रह सकते। इसीलिए हमारी शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि देश का प्रत्येक नागरिक वैश्विक दृष्टिकोण के अनुरूप अपनी राजनीतिक समझ उत्पन्न कर सके और विश्व में सुरक्षा और सुख के साथ जीवन व्यतीत कर सके। हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सदभाव और भ्रातृत्व की स्थापना करने तथा अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सरकार की राजनीति में व राजनीतिक संगठनों, नियमों व कानूनों में भोली-भाली जनता की सहभागिता न होने का जिम्मेदार जनता को नहीं ठहराना चाहिए। ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता की सहभागिता सुनिश्चित करना व इसके प्रति रुचि जागृत करना सरकार का उत्तरदायित्व है। इस जगह पर आचार्य नरेन्द्र देव का विचार है कि राज्य को ऐसे सभी अवसरों का जब कि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता को शिक्षित किया जा सकता है, शिक्षित करना चाहिए। साक्षरता आन्दोलन की अपेक्षा यह जन शिक्षा का अधिक प्रभावशाली तरीका होगा। साथ ही इस कार्य में राज्य को शिक्षा के सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए। अपने देश में जन शिक्षा की योजना तैयार करने के अतिरिक्त और बहुत से कार्य करने हैं लोकतान्त्रिक विचारधारा में समानता का भाव निहित है। यह केवल राजनीतिक विषयों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसकी परिणति जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर भी है। इसके लिए शिक्षा और जीवन

निर्वाह का समान अवसर होना चाहिए और कुल सम्पत्ति तथा अर्थ नीति पर आधारित भेदभावों का उन्मूलन और सामाजिक न्याय का होना भी आवश्यक है। लोकतंत्र का क्षेत्र तब तक विस्तृत होता रहेगा जब तक कि सम्पूर्ण मानव जीवन में यह व्याप्त न हो जाय।

इस दृष्टि से हमारी शिक्षा प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना चाहिए । मानव कल्याण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग प्राप्त करने के लिए एक नये जीवन दर्शन और नए प्रयास की आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि हमारी जन शिक्षा योजना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे जीवन के प्रति स्वस्थ्य, सहिष्णु और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण बन सके, उसमें लोकतान्त्रिक और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो और सामाजिक व्यवहार की नवीन संस्थाओं का निर्माण हो। चूँकि समय-समय पर हमारे मनोभावों और विचारों की पुनर्व्यवस्था आवश्यक है इसीलिए शिक्षा में भी जीवन पर्यन्त प्रगति होनी चाहिए। अंत: साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त राज्य का यह कर्तव्य है कि वह समय-समय पर जनता को महत्वपूर्ण सार्वजनिक समस्याओं की भी शिक्षा दें।

28.6 अध्यापकों का कर्तव्य

इतिहास बताता है कि राष्ट्रीय भावना के निर्माण में पाठशाला का बहुत महत्वपूर्ण भाग रहा है। पाठशाला के द्वारा राष्ट्र के प्रति श्रद्धा की भावना सबल होती रही है। इसके माध्यम से आचार्य नरेन्द्र देव बताना चाहते हैं कि राष्ट्र निर्माण में मुख्य भूमिका नवयुवकों की ही होती है। और नवयुवक का आचरण, व्यक्तित्व आदि उसकी शिक्षा पर निर्भर करता है। शिक्षा देने का मुख्य भार अध्यापकों पर होता है इस तरह अध्यापक उस कुम्हार की तरह है जो कड़ी मेहनत करके देश के लिए नवयुवक रूपी बर्तनों का निर्माण करते हैं। ऐसे में शिक्षकों की जिम्मेदारियाँ और बढ़ जाती हैं जहां समाज विविधता से भरा पड़ा हो अनेक सम्प्रदाय के लोग साथ-साथ निवास करते हों, जातीय , वर्गीय, शैक्षिक आदि असमानताएं व्याप्त हों। इन सब असमानताओं के होते हुए भी शिक्षक बखूबी सभी में समन्वय करके अपनी जिम्मेदारियों को निभाता है ताकि देश की उन्नति हो सके।

आचार्य नरेन्द्र कहते हैं कि यद्यपि हम लोगों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है पर ऐसा प्रतीत होता है मानो अब भी हम लोग पुरानी दुनिया में ही हैं। यह कहते हुए बड़ा खेद होता है कि मुझे देश में अपने चारों ओर वह युवकोचित, उल्लास और साहस का वातावरण नहीं दीखता, जिसके द्वारा एक नवजात राष्ट्र अनुप्राणित होता है। ऐसा लगता है कि अभी हम लोगों में अपने नये जन्म और नयी स्थिति की चेतना नहीं जागी हैं। खेद की बात है कि हम पुरानी विचारधारा में ही पड़े हैं और अपने नये उत्तरदायित्व और कर्तव्यों को ठीक-ठीक नहीं समझ रहे हैं। हम ऐसे समय में हैं जो सतत परिवर्तन का युग है।

यदि हमें इस नयी चुनौती का सामना करना है तो हमें आत्मपरितोष की वृत्ति और बौद्धिक जड़त्व को त्यागकर वर्तमान समस्या को नयी रुचि एवं नये दृष्टिकोण से देखना होगा। इस सम्बन्ध में अध्यापकों का दायित्व सबसे बढ़कर है। हम लोग नवभारत के नागरिक बनने के पात्र नहीं रहेंगे यदि हम अपने को इस स्तर से ऊपर न उठा सके और अपने कर्तव्यों का पालन नैतिकता के साथ न कर सके। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए हमें पहले अपना शिक्षा सिद्धान्त फिर से निर्धारित करना होगा और नये ढंग से शिक्षा पद्धति चलानी होगी। मध्ययुगीन शिक्षा में धनिक वर्ग की प्रधानता थी, अब इस युग की शिक्षा मुख्यत: जनतन्त्रात्मक होगी। यदि हम अपना जीवन क्रम सुखमय और सुव्यवस्थित बनाना चाहते हैं तो हमें शिक्षा सम्बन्धी नवीन सिद्धान्त और जीवन सम्बन्धी नवीन मान्यताएं स्वीकार करनी होंगी। शिक्षा का ध्येय ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में एवं विकास में सहायता पहुंचाना है जिसमें ज्ञान, सहज प्रवृत्तियां और भाव एकीभूत होकर एक सम्पूर्ण जीवन बनें।

आज सामाजिक और आर्थिक संस्थाएं उत्तरोत्तर इतनी पेचीदी होती जा रही है3 कि यदि प्रत्येक नागरिक वर्तमान समस्याओं की ओर अपेक्षित अभिरु चि के साथ ध्यान नहीं देगा तो वह फिर से उसी दासता की स्थिति पर चलने को मजबूर हो जायेगा। ऐसे कठिन परिवेश में अध्यापक वर्ग को नये संसार में बहुत महत्वपूर्ण कर्तव्य पालन करने हैं। उन्हें समाज की बौद्धिक एवं व्यावहारिक समस्याओं के सम्बन्ध में सतर्क और सचेष्ट रहना होगा। विश्वविद्यालय का वह पुराना वातावरण जिसमें केवल बौद्धिक अध्ययन एवं विकास हुआ करता था अब एकदम बदलना होगा। अध्यापक वर्ग को अपनी उदासीनता, विराम, आलस्य और निष्क्रियता का त्याग करना पड़ेगा और देश की राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान में सक्रिय भाग लेना होगा। तथा आगे बढ़कर उसे नये समाज की व्यवस्था में सक्रिय योग देना होगा। उसे यह निर्णय करना होगा कि पुरानी संस्कृति और शिक्षा सिद्धान्त का कितना अंश सुरक्षित रखना है और कितना अंश नि:सार होने के कारण निकाल फेंकना है। इस क्षेत्र में सफल होने के लिए आवश्यक है कि अध्यापक वर्ग में नवीन उददेश्यों और आदर्शों पर दृढ़ विश्वास और आस्था हो और इन्हें प्राप्त करने के लिए वह उत्साह के साथ दृढ़प्रतिज्ञ होकर पूरा प्रयत्न करें।

28.7 अध्यापकों को प्रदत्त सुविधायें एवं अधिकार

अध्यापक वर्ग अपने कर्तव्य और व्रत का पूर्ण परिपालन कर सके, इसके लिए उसका स्तर उन्नत करना होगा और उसकी जीविका की ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त होकर वह एकचित्त हो अपने जीवन कर्तव्य के पालन में लग सके। उसकी अध्ययनगत और बौद्धिक स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखनी होगी और सभी प्रस्तुत विषयों पर अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता उसे देनी होगी। जिससे कि वह छात्रों के समक्ष किसी विषय पर दूसरों के विचार और दृष्टिकोण सत्यता और सच्चाई के साथ रख सके। अध्यापक वर्ग की विचारधारा किसी के द्वारा न दबाई जाये और न कोई अधिकारी या राजनीतिक दल उसे विवश कर उससे अपने विशेष स्वार्थों की सेवा ले। विचारों की स्वतंत्रता नितान्त रूप से आवश्यक है, क्योंकि जब तक अध्यापक और उसके छात्रों के बीच विचारों और भावनाओं का उन्मुक्त आदान-प्रदान नहीं होता तब तक ऐसे सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता जो गतिशील हो।

किन्तु इस प्रकार के सच्चे शिक्षा सिद्धान्तों को चरितार्थ करने में उपयोगी होने के लिए अध्यापक को स्वयं अपने को फिर से शिक्षित करना और उसे जो कार्य तथा व्रत पालन करना है उसके लिए उपकरण एकत्र करके सन्नद्ध होना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा का एक निरन्तर क्रम होना चाहिए। संसार के द्रुतगामी परिवर्तन को देखते हुए हमें भी समय-समय पर अपनी विचार बुद्धि को फिर से उसके साथ मिलाने की आवश्यकता है। अध्यापक अपने आपको सुसंगठित भी करें ताकि वे शिक्षा समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए बारम्बार एकत्र हो सकें। यही उपाय है जिसके द्वारा वे अपने वैध स्वत्वों की रक्षा कर सकते हैं और समाज के सुधार और उन्नयन के क्षेत्र में अपना योगदान कर सकते हैं।

28.8 अध्यापक संगठन का औचित्य

आचार्य नरेन्द्र देव का विचार है कि विभिन्न कोटि की पाठशालाओं और अध्यापकों के संगठन अलग अलग भी हो सकते हैं, परन्तु यह कोई कारण नहीं है कि सभी कोटियों एवं वर्गों के अध्यापक मिलकर अपनी एक राष्ट्रीय संस्थान बनायें। यह आवश्यक है कि सब प्रकार के अध्यापक अपनी एक प्रकार की एकता का अनुभव करें। इस प्रकार वे अध्यापक जो अध्यापकों के क्रम में सबसे नीचे हैं, अपने से बड़े अध्यापकों के सम्पर्क, राय एवं पथ प्रदर्शन से लाभान्वित होंगे और यह अनुभव करेंगे कि सभी अध्यापक मिलकर एक सम्मिलित बिरादरी में शामिल हैं। साथ ही इस प्रकार के सम्पर्क से अध्यापकों के उन्नयन

ौर सुधार कार्य को बल और प्रगति प्राप्त होगी। आज इस भौतिक युग में जब सभी चीजों का निर्धारण ार्थिक मानदण्डों पर होने लगा है ऐसे में अगर बेचारा अध्यापक अपने वेतन में वृद्धि और अपने जीवन तर सुधारने के लिए आन्दोलन करता है तो इसमें वह दोषी नहीं है।

त: अध्यापक समाज की धुरी है, क्योंकि शिक्षा राष्ट्र के पुनर्जीवन की सभी योजनाओं का महत्वपूर्ण ंग है। अतएव सरकार एवं स्थानीय अधिकारी दोनों के लिए उचित है कि ऐसी व्यवस्था करें कि नयी ोजना में अध्यापकवृन्द अपने उचित स्थान एवं स्तर पर आसीन हों। अच्छी से अच्छी ऐसी व्यवस्था रनी चाहिए जिसमें अध्यापक अपनी अध्यापनवृत्ति त्यागकर अच्छे वेतन और जीवन के उत्तम पकरणों की प्राप्ति के लिए अन्यत्र न चले जायें। प्राय: देखा जाता है कि उत्तम से उत्तम अध्यापकों में से ुछ अध्यापक विद्यालय , महाविद्यालयों को छोड़कर आई.ए.एस., पी.सी.एस., इन्जीनियरिंग, मेडिकल ा अन्य सरकारी नौकरियों में चले जाते हैं जिसके कारण राष्ट्र की शिक्षा को बड़ा धक्का पहुँचता है।

8.9 आधुनिकीकरण और शिक्षा

त्येक समाज परिवर्तनशील और गत्यात्मक है अत: समयानुसार उसमें निहित व्यवस्था, मानदण्डों व ूल्यों में भी परिवर्तन अपरिहार्य हो जाता है। इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का भार मुख्यत: शिक्षा ात्मक संस्था पर होता है । आधुनिक विद्यालय, विश्वविद्यालय जीवन की शिक्षा देने में ज्यादा विश्वास हीं रखते जैसा कि पहले की शिक्षा द्वारा होता था। यह इस वजह से था कि पारम्परिक शिक्षा एक स्थिर ौर अपरिवर्तनशील समाज के लिए थी। वह एक ऐसा समाज था जो औद्योगीकरण द्वारा तीव्र परिवर्तन ा सहभागी नही था। दूसरी तरफ आधुनिक समाज बहुत तीव्र और विस्तृत परिवर्तनों से भरा है इस कार के परिवर्तनशील समाज में शिक्षा का उद्देश्य प्रौद्योगिकी विज्ञान और इस प्रकार के दूसरे विशेष ान को आधुनिक ढंग से संचारित संप्रेषित करना है । दूसरे शब्दों में परिवर्तनशील समाज की मांगों को ख़ते हुए शिक्षा पद्धति की अन्तर्वस्तु में तदनुरूप परिवर्तन आवश्यक है।

ाज की शिक्षा, जो पाठशालाओं में गुरुजनों द्वारा प्रदान की जाती थी, से बहुत भिन्न है। विद्यालय में ाद्यार्थी शिक्षा के साथ-साथ शिष्टता , सदाचार अनुशासन आदि भी सीखता था। शिक्षा के विषय और ाकी पद्धति में परिवर्तन के दूरगामी परिलाभ सामने आये हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त विपुल ध्ययन सामग्री ने इस बात को सबसे पहले तो जरूरी बना दिया है कि शास्त्रीय भाषाओं और साहित्य ा अध्ययन अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया जाये या समाप्त ही कर दिया जाये। इसका मतलब विद्यार्थियों के मुदाय का परम्परा और सांस्कृतिक विरासत से अलग होना है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपनी जड़ों कट जायेगा और उसकी सृजनात्मक क्षमता और खासतौर से उसकी भावनात्मक एवं आध्यात्मिक क्षणता पोषण के अभाव में मर जायेगी। यह आधुनिक मनुष्य के लिए एक पहेली है। भरण पोषण के ाए विज्ञान और तकनीकी शिक्षा आवश्यक है परन्तु तकनीकी शिक्षा प्राप्ति को महत्व देने से वह तकाल की समृद्ध परम्परा के भण्डार से वंचित रह जायेगा।

8.10 सारांश

ाचार्य नरेन्द्र देव ने स्वतंत्रता पश्चात् देश में व्याप्त बुराइयों, कमजोरियों आदि को दूर करने के उद्देश्य तथा देश को उन्नति के मार्ग की तरफ चलने के लिए अपने विचार प्रकट किये हैं।

ंसी भी देश की व्यवस्था के अगुआकार व कर्णधार उस देश के नवयुवक ही होते हैं। और ये नवयुवक ब तक अपना सकारात्मक योगदान देश के लिए नहीं दे सकते जब तक वे उचित रूप से शिक्षित न हों

और उनमें सहनशक्ति, कल्पनात्मक, सृजनात्मक क्षमता एकत्व व देश प्रेम की भावना न हो। इस युवा वर्ग को शिक्षित करने का भार विद्यालय नामक संस्था पर होता है जो कि परिवार के बाद दूसरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजीकरण की संस्था है। ऐसे में शिक्षकों की गुणवत्ता, कर्तव्य व उत्तरदायित्व अत्यधिक बढ़ जाता है। शिक्षा का सच्चा ध्येय ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में सहायता पहुंचाना है जिसमें ज्ञान, सहज प्रवृत्तियां और भाव एकीभूत होकर एक सम्पूर्ण जीवन बनें। साथ ही पूर्ण विकसित व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो। इसके लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें अध्यापकगण अपने उचित स्थान और स्तर पर रहते हुए अपने जीवन निर्वाह हेतु उचित पारिश्रमिक प्राप्त कर सकें। शिक्षा और जीवन निर्वाह का समान अवसर होना चाहिये और कुल सम्पत्ति तथा अर्थनीति पर आधारित भेदभावों का उन्मूलन और सामाजिक न्याय का होना भी आवश्यक है, तभी हमें जीवन के प्रति असाम्प्रदायिक और स्वस्थ्य दृष्टि कोण, लोकतांन्त्रिक और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा नवीन लोक कल्याणकारी संस्थाओं के निर्माण का उद्देश्य प्राप्त हो सकेगा।

28.11 बोध प्रश्न

1. आचार्य नरेन्द्र देव की शैक्षिक विचारधारा का संक्षेप में वर्णन कीजिए?
2. देश के नव निर्माण में युवा वर्ग की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
3. क्या धार्मिक शिक्षा, शिक्षा संस्थाओं द्वारा दी जानी चाहिए?
4. अध्यापकों के कर्तव्य व अधिकारों का उल्लेख कीजिए?
5. आधुनिकीकरण व शिक्षा के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए तथा बताइये कि शिक्षा का आधुनिकीकरण कहाँ तक उचित है और कहां तक अनुचित है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र. 1 आचार्य नरेन्द्र देव की धर्म के विषय में मान्यता थी कि —

(अ) सभी धर्म मूलत: एक हैं (ब) सभी धर्मों में असमानता होती है

(स) धार्मिक गुरु अपने धर्म के विषय में पूर्वाग्रही होते हैं। (द) इनमें से कोई नहीं ।

प्र. 2 वास्तविक लोकतंत्र के लिए आवश्यक है—

(अ) व्यावसायिक शिक्षा (ब) साक्षरता (स) जन शिक्षा (द) कोई नहीं।

प्र. 3 मानवीय मूल्य की स्थापना के लिए आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ जरूरी है।

(अ) नैतिक मूल्यों की शिक्षा (ब) मानवीय परम्पराओं की शिक्षा

(स) राजनीकि शिक्षा (द) उपरोक्त सभी ।

प्र. 4 शिक्षा द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया -

(अ) स्थिर है (ब) परिवर्तनशील है (स) दोनों (द) कोई नहीं ।

28.12 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर

1. द 2. स 3. द 4. ब

28.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य नरेन्द्र देव — राष्ट्रीयता व समाजवाद
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

2. डा. अमरेश्वर अवस्थी — आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तक
रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, नई दिल्ली

3. डा. गोविन्द प्रसाद — भारतीय राजनीतिक चिन्तक
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

जय प्रकाश नारायण
न आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई 29 : आचार्य नरेन्द्र की संस्कृति की अवधारणा

29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 संस्कृति का स्वरूप

29.2.1 सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया

29.2.2 सांस्कृतिक नवनिर्माण एवं पुर्नजीवन

29.3 भारतीय संस्कृति

29.3.1 विश्व कुटुम्ब की भावना

29.3.2 धार्मिक आन्दोलनों में एकता के आधार

29.3.3 विविधता में एकता

29.3.4 संस्कृत साहित्य का अवदान

29.4 धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन

29.4.1 धर्म का योगदान

29.4.2 धर्म का दुष्प्रभाव

29.5 सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में समाजवाद

29.5.1 सामाजिक मानवतावाद

29.5.2 श्रम और संस्कृति

29.5.3 भाषायी समाजवाद और समानता

29.5.4 महिला और पुरूषों के बीच समानता

29.5.5 कलाकार – साहित्यकार की भूमिका

29.6 बोध प्रश्न

29.7 प्रश्नों के उत्तर

29.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

29.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :

- संस्कृति के स्वरूप का विवरण कर सकेंगे।
- भारतीय संस्कृति की विशेषता पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- धर्म के योगदान व दुष्प्रभाव की तुलना कर सकेंगे।
- समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में विश्लेषित कर सकेंगे।

.9.1 प्रस्तावना

स्कृति किसी समाज का आईना होती है जिसका स्वरूप भौगोलिक वातावरण एवं प्रौद्योगिक दशाओं निर्मित होता है। हमारी जीवन शैली और संस्कृति भौगोलिक पर्यावरण की अपेक्षा सामाजिक ातावरण और आर्थिक परिस्थितियों से अधिक निर्धारित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ामाजिक उद्भव और सांस्कृतिक प्रगति के बीच निकट का अर्न्तसबंध है। सांस्कृतिक जीवंतता के ाए आवश्यक है कि वह सामाजिक विकास के साथ सहगामी रहे। अगर कोई संस्कृति अपनी गतिशीलता की प्रकृति को छोड़कर सामाजिक परिवर्तन से तादात्म्य नहीं करती तो उसका विलुप्त ाना संभव है।

से समाज में जहां कुछ आधिकाधिक रूप में सांस्कृतिक मूल्य सम्पूर्ण समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं हीं दूसरी ओर बहुतेरे सांस्कृतिक मूल्य विशेष समुदाय, वर्ग के हितों का पोषण करते हैं। ऐसी रिस्थिति में शक्तिशाली वर्ग अपने सांस्कृतिक आदर्शों को थोपने का प्रयास करता है जो उसके ानुकूल हो। परन्तु जैसे जैसे वर्गीय चेतना जाग्रत होती है मानवीय मूल्यों की मांग बढ़ जाती है जो नयी ामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में तादाम्य स्थापित करने में सहायक हो।

:9.2 संस्कृति का स्वरूप

ोकचित्त का प्रतिनिधित्व करने वाले मूल्य ही संस्कृति है। नरेन्द्रदेव जी के अनुसार, ''संस्कृति चित्त को भाषित करती है, सुसंस्कृत बनाती है। वास्तव में संस्कृति चित्त भूमि की खेती है। जीवन और कर्म में त्त की प्रधानता है। चित्त ही जीवन को सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों से सुवासित करता है। नके विचार में ''व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ एक लोक चित्त भी बनता रहता है।'' प्राचीन समय परिवहन एवं संचार सुविधाओं के अभाव में सामाजिक सम्पर्क का भौगोलिक क्षेत्र सीमित था, फिर ी वैचारिक स्तर पर प्राचीन संस्कृतियों मे भी अखिल विश्व के साथ तादाम्य स्थापित करने की प्रबल च्छा एवं मूल्यों का समावेश दिखाई देता है। वर्तमान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास से लोक चित्त ा विस्तार हो रहा है जो राष्ट्रीय परिधि से बाहर निकलकर यथार्थ में विश्व चित्त के रूप में परिवर्तित ो रहा है आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार आज विविध राष्ट्रों का अपना अपना लोक चित्त भी है। किन्तु योंकि आज एक ही प्रकार के आचार विचार सारे विश्व में प्रचलित हो रहे हैं इसलिए कुछ बातों में त्रविध राष्ट्रों के लोक चित्त भी समान हो जाते हैं।

स तरह आचार्य नरेन्द्रदेव प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वथा परित्याग तथा पुनर्जीवन के आंदोलन का त्ररोध किया। वे एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे जिसमें पुरातन सभ्यता के मानवीय ूल्य सुरक्षित रहे तथा साथ साथ सामाजिक दशाओं में बदलाव के अनुसार नवीन मूल्यों का भी ामावेश होता रहे। वास्तव में वे एक प्रगतिशील संस्कृति के स्वप्न द्रष्टा थे जो मानवीय सामाजिक एवं ऐतिहासिक त्रिविध आयामों को अपने में समेटे हुये हैं।

:9.2.1 सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया

ीवन और समाज दोनों की प्रकृति परिवर्तनशील है। विचार और परिस्थितियों की अंतक्रिया से यह रिवर्तन संभव होता है। संस्कृति का उत्कर्ष और अपकर्ष इनके परिवर्तन की प्रकृति पर निर्भर करता । नरेन्द्र देव के अनुसार ''आर्थिक संगठन बदलने से सामाजिक सम्बंध बदलते हैं और नवीन उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं का जन्म होता है। उनकी पूर्ति के लिए नये मूल्यों को स्वीकार करना पड़ता है। ांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया में बहुत से मूल्य दीर्घकालीन हैं जिनकी प्रासंगिकता विभिन्न कालों में

स्पष्ट होती रही है वहीं कुछ दूसरे मूल्य भी हैं जो जनता की आवश्यकता एवं आकांक्षा के अनुसार सृजित होते रहते हैं।''

29.2.2 सांस्कृतिक नवनिर्माण एवं पुनर्जीवन

किसी समाज की संस्कृति का निर्माण अचानक नहीं हो जाता बल्कि यह लम्बे काल की प्रक्रिया का परिणाम होती है। अतएव सांस्कृतिक नवनिर्माण के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृति की उपयोगी धरोहर को सुरक्षित रखते हुए परिस्थितियों के अनुसार नये सामाजिक मूल्यों को अंगीकार किया जाय। आचार्य नरेन्द्र देव का मानना था कि सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गये हैं उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितांत आवश्यक है। उनके विचार में हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण करें, उसके जीवनपूर्ण तत्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामञ्जस्य स्थापित करें । आदान-प्रदान से ही संस्कृतियां पुष्ट और ऐश्वर्यमय हुआ करती हैं। अत: नवीन अथवा पश्चिमी जगत् की उपलब्धियों को निरस्त करना घातक हो सकता है। पूर्व में विकास की परम्परा रही है किन्तु पश्चिमी देशों के लोग जो अथक प्रयास के बाद उन्नत श्रेणी की कतार में शामिल हैं उनकी हम अनदेखी नहीं कर सकते। क्योंकि अब वर्तमान समाज के लिए यह अपरिहार्य बन गया है।

किन्तु इसके विपरीत आचार्य नरेन्द्र देव प्राचीन संस्कृति के समग्र पुनर्जीवन से सहमत नहीं थे। ऐसे अर्वाचीन आन्दोलन को वे समाज के लिए अहितकर मानते थे क्योंकि इससे सामाजिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध होती है एवं मानवता वाद का ह्रास होता है। परोक्ष रूप में यह भूतकालीन आधारित व्यवस्था लोकशक्ति को कमजोर बनाती है।

29.3 भारतीय संस्कृति

नरेन्द्र देव का मत है कि सांस्कृतिक विरासत के इतिहास में भारतीय संस्कृति का विशिष्ट स्थान रहा है। संस्कृति का सबसे बड़ा तत्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। भारत में अनेक उपसंस्कृतियाँ हैं किन्तु उनमें परस्पर सामञ्जस्य है। अनेक प्रकार के धर्म हैं परन्तु उनमें मतभेद की जगह समरसता है।

जीवन के सफल संचालन और स्वस्थ विकास के लिए भारतीय संस्कृति की नैतिक व्यवस्था अद्वितीय है। कर्मफल की अवधारणा के साथ मनुष्य को उत्कृष्ट कार्यों की ओर प्रेरित करने के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय संस्कृति की यह सर्वमान्य कर्ममीमांसा रही है कि कर्मफल की वासना से मुक्त होकर लोकहित में शुभ कर्म करना।

भारतीय संस्कृति प्रगतिशील रही है यही गुण उसकी जीवंतता का प्रमाण है। मिश्र, सुमेरियन आदि संस्कृतियाँ काल चक्र के गर्त में विलुप्त हो गयीं। किन्तु भारतीय संस्कृति आज भी अस्तित्व में है।

29.3.1 विश्व कुटुम्ब की भावना

विश्व को एक परिवार बनाने के समस्त भौतिक एवं तकनीकी साधन मौजूद हैं। परिवहन एवं संचार सुविधा के चलते दुनिया लघु हो गयी है किन्तु संकीर्ण मनोवृत्ति एवं एकदेशीय मानसिकता के चलते संसार को एक बनाने की मुहिम असफल दीख रही है क्योंकि मानवीय हृदय एवं मस्तिष्क अभी उदार होने के लिए तैयार नहीं है। यांत्रिक स्तर पर हम कबीले, धर्म, जाति और राष्ट्र की सीमा से गुजरकर वैश्वीकरण की मुहिम में शामिल हो चुके हैं किन्तु अभी यह एकीकरण भावनात्मक स्तर पर नहीं संभव हुआ है।

ब विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतना विकास नहीं हुआ था तब भी भारतीय संस्कृति सर्वभूतहितरत की ात पर बल देती थी। ईशोपनिषद हमारे मानवीय का मानव दृष्टि से आदर करना सिखाता है। इसमें श, जाति वर्ण और लिंग का विचार नहीं होना चाहिए। इसलिए उपनिषदों में कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ छ नहीं है किन्तु इस शिक्षा को हमने भुला दिया है। इस तीव्रगामी परिवर्तन के दौर में एक व्यवस्थित और सामाजिक दर्शन की आवश्यकता है जिसके आलोक में प्रत्येक समस्या का मूल्यांकन या जा सके। भारतीय संस्कृति में वसुधैव कुटुम्ब का गम्भीर आधार निहित था, जो नैतिक उपदेश ीं था बल्कि यह अनुभूति पर आधारित एक मानवीय अवधारणा है। नये विचार को धारण करने लों को इस साधना की परम आवश्यकता है किन्तु यह वैयक्तिक साधना मात्र नहीं होगी। वैश्विक टुम्ब की भावना को समाज में चरितार्थ करने के लिए सद्विवेक के साथ-साथ साहस एवं प्रयोग की आवश्यकता है।

9.3.2 धार्मिक आंदोलनों में एकता का आधार

टपुट संघर्ष के अलावा भारतीय इतिहास में धार्मिक संघर्ष का अभाव-सा दीखता है। इतिहास के लम्बे मय में भारतीय समाज ने अनेकता में एकता का दर्शन किया है। विंसेंट स्मिथ के शब्दों में "यह ता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि की अगणित विभिन्नताओं के ऊपर ष्ठित है।" वास्तव में हिन्दू धर्म में यह मान्यता नहीं है कि प्रतिपादित मार्ग ही जीवन का एक मात्र ा मार्ग है।" इसमें यह मान्यता प्रचलित है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् सत्य एक है न्तु वहां पहुँचने के लिए मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

चार्य नरेन्द्र देव ने लिखा है कि अपने उदात्त स्वभाव के कारण हिन्दू धर्म भारतीय समाज में एकता सेल करने में सफल हुआ। यह बाह्य प्रतीकों एवं कर्मकाण्डों पर जोर देने के बजाय अंत:करण की ुभूति पर बल देता है। रहस्यवादी साधकों ने आत्मा-परमात्मा विषय पर जिस रहस्यात्मक अनुभूति उदघाटन किया वह मत मतांतरों से ऊपर है जो सच्चाई को सार्वभौमिक रूप से महसूस करते हैं। ान्यत: रहसस्यवादियों का प्रभाव सभी मतों पर पड़ा। बौद्धमत का पूर्वी एशिया एवं एशिया के देशों वेस्तार उदारता एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार के परिणामस्वरूप हुआ। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता का ही णाम था कि यहूदियों पारसियों, ईसाई एवं मुस्लिम अनुयायियों को भी भारत में समान रूप से आश्रय ा।

9.3.3 विविधता में एकता

ार्य नरेन्द्र देव भारतीय संस्कृति के उदात्त पहलू से बेहद प्रभावित थे। उनके अनुसार "हिन्दू धर्म का आदि प्रवर्तक नहीं है और न उसके किसी अनुष्ठान का कृत्य विशेष है जिसे उसके लक्षण के रूप ताया जा सके। इसका कोई एक पवित्र ग्रंथ नहीं है। यही कारण है कि उसकी व्याख्या नहीं हो ती। नरेन्द्र देव जी इसे भारतीय धर्म कहना अधिक पसंद करते थे। सम्प्रदाय न होने के कारण हिन्दू किसी एक व्यक्ति या पैगम्बर को गुरु नहीं मानता। दूसरे सम्प्रदायों के गुरुओं को अपनाने में इसे क नहीं होता। भगवान बुद्ध को अवतार माना तो वह सूफी फकीरों को भी मानता है। राजनीतिक ण न उत्पन्न हो गये होते तो संभवत: भारत में सामाजिक सौहार्दता की मिसाल अलग होती।

ीय धर्म से अनेक पंथ पैदा हुए किन्तु जनता ने सभी का आदर किया। उनके गुरुओं को भी मान्यता और इस प्रकार भारतीय धर्म से अलग हुए धर्म पुन: अपने धर्म के दायरे में आ गये। बौद्ध, जैन, सिक्ख ो आदि पंथ आज भी हिन्दू संस्कृति के घटक के रूप में एकत्व को व्यक्त करते हैं।

ार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में एकत्व की इसी बुद्धि ने योग द्वारा ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी मिलाया और एक लक्ष्य पर पहुंचाया। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, जैन

दर्शन सभी योग द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति बताते हैं। इस सामंजस्यवादी प्रवृत्ति के कारण ही धर्म के नाम पर यहां बहुत कम रक्तपात हुआ। आचार्य जी के अनुसार यह जन जागरण का युग है। सब अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे युग में जब तक एकता के नये साधन नहीं निकाले जायेंगे विद्रोह की संभावना बनी रहेगी। आरंभ में मुस्लिम धर्मावलम्बियों ने भारतीय समाज के साथ अमानुषिक व्यवहार किया किन्तु कालांतर में उन्हें महसूस हुआ कि सामाजिक आधार के निर्माण के बिना यहां स्थायी शासन व्यवस्था स्थापित करना संभव नहीं है। फलत:यहीं से एकता एवं सामंजस्य की प्रक्रिया मुस्लिम धर्म में भी समाविष्ट हो गयी। सभी धर्मों के प्रति सद्भावना रखने के कारण सम्राट् अकबर दोनों सम्प्रदाय के लिए आदर्श बन गया।

मध्य युग में साम्प्रदायिक एकता के लिए ऐतिहासिक काम हुआ। सूफियों, संतों, मुसलमान फकीरों तथा हिन्दू महात्माओं द्वारा धार्मिक एकता के आंदोलनों को प्रेरणा प्राप्त होती थी। ये सभी उदार स्वभाव के थे। वे इस्लाम धर्म से प्रभावित थे किन्तु अपने जागरण अभियान में वेदान्त और एकेश्वरवादी अवधारणा का प्रयोग करते थे। फलत: दोनों सम्प्रदाय के लोग उनके अनुयायी थे। ये न मूर्तिपूजा को मानते थे और न ही कुरान को मानते थे। इसके साथ ही साथ ये दोनों धर्मों में निहित अंधविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। इन आन्दोलनकर्ताओं में से कबीर और नानक जैसे व्यक्तियों के दोनों सम्प्रदायों के लोग अनुयायी बन गये। इन धार्मिक आंदोलनों का जनता के मन मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा तथा दोनों समुदायों के बीच एकता स्थापित करने में अद्भुत सफलता मिली।

भारत में अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के बाद भारतीय समाज का सम्पर्क पाश्चात्य विचारों से हुआ। अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव, परम्परागत आर्थिक धन्धों के लोप के फलस्वरूप भारतीय युवक वैज्ञानिक सोच के पीछे भागने लगे। इसके परिणामस्वरूप 19वीं एवं बीसवीं सदी के आरम्भ में अनेक समाज सुधार सम्बन्धी आंदोलन हुए जिसमें आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि सुधारवादी आंदोलनों से धर्म में व्याप्त अंधविश्वास एवं कुप्रथाओं के उन्मूलन में सहायता मिली। किन्तु आजाद भारत में दलगत राजनीति के चलते क्षुद्र राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग शुरू किया और फिर शुरू हुआ भारतीय समाज में व्याप्त एकता के आधार को कमजोर करने का सिलसिला जो निश्चित ही अशुभ संकेत है।

29.3.4 संस्कृत साहित्य का योगदान

भारतीय संस्कृति के उत्थान में संस्कृत भाषा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यही नहीं संस्कृत संसार की सबसे प्राचीन आर्य भाषा है जिसके विशद वाङ्मय आज भी पुरातत्व संग्रहालय एवं विशिष्ट पुस्तकालयों में सुरक्षित रखे गये हैं। ये साहित्य हमारी संस्कृति की मूलभित्ति हैं। ऋग्वेद हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसी तरह रामायण और महाभारत संसार के अनुपम और बेजोड़ काव्य हैं। महाभारत वेद के समान पवित्र ग्रन्थ माना जाता है जो जीवन से संबंधित सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक समस्याओं का सार्वभौमिक समाधान प्रस्तुत करता है। यह न केवल प्राचीन भारतीय समाज की जीवनशैली को प्रतिबिम्बित करता है बल्कि आधुनिक समय में भी भारतीय समाज का समय-समय पर मार्गदर्शन करता है।

उपनिषदों की विचारधारा और साधना संसार के अलभ्य रत्नों में से है। भारत में जिन विशिष्ट विचार धाराओं न जन्म लिया है उन सबका मूल स्थान उपनिषदों में है। उपनिषद् प्रभात के प्रकाश और पर्वतों की शुद्ध वायु के समान हैं। जिस प्रकार जब हिमानी से पुण्यसालिला भगवती भागीरथी उद्गत होकर पर्वतमाला में घूमती हुई प्रवाहित होती है तब उसमें स्नान करने से बाह्य और आभ्यन्तर की विशुद्धि होती है।

आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार ''एक समय था जब संस्कृति का विशाल क्षेत्र था। मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपों तक संस्कृत का अखण्ड राज्य था। उस समय विभिन्न सम्प्रदाय के लोग संस्कृत भाषा की व्यापकता के फलस्वरूप सामाजिक एकत्व प्रस्फुटित हुआ।

29.4 धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रभाव के चलते सामाजिक चुनौतियों से निपटने के लिए धर्म समर्थ नहीं रह सका है। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार ''अब किसी समन्वय युक्त धर्म से काम नहीं चलेगा, चाहे वह कितना ही प्रबुद्ध और वैज्ञानिक क्यों न हो।'' वे जीवनोत्कर्ष एवं सामाजिक विकास के लिए सतत प्रयत्न आवश्यक समझते थे। उनके विचार में समाज के प्रश्न धर्म के दामन में छिपाने से नहीं हल हो सकते हैं। राष्ट्रीय भावना तथा जनतंत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप को रोकना ही होगा तथा जीवनोत्कर्ष और सामाजिक विकास के लिए धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और नैतिकता को विकसित करना होगा।''

मनुष्य केवल तर्क से नहीं जी सकता, उसे विश्वास की आवश्यकता होती है। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार यह विश्वास धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए। ऐसा विश्वास ही समाज में व्याप्त साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का निराकरण कर परस्पर सौहार्द स्थापित करने में मददगार हो सकता है।'' आध्यात्मिक चेतना के विकास में भी धर्म निरपेक्ष चेतना महत्वपूर्ण रूप से सहायक हो सकती है। इतना ही नहीं, विश्वास के बल पर विज्ञान को मानवीय एवं रचनात्मक बनाया जा सकता है । नैतिक एवं मानवीय मूल्यों को जीवन में समाविष्ट करने के लिए प्रेरणा की जरूरत होती है जिसे सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से प्राप्त किया जा सकता है। जांत पांत एवं धर्म जैसी दीवारों को तोड़ा जा सकता है बशर्ते कि धर्म निरपेक्ष चेतना के प्रति असीम विश्वास मन में हो।

29.4.1 धर्म का योगदान

आचार्य नरेन्द्र समाजवादी चिन्तक होते हुए भी सामाजिक निर्माण में धर्म की उदात्त भूमिका के महत्व को स्वीकार करते हैं। आकाशवाणी वार्ता में उन्होंने यह स्वीकार किया कि ''संकुचित साम्प्रदायिक भावनाओं और कृतियों से प्रभावित होते हुए भी विशाल हिन्दू धर्म कुछ विशिष्ट उदार धार्मिक भावनाओं और मान्यताओं अनुप्राणित है जिसके कारण वह किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नहीं मानता है।'' हिन्दू धर्म की इस उदारता के चलते ही भारतीय समाज में व्याप्त विविधता के बीच एकत्व का दर्शन संभव हुआ। जो रंग,भाषा वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि की अगणित भिन्नताओं के ऊपर है। इसके अलावा आचार्य का मानना था कि लम्बे समय के बाद मध्य युग में साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए मुसलमान सूफी संत एवं हिन्दू साधु संतों ने महत्वपूर्ण काम किया जिसमें धार्मिक चेतना को व्यवहारिक रूप देते हुए नैतिक शुद्धता और सच्ची भक्ति पर बल दिया गया। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार ''धर्मों में निहित अन्ध विश्वासों का तथा जांत-पांत का खण्डन कर छोटी-बड़ी सभी जातियों के लिए मुक्ति का मार्ग खोल कर जनसाधारण के जीवन को ऊँचा उठाया तथा धार्मिक आधार पर दोनों सम्प्रदायों को एक मंच पर लाने में सफल हुए।''

29.4.2 धर्म का दुष्प्रभाव

धर्म जब गतिशील चेतना के रूप में जीवन से जुड़ा होता है तो वह कल्याणकारी एवं समाजोपयोगी होता है किन्तु जब धर्म में जड़ता आ जाती है तो वह अकल्याणकारी एवं कट्टर हो जाता है। इसके फलस्वरूप धर्म पर आश्रित समाज भी जड़ और निश्चेष्ट हो जाता है। आचार्य नरेन्द्र देव धर्म की

ऐतिहासिक देन को स्वीकार करते हुए कहते हैं धर्म आज रूढ़ियों एवं स्थिर स्वार्थों का समर्थक बन गया है। वह वर्ग वैषम्य तथा शोषण से ग्रसित समाज को अपने प्रचलित रूप में अखण्ड रखना चाहता हैं। वह उस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का पोषक और समर्थक है जिसमें मनुष्य अपनी पूरी ऊँचाई तक नहीं पहुंच सकता।

यद्यपि नरेन्द्र देव निष्काम कर्म तथा बसुधैव कुटुम्बकम् की भावना एवं बौद्ध धर्म की कल्याणकारी दृष्टि, मानवतावादी संप्रेषण एवं सेवा के लिए प्रेरित करते हैं किन्तु समान्यत: अध्यात्मवादी विचारों और कल्पनाओं को मानव जीवन एवं सामाजिक विकास में बाधक समझते थे। धर्म के इस तरह के दृष्टिकोण जो जगत को माया, मिथ्या बताकर निराशावादी दर्शन की प्रेरणा पैदा करते हैं, उनका विचार था कि इस तरह के विचारों से सामाजिक विकास अवरुद्ध होता है।

29.5 सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में समाजवाद

आचार्य नरेन्द्र देव की समाजवादी विचारधारा केवल आर्थिक विषय पर ही अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करती बल्कि सांस्कृतिक आंदोलन के माध्यम से भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उर्वरा भूमि बनाने पर बल देती है। मनुष्य में जो कुछ भी सामाजिक है, संस्कृति उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। सांस्कृतिक धरोहर अतीत के मानव प्रयासों की सामूहिक उपलब्धि है। सांस्कृति का ताना बाना एक जीवन शैली है जो एक निश्चित आर्थिक पर्यावरण एवं सामाजिक अवस्थाओं से निर्मित होती है।

वर्गीय चेतना के विकास के साथ-साथ दबे हुए एवं शोषित लोग पुरातन सांस्कृतिक ताने बाने में बदलाव के लिए संघर्ष करते हैं ताकि उनके हितों को सामाजिक व्यवस्था में नजरंदाज न किया जाय। जब भौतिक अवस्था में परिवर्तन के अनुरूप सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में यह सामाजिक विकास के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

इस सांस्कृतिक टकराहट के परिणामस्वरूप स्थिरवादी सोच वाले लोग पुरानी संस्कृति को बनाये रखने पर जोर देते हैं। इससे सामाजिक जीवन में ठहराव पैदा होता है। अतएव यह सांस्कृतिक द्वन्द्व समाज में तब तक चलता रहता है जब तक सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण न हो जाय।

समाजवादी विचारधारा संयुक्त संस्कृति के तौर तरीकों का विरोध करती है क्योंकि यह समाज को नीचे से लेकर ऊपर तक कई वर्गों में बांटती है। इस अवस्था में शोषण मुक्त वर्ग विहीन, समाज के निर्माण के लिए अनुकूल अवसर नहीं मिलता। जबकि प्रगतिशील विचारधारा के रूप में समाजवादी विचारधारा भारतीय संस्कृति के उदात्त पक्ष एवं पश्चिमी संस्कृति के लोकतांत्रिक मूल्यों के समन्वित प्रयोग पर जोर देती है। सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में समाजवाद को बिन्दुवार निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

29.5.1 सामाजिक मानवतावाद

सामाजिक मानवतावाद ही भारत में समाजवादी संस्कृति का आधार होना चाहिये। सामाजिक मानवतावाद रूप और अभिव्यक्ति की एकरूपता पर बल न देकर विविधताओं में समानता चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक स्वायत्तता एवं समानता की सुरक्षा होगी। उसे स्वतंत्र रूप से धर्म ग्रहण करने एवं प्रचार करने का अधिकार होगा। किसी भी धर्म एवं साहित्य का अध्ययन करने, शैक्षिक संस्थाएँ और सांस्कृतिक संगठन बनाने का समान अधिकार होगा। अल्पसंख्य या बहुसंख्यक सभी के साथ भाषा, धर्म या समुदाय के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। अल्पसंख्यकों के बच्चों को उन्हीं की भाषा में मौलिक शिक्षा प्रदान करने के लिए सुविधा दी जायेगी लेकिन अल्पसंख्यकों के बच्चों को राष्ट्रभाषा और संबंधित प्रांत की कामकाज की भाषा पढ़नी होगी ताकि वे एक नागरिक के रूप में अपनी रचनात्मक भूमिका अदा कर सकें।

9.5.2 श्रम और संस्कृति

समाजवादी संस्कृति के आंदोलन का मौलिक सिद्धान्त श्रम आधारित है। यह मानव व्यक्तित्व का मूल्यांकन मानव श्रम के आधार पर करता है। इस तरह की संस्कृति पूरे समाज में अनुकरणीय होनी चाहिए। अपने व्यक्तित्व के विकास करने और मानव की सांस्कृतिक धरोहर से लाभ उठाने के लिए जनसामान्य को पर्याप्त सुविधायं दी जानी चाहिए। इसके लिए निजीकरण की जगह राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया शुरू की जानी चाहिए क्योंकि निजीकरण की प्रकृति पूँजी प्रधान होती है जो कार्यकर्ताओं या श्रमिकों की सुविधाओं एवं अधिकार का हनन करती है। इसलिए समान रूप से भौतिक एवं सांस्कृतिक सुविधाएं ग्रामीण जनता को मिलनी चाहिए। शहरी और ग्रामीण भारत का वास्तविक सांस्कृतिक अन्तर दूर करना समाजवादी आंदोलन का दूसरा प्रमुख उद्देश्य है। इसके लिए इन पर संस्कृति का ताना बाना बाहर से थोपने के बजाय उनकी स्थानीय आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार विकसित किया जाना चाहिए ताकि उनका शोषण और अतिक्रमण न हो।

9.5.3 भाषायी समाजवाद और समानता

भाषायी आधार पर भारतीय समाज एक बहुभाषा भाषी समाज है। समाजवादी विचारधारा इस आधार पर समुदायों के अलगाव की निन्दा करती है साथ ही किसी भी भाषायी समुदाय को बड़ा-छोटा मानने से इंकार करती है। भाषायी समाजवाद सब बराबरी के आधार पर राष्ट्रीय एकता का समर्थन करते हैं। श्रेष्ठता एवं लघुता का दावा करना लोकतांत्रिक प्रणाली को नकारना और समानता को छीनना है विशेष रूप से भारत में जहां अलग-अलग प्रान्तों में विभिन्न भाषाओं का प्रचलन है राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सभी भाषाओं को समान महत्व देना आवश्यक है। फिर भी आचार्य नरेन्द्र देव ने भारतीय जनता की प्रगति और सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा देने के लिए हिन्दी भाषा को भारत की सामान्य राष्ट्रीय भाषा के रूप स्थापित करने की वकालत की ताकि विभिन्न भाषाओं के बीच संस्कृति का ताना बाना सुदृढ़ बनाने में मदद मिले।

9.5.4 महिलाओं और पुरूषों के बीच समानता

लोकतांत्रिक समाजवाद महिलाओं और पुरुषों की समानता स्थापित करने की तात्कालिक आवश्यकता या औचित्य पर जोर देता है। समाज की आधी आबादी का पिछड़ापन प्रगति का सबसे बड़ा अवरोधक है। इसलिए समाजवाद महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर प्रदान करने एवं राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक सभी क्षेत्रों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित कराने पर जोर देता है। मातृत्व को उचित दर्जा देते हुए जच्चा-बच्चा के कल्याण को परिवार और समुदाय का संयुक्त दायित्व मानता है और यह प्रयास करता है कि महिलाओं को शिक्षा पाने तथा सांस्कृतिक भागीदारी में समान अवसर उपलब्ध हैं।

9.5.5 कलाकार-साहित्यकार की भूमिका

कलाकार और साहित्यकार दोनों ही सृजनकर्ता हैं। ये जीव-जगत के तीन आदर्श सत्य, शिव और सुन्दर से प्रेरित होंगे। ये दोनों सत्य का समर्थन करते हुए लोक कल्याण के लिए अपनी रचनाओं को मूर्त रूप देंगे, जो मानव जाति मात्र को प्रसन्नता एवं आनन्द से भर दें। इस आदर्शवाद एवं मूल्य सृजन के अलावा दोनों ही वर्ग संघर्ष, शोषण और दमन से मुक्त सामाजिक प्रणाली में सामाजिक शक्तियों और रचनाओं के सामंजस्यीकरण से सामंजस्य स्थापित करने पर जोर देंगे। सत्य शिव सुन्दर तीनों ही सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में समुच्चय के रुप में व्यक्त होंगे। रचना की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए तीनों के बीच समन्वय आवश्यक है।

भारतीय कला की प्रकृति बहुधा प्रतीकात्मक होती है किन्तु इसके साथ ही वह मानव मूल्यों, स्वतंत्र समाज की सामाजिक धारणाओं, सामाजिक आकांक्षाओं की संवेदना को भी अभिव्यक्त करेगी जो सामाजिक अन्याय और स्वयं अपनी बुरी प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक जागरण बोध होगा। सांस्कृतिक

एकीकरण में कलाकार-साहित्यकार की प्रमुख भूमिका होगी। कलाभिव्यक्ति एवं साहित्य के माध्यम से जनजागरण अभियान समाजवादी आंदोलन के उद्देश्यों को हासिल करने में अत्यंत मददगार होंगे। इस औचित्य के रूप में ही साहित्य एवं कला समाज के दर्पण के रूप में उपयोगी सिद्ध होंगे।

29.6 सारांश

जीवन और समाज के निर्माण में समाजवादी विचारों ने जहाँ आर्थिक पहलू को विशेष महत्व दिया वहीं आचार्य नरेन्द्र देव ने समाज में समाजवादी संस्कृति की स्थापना के लिए भारतीय संस्कृति के उदात्त पक्ष को भी शामिल कर एक समन्वित विचार प्रस्तुत किया। उनके विचार में अपनी संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसमें निहित जीवनपूर्ण तत्वों की सुरक्षा कर आधुनिक विचारों के साथ सामंजस्य ही सही अर्थों में समाजवादी संस्कृति का उद्देश्य है। उनका मानना था कि भारतीय संस्कृति कुछ नकारात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद एक प्रगतिशील संस्कृति रही है जिसने बहुत पहले ही हमें "वैश्विक कुटुम्ब" की अवधारणा का पाठ पढ़ाया जो आज के यांत्रिक वैश्वीकरण की अवधारणा से भिन्न भावनात्मक आधार पर मानव जाति को एक कुटुम्ब में शामिल होने की शिक्षा देता है। विभिन्न धर्मों, जातियों का अजायब घर कहा जाने वाला भारतीय समाज भिन्नता के बावजूद एकता के मूल मंत्र को सहर्ष जीवन में धारण किए हैं और यही कारण था कि यहां यहूदी पारसी, ईसाई, मुस्लिम भी हिन्द-धर्म के साथ सहज ही घुल-मिल गये। भारतीय धर्म में अनेक पंथ पैदा हुए किन्तु जनता ने सभी को सम्मान दिया और इस सामंजस्य के कारण ही दुनिया के अन्य समाजों की तुलना में यहां कम रक्तपात हुआ। भारतीय संस्कृति के उत्थान में संस्कृत साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा। ऋग्वेद, उपनिषद्, महाभारत, और रामायण जैसी कृतियों ने केवल भारतीय जनमानस पर अपनी छाप छोड़ी बल्कि विश्व के पाठक गण भी इन साहित्यों के प्रति आकर्षित होने का मोह संवरण नहीं कर सके। समाजवादी विचारधारा केवल आर्थिक विषय पर ही अपना ध्यान केन्द्रीत न कर, सांस्कृतिक आंदोलन के माध्यम से भी सामाजिक परिवर्तन पर जो दिया। सामाजिक मानवतावाद, शिक्षा के समान अवसर, पुरुष-महिला समानता, भाषायी समाजवाद, श्रम संस्कृति के विकास आदि पहलूओं को शामिल कर समाजवादी भूमिका में सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

29.7 बोध प्रश्न

प्र०-1 सांस्कृतिक नव निर्माण एवं पुनर्जीवन से क्या समझते हैं?

प्र०-2 आचार्य नरेन्द्र देव किन विशेषताओं के कारण भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील संस्कृति मानते हैं?

प्र०-3 किस तरह से धर्म सामाजिक विकास के लिए सहायक एवं बाधक दोनों हैं ?

प्र०-4 सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में समाजवाद की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र०-1 सामाजिक सम्बंध बदलते हैं —

(अ) आर्थिक सम्बंध बदलने से (ब) राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन से

(स) प्राचीन संस्कृति के प्रयोग से (द) कोई नहीं

प्र०-2 'विविधिता में एकता' की अभिव्यक्ति होती है—

(अ) हिन्दू धर्म में (ब) इसाई धर्म में

(स) इस्लाम धर्म में (स) यहुदी धर्म में

प्र०–3 धर्म समाज के लिए कब बाधक हो जाता है ?

(अ) गतिशील होने पर (ब) स्थिर होने पर

(स) प्रतिस्पर्धा होने पर (द) प्रयार करने से

29.8 प्रश्नों के उत्तर

उत्तर— 1-(अ), 2- (अ) 3-(ब)

29.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1) आचार्य नरेन्द्र देव — राष्ट्रीयता व समाजवाद

2) डा० अमरेश्वर अवस्थी — आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तक रिचर्य पब्लिकेशन, जयपुर नई दिल्ली।

3) डा० गोविन्द प्रसाद — भारतीय राजनीतिक चिन्तक मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।

NOTES